चतुरसेन गुप्त
प्रबन्धक
महाभारत कार्यालय



मुद्रक:—
पं० काशीप्रसाद वाजपेई
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स बाज़ार सीताराम
दिल्ली।

आवश्यक सूचना

पाठकों की सेवा में व्याकुलता के साथ सूचित किया जाता है कि युद्ध के कारण कागज की मँहगी बहुत हो गई है। जो कागज ६) रिम का भाव था, वह आज २०) रिम के भाव हो गया। इस पर भी यह मुसीबत है, कि वह भी एक, दो रिम ही मिल पाते हैं। किसी भाव पर भी पर्याप्त कागज नहीं मिल सकता। इस दशा में हम इससे बड़ी यह कापी नहीं दे सकते।

आशा तो यह है, कि हम अगली कापी इससे बड़ी देंगे। परन्तु परिस्थिति के देखते हुए यह भी कहना कठिन है, कि हम अगली कापी कब और कैसी दे सकेंगे।

आपके प्रेम और परिश्रम को देखकर परमात्मा सहायता करेगा और अगली प्रति शीघ्र ही अच्छे रूप में आपके पास पहुँच जावेगी।

निवेदक—

गङ्गाप्रसाद शास्त्री

१६वें भाग की विषय सूची



श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम् ।

महाभारत

सोलहवाँ भाग

छब्बीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—अस्मिन्नेव प्रकरणे धनञ्जयमुदारधीः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इसी वार्तालाप के प्रकरण में उदार बुद्धिधारी राजा युधिष्ठिर, धनञ्जय-अर्जुन से यह युक्तिपूर्ण वचन बोले ॥१॥

यदेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा ॥२॥

हे अर्जुन ! जो तुम यह मानते हो, कि ऐश्वर्य ही सर्वश्रेष्ठ है। धन से अधिक कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है तथा निर्धन को न तो स्वर्ग मिलेगा, न सुख मिल सकेगा और न उसका कोई प्रयोजन ही सिद्ध होगा—यह मिथ्या बात है ॥२॥

स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः ।
तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः ॥ ३ ॥

बहुत से मुनि देखे गए हैं, जो केवल वेद के स्वाध्याय को ही करते रहे हैं और बहुत से मुनि तप में निरत रहते हैं। उनको भी सनातन लोकों की प्राप्ति देखी गई है ॥३॥

ऋषीणां समयं शश्वद्ये रक्षन्ति धनञ्जय ।
आश्रिताः सर्वधर्मज्ञा देवास्तान्ब्राह्मणान्विदुः ॥ ४ ॥

हे धनञ्जय ! जो मनुष्य, ऋषियों की परिपाटी की रक्षा करते हैं, सब धर्म के जानने वाले ज्ञानी देवता उन ही मनुष्यों को सच्चा ब्राह्मण मानते हैं ॥४॥

स्वाध्यायनिष्ठान् हि ऋषीन् ज्ञाननिष्ठांस्तथाऽपरान् ।
बुद्ध्येथाः संततं चापि धर्मनिष्ठान् धनञ्जय ॥ ५ ॥

हे धनञ्जय ! कुछ ऋषि स्वाध्यायनिष्ठ और कुछ ज्ञाननिष्ठ होते हैं। तुम को सर्वथा धर्मनिष्ठ इन मुनियों पर विश्वास करना चाहिए ॥५॥

ज्ञाननिष्ठेषु कार्याणि प्रतिष्ठाप्यानि पाण्डव ।
वैखानसानां वचनं यथा नो विदितं प्रभो ॥ ६ ॥

हे पाण्डव ! तुम अपने कर्मों को ज्ञाननिष्ठ मुनियों के अनुसार चलाओ। हे प्रभो ! वैखानस ऋषियों ने जो वचन कहा है—वह हमको इस तरह विदित है ॥६॥

अजाश्च पृश्नयश्चैव सिकताश्चैव भारत।
अरुणाः केतवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ ७ ॥

हे भारत! अज, पृश्नि, सिकत, अरुण और केतु आदि वानप्रस्थी मुनि, वेद के स्वाध्याय से ही स्वर्ग पहुँच गए ॥७॥

अवाप्यैतानि कर्माणि वेदोक्तानि धनञ्जय।
दानमध्ययनं यज्ञो निग्रहश्चैव दुर्ग्रहः ॥ ८ ॥
दक्षिणेन च पन्थानमर्यम्णो ये दिवं गताः।
एतान् क्रियावतां लोकानुक्तवान्पूर्वमप्यहम् ॥ ९ ॥

हे धनञ्जय ! इन वेदोक्त कर्मों को प्राप्त करके दान, अध्ययन और इन्द्रियनिग्रह करना चाहिए, जो बड़ा ही कठिन है ! ऋषि सूर्य के दक्षिण मार्ग से स्वर्ग में पहुंचते हैं। यज्ञ आदि क्रिया करने वाले ऋषियों के इन लोकों की हमने तुमसे पूर्व में भी चर्चा कर दी है ॥८-९॥

उत्तरेण तु पन्थानं नियमाद्यं प्रपश्यसि।
एते योगवतां लोका भान्ति पार्थ सनातनाः ॥ १० ॥
तत्रोत्तरां गतिं पार्थ प्रशंसन्ति पुराविदः।

हे पार्थ ! योग के नियमों से जिस उत्तरमार्ग (देवयान) का दर्शन होता है, वे योगियों के सनातन लोक माने गए हैं, जो

सर्वदा प्रकाशित रहते हैं। हे अर्जुन ! पूर्व काल के मुनि लोग उत्तरगति की ही प्रशंसा करते हैं ॥१०॥

सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् ॥ ११ ॥
तुष्टेर्न किञ्चित्परमं सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ।
विनीतक्रोधहर्षस्य सततं सिद्धिरुत्तमा ॥ १२ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां गीतां ययातिना ।

सन्तोष ही उत्कृष्ट स्वर्ग और सन्तोष ही परम सुख है। सन्तोष से अधिक कोई वस्तु नहीं है। यह सन्तोष ही पुरुष को शान्तिदायक होकर स्थित होता है। क्रोध, हर्ष से रहित पुरुषों को सदा इस सन्तोष से ही सिद्धि मिलती है। ययाति ने इस विषय में जो गाथा गाई है, वह मैं तुमको सुनाता हूं ॥११-१२॥

योऽभिप्रेत्याहरेत्कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥ १३ ॥
यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १४ ॥

जो मनुष्य, ज्ञानपूर्वक अपनी कामनाओं को इस तरह सिकोड़ लेता है, जैसे कछुआ अपने अङ्गों को सिकोड़ता है। जब यह किसी से भय नहीं मानता है और न इससे कोई डरते हैं। जब इसकी न तो कोई इच्छा रहती है और न किसी बात से द्वेष करता है—तब वह ब्रह्म बन जाता है॥१३-१४॥

यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १५ ॥

जब मुमुक्षुजन किसी भी प्राणी में कर्म, मन और वाणी से पाप की भावना नहीं करता-तब वह ब्रह्मरूप हो जाता है ॥१५॥

विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः ।
तदाऽऽत्मज्योतिषः साधोर्निर्वाणमुपपद्यते ॥ १६ ॥

जिसके मान मोह जाते रहे, जो विषयासक्ति से पृथक् रहता है, उस महात्मा के हृदय में आत्मज्योति का प्रकाश हो जाता है और वह निर्वाण को प्राप्त होता है ॥१६॥

इदं तु शृणु मे पार्थ ब्रुवतः संयतेन्द्रिय ।
धर्ममन्ये वृत्तमन्ये धनमीहन्ति चापरे ॥ १७ ॥

हे पार्थ ! तुम इन्द्रियों को नियम में रखकर मेरी बात सुनो, कि कुछ लोग, धर्म, कुछ सदाचार और यज्ञादिक सम्पादन के निमित्त धन की अभिलाषा करते रहते हैं ॥१७॥

धर्महेतोर्य ईहेत तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान्दोषो हि वित्तस्य यश्च धर्मस्तदाश्रयः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य धर्म के करने के निमित्त धन की इच्छा करता है, उसका तो धन के चक्कर में नहीं फंसना ही अच्छा है। धन के उपार्जन में बड़े ही दोष हैं, उनके आश्रय से किए गए धर्म-कार्य भी दूषित ही होंगे ॥१८॥

प्रत्यक्षमनुपश्यामि त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ।
वर्जनं वर्जनीयानामीहमानेन दुष्करम् ॥१९॥

मैं तो धन के उपार्जन में प्रत्यक्ष दोष देख रहा हूँ। तुमको

भी इस पर सूक्ष्म दृष्टि डालनी चाहिए। जो कामना के चक्कर में पड़ गया, वह अनुचित त्याज्य मार्गों के छोड़ने में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता है ॥१६॥

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम् ।
द्रुह्यतः प्रैति तत्प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम् ॥ २० ॥

जो धन को प्राप्त कर लेते हैं, उनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। जब अन्य का भाग छिन जाता है, तब ही प्रायः धन की प्राप्ति होती है। जिससे अनेक धर्म विरोधी कर्मों की समय २ पर प्राप्ति होती है ॥२०॥

यस्तु संभिन्नवृत्तः स्याद्वीतशोकभयो नरः ।
अल्पेन तृषितो द्रुह्यन् भ्रूणहत्यां न बुध्यते ॥ २१ ॥

जो मनुष्य, शोक भय को छोड़कर अपने धर्म-युक्त उत्तम व्यवहार को भी छोड़ देता है, वह थोड़े से के लिए तृषा में लिपट कर अन्य से द्रोह करने लगता है। उसको उसकी भ्रूणहत्या (महान् पाप) का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है ॥२१॥

दुष्यन्त्याददतो भृत्या नित्यं दस्युभयादिव ।
दुर्लभं च धनं प्राप्य भृशं दत्वाऽनुतप्यते ॥ २२ ॥

अधिक लोभी स्वामी के सेवक, उससे इतना भय मानते हैं, जैसे कोई लुटेरों से डरता है। जब मनुष्य, इस दुर्लभ धन को कठिनाई से पाता है, तो व्यय करने योग्य कार्यों में भी उसका व्यय करने से उसे अनुताप होता है ॥२२॥

अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी ।
देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत् ॥ २३ ॥

जिस पुरुष के पास धन नहीं है, उसकी कोई किसी भी कार्य में क्यों निन्दा करेगा। वह तो सब बन्धनों से मुक्त और सब तरह सुखी ही समझना चाहिए। जैसे मनुष्य, देवद्रव्य का अपहरण करके सुखी नहीं होता-ऐसे ही द्रव्य मात्र के संग्रह में सुख की मात्रा खोजना केवल भूल है ॥२३॥

तत्र गाथां यज्ञगीतां कीर्तयन्ति पुराविदः ।
त्रयीमुपाश्रितां लोके यज्ञसंस्तरकारिकाम् ॥ २४ ॥

पूर्वकाल के विद्वानों ने यज्ञ के विषय में जो गाथा गाई है, जिसका आधार वेदत्रयी है और जिससे यज्ञ का विस्तार होता है, मैं तुमको वह सुनाता हूं ॥२४॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं धनं न कामाय हितं प्रशस्तम् ॥

हे धनञ्जय ! यज्ञ के लिए विधाता ने धनों की रचना की थी। यज्ञ की रक्षा के निमित्त ही पुरुष को बनाया। इस कारण से सारे द्रव्यों का उपयोग यज्ञ के लिये करना चाहिए। इनको अपने भोग विलास में लगाना उचित नहीं है ॥२५॥

एतत्स्वार्थे च कौन्तेय धनं धनवतां वर ।
धाता ददाति मर्त्येभ्यो यज्ञार्थमिति विद्धि तत् ॥२६॥

हे धनवानों में श्रेष्ठ ! कौन्तेय ! विधाता इस ही प्रयोजन से

मनुष्यों को धन देते हैं, कि वे यज्ञ करें। इससे तुम यह समझ लो, कि सब कुछ यज्ञ के लिए ही है ॥२६॥

तस्माद् बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत्कस्यचिद् ध्रुवम् ।
श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याच्चैव यजेत च ॥ २७ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुष होते हैं—वे समझ लेते हैं, कि धन किसी का सगा नहीं है। श्रद्धालु पुरुष, इसी कारण से धन को दान में देते और यज्ञ करते रहते हैं ॥२७॥

लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संचयम् ।
तस्य किं सञ्चयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति ॥ २८ ॥

जो धन प्राप्त हो गया, उसका दान ही करना चाहिए। भोग विलास में उड़ा देना या पड़े २ सड़ा देना योग्य नहीं है। जब धन से किसी बड़े काम का सम्पादन ही नहीं किया गया-तो फिर धन के सञ्चय से लाभ ही क्या है ॥२८॥

ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः ।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥ २९ ॥

जो अपने धर्म से पतित पुरुषों को धन का दान कर देते हैं, वे मनुष्य, मर कर सौ वर्ष तक मल का भक्षण करते रहेंगे ॥२९॥

अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद्दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य, अयोग्य को दान देता है और दानयोग्य पुरुष

को दान नहीं देता, तो उसको पात्रापात्र का ज्ञान न होने से अयोग्य को दिए हुए दान का फल मिलना कठिन है ॥३०॥

लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ३१ ॥[७६३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! प्राप्त किए हुए धन का दो ही तरह अनुचित व्यय समझना चाहिए--एक तो उसका अपात्र में दान करना और दूसरे पात्र को दान नहीं देना ॥३१॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में धर्मराज के धर्म निरूपण के वर्णन का छब्बीसवां अध्याय समाप्त हुआ



सत्ताईसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—अभिमन्यौ हते बाले द्रौपद्यास्तनयेषु च ।
धृष्टद्युम्ने विराटे च द्रुपदे च महीपतौ ॥ १ ॥
वृषसेने च धर्मज्ञे धृष्टकेतौ तु पार्थिवे ।
तथान्येषु नरेन्द्रेषु नानादेश्येषु संयुगे ॥ २ ॥
न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम् ।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशच्छेदकारिणम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे धनञ्जय! बालक अभिमन्यु, द्रौपदी के के पुत्र, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, राजा द्रुपद, धर्मात्मा वृषसेन, राजा धृष्टकेतु तथा भिन्न २ देश के अनेक राजा महाराजा, रणक्षेत्र में मारे गए। मैं अपनी ही जाति का घातक सिद्ध हुआ, इससे मुझे शोक छोड़ नहीं रहा है। मैं राज्य का अत्यन्त लालची, अपने ही वंश का उच्छेदक हूं ॥१-३॥

यस्याङ्के क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम्।
स मया राज्यलुब्धेन गाङ्गेयो युधि पातितः ॥ ४ ॥

जिसकी गोदी में मैंने क्रीड़ाएँ करके लोट लगाई-राज्य के लालच से मैंने उसी भीष्मपितामह को भी रण में मरवा डाला।

यदा ह्येनं विघूर्णन्तमपश्यं पार्थसायकैः।
कम्पमानं यथा वज्रैः प्रेक्ष्यमाणं शिखण्डिना ॥ ५ ॥
जीर्णसिंहमिव प्रांशुं नरसिंहं पितामहम्।
कीर्यमाणं शरैर्दृष्ट्वा भृशं मे व्यथितं मनः ॥ ६ ॥

वज्र के समान भीषण अर्जुन के बाणों से घायल हुए भीष्म पितामह को मैंने रणमें घूमते देखा है, यही शिखण्डी भी देख रहा था। वे नरश्रेष्ठ भीष्म पितामह, वृद्धसिंह के समान विशाल- काय धारी थे। उनको भी बाणों से व्याप्त देखकर मेरा मन आज बहुत ही दुःखी हो रहा है ॥५-६॥

प्राङ्मुखं सीदमानं च रथे पररथारुजम्।
घूर्णमानं यथा शैलं तदा मे कश्मलोऽभवत् ॥ ७ ॥

शत्रुओं के रथियों को पीड़ित कर देने वाले, पर्वतोपम भीष्म पितामह को भी जब पीड़ित होकर मैंने घूमते देखा-तो उस समय मेरे मन में बहुत ही शोक उत्पन्न हुआ ॥७॥

यः स बाणधनुष्पाणिर्योधयामास भार्गवम् ।
बहून्यहानि कौरव्यः कुरुक्षेत्रे महामृधे ॥ ८ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं वाराणस्यां नदीसुतः ।
कन्यार्थमाह्वयद्वीरो रथेनैकेन संयुगे ॥ ९ ॥
येन चोग्रायुधो राजा चक्रवर्ती दुरासदः ।
दग्धश्चास्त्रप्रतापेन स मया युधि घातितः ॥ १० ॥

जो कुरुवंशश्रेष्ठ, भीष्म पितामह, धनुष बाण हाथ में लेकर कुरुक्षेत्र की भूमि में भृगुवंशोत्पन्न परशुराम से कई दिन तक लड़ते रहे-जब काशीपुरी में स्वयम्वर के समय सारा क्षत्रिय मंडल इकट्ठा हुआ-उस समय काशीराज कन्याओं का अपहरण करके भीष्म ने सारे क्षत्रियों को युद्ध के लिए ललकारा । जिसने अत्यन्त बलवान, चक्रवर्ती राजा उग्रायुध को अपने अस्त्र के प्रताप से दग्ध कर डाला-उसी वीर को मैंने युद्ध में मार गिरवाया।

स्वयं मृत्युं रक्षमाणः पाञ्चाल्यं यः शिखण्डिनम् ।
न बाणैः पातयामास सोऽर्जुनेन निपातितः ॥ ११॥

जिसने अपने मृत्युभूत पाञ्चाल राजकुमार को अपने सन्मुख देखा, परन्तु उसकी रक्षा की और उसे रण में नहीं मार गिराया,

उसी वीर भीष्म पितामह को अर्जुन ने अपने बाणों से रणभूमि मार गिराया ॥११॥

यदैनं पतितं भूमावपश्यं रुधिरोक्षितम् ।

तदैवाविशदत्युग्रो ज्वरो मां मुनिसत्तम ॥ १२ ॥

हे मुनिसत्तम ! जब मैंने रुधिर में भीगे हुए भीष्म पितामह को भूमि में पड़ा देखा—उसी समय मुझे महान् सन्ताप हुआ-जिस का वर्णन नहीं हो सकता है ॥१२॥

येन संवर्धिता बाला येन स्म परिरक्षिताः ।

स मया राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ।

अल्पकालस्य राजस्य कृते मूढेन घातितः ॥ १३ ॥

जिसने हम बालकों की पालना और रक्षा की । उन पितामह को राज्यलोलुप, गुरुघाती, मुझ पापी मूढ़ ने थोड़े समय में ही मरवा डाला ॥१३॥

आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः ।

अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति ॥ १४ ॥

तन्मे दहति गात्राणि यन्मां गुरुरभाषत ।

सत्यमाख्याहि राजंस्त्वं यदि जीवति मे सुतः ॥ १५॥

सारे राजाओं से पूजित, महाधनुर्धर आचार्य द्रोण के समीप पहुंच कर मुझ पापी ने उनसे उनके पुत्र की मिथ्या मृत्यु की साक्षा दी । मेरे अङ्गों को तो यह बात दग्ध कर रही है, जो

आचार्य द्रोण ने कही थी, कि हे राजन्! तुम सत्य कहना, कि क्या मेरा पुत्र अश्वत्थामा जीवित है ॥१४-१५॥

सत्यमामर्पयन् विप्रो मयि तत्परिपृष्टवान् ।
कुञ्जरं चान्तरं कृत्वा मिथ्योपचरितं मया ॥ १६ ॥

आचार्य द्रोण ने सत्य को मध्य में रखकर ही मुझ से यह प्रश्न किया था। मैंने अश्वत्थामा नामक हाथी को मध्य में डाल कर मिथ्या भाषण किया ॥१६॥

सुभृशं राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ।
सत्यकञ्चुकमुन्मुच्य मया स गुरुराहवे ॥ १७ ॥
अश्वत्थामा हत इति निरुक्तः कुञ्जरे हते ।
काँल्लोकांस्तु गमिष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥१८॥

मुझ राज्य के लोलुप, पापी, गुरुघाती ने सत्य का आवरण उतार कर फैंक दिया और रण के मध्य में अपने गुरु द्रोणाचार्य से अश्वत्थामा हाथी के मारे जाने पर भी अश्वत्थामा तुम्हारा पुत्र मारा गया-यह कह दिया। मैं इस दुष्कर्म को करके न जाने किन लोकों में जाऊंगा ॥१७-१८॥

अघातयं च यत्कर्णं समरेष्वपलायिनम् ।
ज्येष्ठभ्रातरमत्युग्रं को मत्तः पापकृत्तमः ॥ १९ ॥

महारथी कर्ण भी युद्ध में पीछे नहीं हटने वाला मेरा ज्येष्ठ भ्राता था, उस महापराक्रमी को भी मैंने मरवा डाला-बताओ-मुझ से अधिक कौन पापी होगा ॥१९॥

अभिमन्युं च यद्बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु ।
प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम् ॥ २० ॥
तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम् ।
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा ॥२१॥

पर्वत में उत्पन्न सिंह के समान आकार धारी, बालक अभिमन्यु को भी द्रोणाचार्य से सुरक्षित भयानक सेना में मैंने ही तो भेजा था। तब से मैं, बालघातक की भांति पापी बना हुआ, अर्जुन और कमललोचन श्रीकृष्ण को मुंह दिखाने के योग्य भी नहीं रह गया हूँ ॥२०-२१॥

द्रौपदीं चापि दुःखार्तां पञ्चपुत्रैर्विना कृताम् ।
शोचामि पृथिवीं हीनां पञ्चभिः पर्वतैरिव ॥ २२ ॥

जिस प्रकार पांच पर्वतों से रहित पृथिवी दीन दिखाई देती है, उसी तरह अपने पांचों पुत्रों से रहित-दुःखातुर द्रौपदी को देखकर मैं बड़ा ही क्लेशित होता हूँ ॥२२॥

सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः ।
आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम् ॥ २३ ॥

इस सारी पृथिवी के नाश करने का अपराधी मैं ही तो हूँ। अब मैं यहीं बैठा हुआ अपना शरीर सुखा डालूंगा ॥२३॥

प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम् ।
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत् ॥२४॥

अब मुझ गुरुघाती ने अन्न जल का परित्याग कर दिया है,

जिससे अन्य जन्म में जाकर मैं फिर अपने कुल का नाशक न बन सकूं ॥२४॥

न भोक्ष्ये न च पानीयमुपभोक्ष्ये कथञ्चन।

शोषयिष्ये प्रियान्प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनः ॥ २५ ॥

ऐ महाभाग ! अब मैं न तो आगे कुछ खाऊंगा और न पानी ही पीऊंगा। मैं तो केवल तप परायण रह कर यहीं बैठा-बैठा, अपने प्रिय प्राणों को सुखा डालूंगा ॥२५॥

यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः ॥ २६ ॥

सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम् ॥ २७ ॥

अब आप लोग, अपनी २ इच्छानुसार जहां जाना हो- वहां जायें। मैं आप लोगों से क्षमा मांगता हूँ। अब आप लोग, मुझे आज्ञा दें, जिससे मैं अपने शरीर का परित्याग कर दूं ॥२६-२७॥

वैशम्पायन उवाच—तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम्।

मैवमित्यब्रवीद् व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः ॥ २८ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! जब राजा युधिष्ठिर ने इतना कहा—तो बन्धुशोक से व्याकुल, धर्मराज को मुनिश्रेष्ठ व्यास ने लपक कर पकड़ लिया और कहा—हे राजन ! ऐसा न करो।

व्यास उवाच—अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि।

पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो ॥ २९ ॥

हे महाराज ! बहुत अधिक समय तक शोक करना अच्छा

नहीं होता। हे प्रभो ! अब मैं तुमको वही पूर्वोक्त फिर उपदेश देता हूँ-तुम ध्यान से सुनो ॥२६॥

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम् ।
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ॥ ३० ॥

जितने प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबका यद्यपि संयोग होता है, परन्तु इस संयोग का अन्त में वियोग होता है। इन प्राणियों की यही दशा है, कि जैसे जल में बुलबुले उठते हैं और फिर मिट जाते हैं॥३०॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥३१ ॥

जितने भी संग्रह हैं, उन सबका एक दिन क्षय होना है। ऊँचे पहुंचे हुए मनुष्यों का पतन अवश्यम्भावी है। ये संयोग, वियोग में परिणत हो जाने वाले हैं और जीवन की समाप्ति मृत्यु पर ही होनी है ॥३१॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम् ।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥ ३२ ॥

आलस्य की अवस्था में सुख भी दुःख को उत्पन्न करता है और कार्य तत्परता में दुःख भी परिणाम में सुख उत्पन्न करता है। अणिमादि सिद्धि, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति, उद्योग में वसती है, आलस्य में ये नहीं रह सकती ॥३२॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः।
न च प्रज्ञाऽलमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम् ॥३३॥

किसी के सुहृद् किसी के सुख के लिए पर्याप्त नहीं है। न शत्रु ही किसी को दुःख देने में समर्थ हैं। धन के लिए प्रज्ञा पर्याप्त नहीं मानी जाती है और न धन से ही सुख मिल सकता है ॥३३॥

यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत्कुरु।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मपर्वणि व्यासवाक्ये
सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

हे कौन्तेय ! विधाता ने जिस कर्म का उत्तरदायी तुम्हें बनाकर भेजा है, तुम वही कर्म करो। हे नृप ! इसी में तुम्हारी सिद्धि होगी। तुम कर्मों को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ नहीं हो ॥३४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में वेदव्यास जी द्वारा धर्मराज के समझाने का सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ

अट्ठाईसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः

ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! अब भगवान् वेदव्यास ने अपने बन्धु-बान्धवों के शोक से सन्तप्त, प्राणों के छोड़ने में तत्पर, पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र राजा युधिष्ठिर के शोक को इस तरह शान्त करना आरम्भ किया ॥१॥

व्यास उवाच—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

व्यास जी ने कहा—हे नरव्याघ्र ! इस विषय में एक प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है । हे युधिष्ठिर ! जिस को अश्मगीत कहते हैं । तुम उसको ध्यान से सुनो ॥२॥

अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको नृपः ।

संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकसमन्वितः ॥ ३ ॥

एक अश्मा नामक विद्वान् ब्राह्मण थे । उनसे विदेह राजा जनक ने दुःख और शोक से कातर होकर एक संशयात्मक प्रश्न किया ॥३॥

जनक उवाच—आगमे यदि वाऽपाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च ।

नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता ॥ ४ ॥

जनक बोले—हे विद्वन् ! अपने बान्धव और धन के आगम या विनाश के समय मनुष्य को कल्याणप्राप्ति के निमित्त क्या करना चाहिए ॥४॥

अश्मोवाच—उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं ततः ।
तानि तान्यनुवर्तन्ते दुःखानि न सुखानि च ॥ ५ ॥

अश्मा ने कहा—हे राजन् ! जब मनुष्य उत्पन्न होता है, तो उस मनुष्य के साथ २ ही दुःख और सुख का चक्र चल पड़ता है ॥५॥

तेषामन्यतरापत्तौ यद्यदेवोपपद्यते ।
तदस्य चेतनामाशु हरत्यभ्रमिवानिलः ॥ ६ ॥

इन दोनों दुःख और सुख में मनुष्य को जिसकी प्राप्ति होती है-वही अपने २ ढ़ंग से मनुष्य के ज्ञान को इस तरह हर लेते हैं, जैसे वायु, बादलों को उड़ा ले जाता है ॥६॥

अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः ।
इत्येभिर्हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यते ॥७॥

जब मनुष्य को ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, तब वह समझता है, कि मैं बड़ा कुलीन और सिद्ध हूं—कोई साधारण मनुष्य नहीं । इस प्रकार के तीन मन के अभिनिवेशों से मनुष्य का चित्त क्लिन्न हो जाता है ॥७॥

संप्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसञ्चितान् ।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥८॥

ऐश्वर्य काल में मनुष्य अपने पिता के सञ्चित धन को भोग विलासों में उड़ा देता है, परन्तु जब इसका धन व्यतीत हो जाता है, तब यह अन्य के धन को झपट लेने के लिए अग्रसर होता है।

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसाम्प्रतम् ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥९॥

जब मनुष्य, मर्यादा को छोड़कर धन इकट्ठा करना चाहता हो—तो उसका इस प्रकार धन संग्रह करना अनुचित माना जाता है। राजा लोग, फिर उसको इस प्रकार दण्ड देते हैं, जैसे लुब्धक, (शिकारी) अपने बाणों से मृगों को मारता है ॥९॥

ये च विंशतिवर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः ।
परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव ॥१०॥

हे पार्थिव ! आज जो बीस या तीस वर्ष के मनुष्य संसार में विद्यमान हैं, वे सौ वर्ष के अनन्तर इस संसार में दिखाई नहीं देंगे ॥१०॥

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः ॥११॥

संसार की क्षणिकता जानकर सब ओर प्राणियों के वृत्तों को देखते रहो। इस प्रकार की स्थिति में अत्यन्त दुःख की मनुष्य को ओषधि करनी ही चाहिए ॥११॥

मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः ।
अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते ॥१२॥

मानसिक दुःखों के उत्पन्न होने का एकमात्र कारण चित्त का उद्वेग है अथवा पुत्र आदि की मृत्यु जैसे अनिष्ट की उत्पत्ति भी इन दुःखों का कारण है। इसके सिवा तीसरा अन्य कारण नहीं हो सकता ॥१२॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपवर्तन्ते तथा संस्पर्शजान्यपि ॥१३॥

मनुष्य को इस प्रकार से जितने भी दुःख प्राप्त होते हैं, वे सब इसी कारण से होते हैं। ये अनेक दुःख और स्पर्श आदि के दुःख सबका कारण पूर्वोक्त ही है ॥१३॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥१४॥

जरा और मृत्यु, मनुष्य को भेड़िये की तरह खा रही है। वे बलवान-दुर्बल, छोटे-बड़े, सब को ही तो ग्रस लेती हैं ॥१४॥

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः ।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥१५॥

कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो जरा और मृत्यु के पंजे से छुटकारा पा जावे, चाहे वह समुद्र पर्यन्त सारी पृथिवी का विजेता चक्रवर्ती राजा ही क्यों न होवे ॥१५॥

सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम् ।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते ॥१६॥

सुख या दुःख जो कुछ प्राणियों को प्राप्त होते हैं, वे रोके नहीं जा सकते-वे तो अवश्य प्राप्त होते हैं। इनका कुछ भी परिहार नहीं हो सकता ॥१६॥

पूर्वे वयसि मध्ये वाऽप्युत्तरे वा नराधिप ।
अवर्जनीयास्तेऽर्था वै काङ्क्षिता ये ततोऽन्यथा ॥१७॥

हे नराधिप ! बाल्य, युवा और वृद्धावस्था में जो धनादि प्राप्त होते हैं, वे प्राप्त होते ही हैं, परन्तु जब उनकी आकांक्षा करते हैं, तो वे उलट भी पड़ते हैं, अर्थात चाहने पर प्राप्त भी नहीं होते।

अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः ।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते ॥१८॥

अप्रिय वस्तु के साथ संयोग, प्रिय वस्तु के साथ वियोग, अर्थ या अनर्थ, सुख या दुःख-ये तो चक्कर लगा कर आते रहते ही है-यही तो विधाता का विधान है ॥१८॥

प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च ।
प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ॥१९॥

प्राणियों की उत्पत्ति, उनका देहत्याग, धन की प्राप्ति या धन का अलाभ, यह सब कुछ नियत ही तो होता है ॥१९॥

गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः ।
तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते ॥२०॥

शब्द, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श, इन सब की प्राप्ति स्वभाव से ही तो होती है। इसी तरह मनुष्य को दुःख और सुख की प्राप्ति भी स्वभाव से ही होती रहती है-यही दैव का विधान है ॥२०॥

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥२१॥

आसन, शयन, जाना, उठाना, खाना, पीना, यह सब कुछ प्राणियों का काल ने ही तो नियत कर दिया है ॥२१॥

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः ।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥२२॥

हमने वैद्यों को रोगी, बलवानों को दुर्बल तथा श्रीमानों को नपुंसक देखा है-यह सब काल की ही तो विचित्र गति है ॥२२॥

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च ।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥२३॥

कुल में जन्म, बलवीर्य, आरोग्य, सौन्दर्य, सौभाग्य और उपभोग-ये सब भाग्य से ही तो प्राप्त होते हैं ॥२३॥

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् ।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥२४॥

जिन दरिद्रियों को पुत्र की इच्छा नहीं है, उनके बहुत से पुत्र हुए चले जाते हैं प · । अनेक धनशाली पुत्र के लिए तड़फते हैं और उनके एक भी पुत्र नहीं होता-यह विधाता की कैसी लीला है ॥२४॥

व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्चापदो विषम् ।
ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चावपतनं तथा ।
निर्माणे यस्य यद्दिष्टं तेन गच्छति सेतुना ।

व्याधि, अग्नि, जल, शस्त्र, भूख, आपत्ति, विष, ज्वर, मरण, प्राणी का ऊंचे नीचे चढ़ना-गिरना-ये सब निर्माण जिसके भाग्य में जितने होते हैं, उनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य उसी मार्ग से बलात चल पड़ता है ॥२५॥

दृश्यते नाप्यतिक्रामन्न निष्क्रान्तोऽथवा पुनः ॥
दृश्यते चाप्यतिक्रामन्न निग्राह्योऽथवा पुनः ॥२६॥

कोई मनुष्य, अपराध न करके भी दण्ड पाता देखा गया है और कोई अपराध करके दण्ड नहीं भोगता-यह सब उनके भाग्य की ही तो लीला है ॥२६॥

दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन्वसुमान्नरः ।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः ॥२७॥
अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः ।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतङ्गवत् ॥२८॥

कोई २ धनवान मनुष्य, युवावस्था में ही इस संसार को छोड़कर चल देता है-किन्तु क्लेशों को भोगता हुआ कोई २ दरिद्री जरा जीर्ण होकर भी सौ वर्ष पर्यन्त जीता देखा गया है। धनधान्य हीन पुरुष प्रायः अधिक जीते देखे गए हैं, परन्तु समृद्धिशाली गृह में जन्म लेकर मनुष्य, अग्नि में पतङ्ग की भांति चटपट लटपट हो जाते देखे हैं ॥२८॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥२९॥

जो व्यक्ति ऐश्वर्यशाली हैं, प्रायः उनमें अपने ऐश्वर्य के भोगने की शक्ति दिखाई नहीं पड़ती, परन्तु दरिद्री मनुष्य काष्ठ को भी खा जावें-तो भी पचा लेने की शक्ति रखते हैं-यह नित्य देखा जाता है ॥२६॥

अहमेतत्करोमीति मन्यते कालनोदितः ।
यद्यदिष्टमसन्तोषाद्दुरात्मा पापमाचरेत् ॥३०॥

मनुष्य यह समझता है, कि इस काम को मैं कर रहा हूं, परन्तु वह तो उसे काल की प्रेरणा से करता है। जो २ होनहार होती है, उसी पाप को दुरात्मा आदमी कर पाता है, चाहे वह न चाहता हो ॥३०॥

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसङ्गा निन्दिता बुधैः ।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र संप्रयुक्ता बहुश्रुताः ॥३१॥

मृगया (शिकार) जुआ, व्यभिचार, सुरापान आदि कर्तव्यों की प्रायः विद्वान् निन्दा करते हैं, परन्तु भाग्य की प्रेरणा से बड़े २ पतित ज्ञानी मनुष्य भी इन झंझटों में फंसे हुए देखे गए हैं ॥३१॥

इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह ।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥३२॥

इस तरह काल (भाग्य) जिन २ कामों को चाहता है, सारे प्राणी भी उन ही कामों की ओर चल पड़ते हैं। इस बात का कोई लौकिक कारण नहीं बताया जा सकता है अर्थात् दैव ही इसका बीज है ॥३२॥

वायुमाकाशमग्निं च चन्द्रादित्यावहःक्षये ।
ज्योतींषि सरितः शैलान्कः करोति बिभर्ति च ॥२३॥
शीतमुष्णं तथाऽवर्षं कालेन परिवर्तते ।
एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ ॥२४॥

वायु, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिन-रात, प्रकाश, नदी और पर्वत-इन सबको कौन बनाता और कौन धारण करता है। शीत, गर्मी और वर्षा-ये सब ही तो काल की प्रेरणा से बनते और बिगड़ते हैं। हे नरर्षभ! मनुष्यों के सुख और दुःख भी इस काल (दैव) की प्रेरणा से समझने चाहिए ॥२४॥

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥२५॥

औषध, मन्त्र, होम तथा जप, मृत्यु या जरा से युक्त पुरुष को बचाने में समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥२५॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥२६॥

जिस तरह समुद्र में दो काष्ठ के टुकड़े इधर उधर से आकर मिल जाते और बिछुड़ जाते हैं, इसी तरह इस संसार रूपी समुद्र में प्राणी मिलते और बिछुड़ते रहते हैं ॥२६॥

ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः ।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः ॥२७॥

जो पुरुष, स्त्रियों के मध्य में गाना बजाना सुनते रहते हैं तथा जो अनाथ, अन्य के दिए हुए अन्न पर प्राण धारण करते हैं, काल इन दोनों के साथ समान ही व्यवहार करता है ॥३७॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥३८॥

इस संसार चक्र में घूमते हुए सहस्रों माता पिता, सहस्रों पुत्र और स्त्रियों के साथ सम्पर्क हुआ है, अन्त में सब बिछुड़ गए। इससे कौन किसका है—हम भी किसी के नहीं हैं ॥३८॥

नैवास्य कश्चिद्भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥३९॥

मनुष्य के पुत्र, स्त्री आदि में कोई इसका साथी नहीं है और न यही किसी का साथी है। स्त्री, बन्धु और मित्र जनों का जो यह आज सम्पर्क दिखाई दे रहा है, यह तो मार्ग के प्राणियों के सदृश है ॥३९॥

क्वासं क्व च गमिष्यामि कोन्वहं किमिहास्थितः ।
कस्मात्किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ॥४०॥

मैं कहां स्थित हूं, कहां जाऊंगा, कौन हूं, क्यों यहां स्थित हूं और यहां क्यों आया हूं। यह सब कुछ क्या है—मैं क्यों सोच करता हूं। इस तरह मनुष्य को अपने मन में विचारना चाहिए।

अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ ।
पथि सङ्गतमेवैतद्भ्राता माता पिता सखा ॥४१॥

इस संसार की चक्र की सी चाल है। प्रिय मिलन अनित्य है। भ्राता, माता, पिता और सखा-यह सब कुछ मार्ग मनुष्यों की तरह समझने चाहिए ॥४१॥

न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः ।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता ॥ ४२ ॥

विद्वानों ने कभी परलोक को देखा हो—ऐसा उन्हें स्मरण नहीं है-परन्तु शास्त्रों की अवहेलना न करके वे अपने कल्याण के निमित्त परलोक में श्रद्धा रखते हैं ॥४२॥

कुर्वीत पितृदैवत्यं धर्म्याणि च समाचरेत् ।
यजेच्च विद्वान्विधिवत्त्रिवर्गं चाप्युपाचरेत् ॥ ४३ ॥

मनुष्य, सर्वदा पिता और देव सम्बन्धी क्रिया करता रहे। सारी धर्म क्रियाओं के आचरण में आलस्य न करे। समझदार मनुष्य, विधि-पूर्वक यजन करे तथा अर्थ, धर्म और काम प्राप्ति के जितने साधन हों—उनको करता रहे ॥४३॥

सन्निमज्जेज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे ।
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते ॥ ४४ ॥

यह सारा संसार, इस गम्भीर काल सागर में डूबता जा रहा है, जिसमें जरा और मृत्यु रूपी बड़े २ ग्राह हैं, परन्तु इसका किसी को भी ध्यान नहीं है ॥४३॥

आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः ।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः ॥४५॥

बहुत से वैद्य आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता है, परन्तु परिवार सहित व्याधियों से ग्रस्त देखे जाते हैं-यह सब पूर्व कर्म (दैव) की ही तो लीला है ॥४५॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींपि विविधानि च ।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥ ४६ ॥

रोगी बहुत से काढ़े और औषध युक्त घृतों का पान करते हैं, परन्तु मृत्यु के पार इस तरह नहीं जा सकते-जैसे समुद्र अपनी मर्यादा को उल्लंघन नहीं कर पाता है ॥४६॥

रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ४७ ॥

बड़े २ जरा, व्याधि के नाश कर देने वाली औषधों के बनाने में कुशल, वैद्य अच्छी तरह रसायन बनाकर और उसका सेवन करके भी जरा से इस तरह अभिभूत देखे गए है, जैसे हाथियों से पर्वत के शिखर बखेर दिए जाते हैं ॥४७॥

तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः ।
दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ ॥ ४८ ॥

बड़े २ तपस्वी, वेद के स्वाध्याय और अभ्यास में लगे हुए, यज्ञ शील दाता भी इस वृद्धावस्था और मृत्यु के फंदे से बचने में समर्थ नहीं हो सके हैं ॥४८॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः ।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः ॥ ४९ ॥

मनुष्यों के जो दिन, मास, वर्ष, पक्ष या रात्रियां गुजर जाती हैं, वे फिर लौट कर नहीं आती—यह निश्चय है ॥४९॥

सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः ।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम् ॥ ५० ॥

काल के बन्धन में जकड़े हुए इस संसारयात्रा के विपुल मार्ग में स्वल्पकालस्थायी मनुष्य, परवश होकर घूमता रहता है। यही दशा संसार के सारे प्राणियों की है ॥५०॥

देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाऽभ्येति देहतः ।
पथि सङ्गमभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ॥ ५१ ॥

कर्मानुसार जीव देह से या देह जीव से मिलता बिछुड़ता रहता है। अपनी भार्या, पुत्र तथा अन्य बन्धुओं से जो मनुष्य का समागम हो रहा है, वह तो उसके मार्ग में मिले हुए यात्रियों के सम्पर्क के तुल्य है ॥५१॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ५२ ॥

कोई भी मनुष्य, किसी भी स्त्री, पुत्र आदि के साथ इस संसार में चिरकाल तक स्थित नहीं रह सकता। अन्य पुत्रादि तो क्या ? अपने शरीर के साथ भी यह चिरकाल तक निवास नहीं कर सकेगा ॥५२॥

क्व नु तेऽद्य पिता राजन् क्व नु तेऽद्य पितामहाः ।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽनघ ॥५३॥

हे राजन् ! तुम्हारे पिता कहां पहुंचे और पितामह कहां गए। हे अनघ ! आज न तो वे तुमको दिखाई देते हैं और न तुम्हें वे ही देख रहे हैं ॥५३॥

न चैव पुरुषा द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य च।
आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर ॥ ५४ ॥

हे नृपते ! किसी भी पुरुष को स्वर्ग या नरक के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो रहे हैं। इस विषय में शास्त्र ही हमारी आंख हैं, तुमको शास्त्रानुसार ही नरक स्वर्ग पर आस्था रखनी उचित है।

चरितब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च।
पितृदेवमनुष्याणामानृण्यादनसूयकः ॥ ५५ ॥

मनुष्य, प्रथम ब्रह्मचर्य का धारण करें इसके अनन्तर विवाह सन्तानोत्पत्ति करे। इसके बाद यजन करे, जिससे पितर, देव और मनुष्यों के ऋण से मुक्त होकर और संसार में निन्दित न होकर यशस्वी बन जाये ॥५५॥

स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः प्राग्ब्रह्मचारी प्रविविक्तचक्षुः।
आराधयेत्स्वर्गमिमं च लोकं परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम्

जो यज्ञ करता हुआ सन्तानोत्पत्ति के साधन गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य धारण के अनन्तर प्रविष्ट होता है, वह खुली आंखों वाला है। मनुष्य, अपने हृदय के कल्मष को छोड़कर स्वर्गलोक और इस लोक के सुधार का प्रयत्न करे ॥५६॥

समं हि धर्मं चरतो नृपस्य द्रव्याणि चाभ्याहरतो यथावत्।
प्रवृत्तधर्मस्य यशोऽभिवर्धते सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु ॥५७॥

जो राजा, उचित रीति से प्रजा के साथ व्यवहार करता है और उचित रीति से कर ग्रहण करता या दान करता है, उस धर्म में प्रवृत्त राजा का सारी चराचर सृष्टि में यश बढ़ता है।

इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतु ।
अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धिर्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः ।

अश्मामुनि के हेतु युक्त सारे वचन सुनकर विदेह-राज जनक ने उनका तत्व समझ लिया। अब राजा जनक शुद्ध बुद्धि हो गए। वे अश्मा मुनि से आज्ञा लेकर शोक रहित हुए अपने घर को गए ॥५८॥

तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोकमुत्तिष्ठ शक्रोपमहर्षमेहि ।
क्षात्रेण धर्मेण मही जिता ते तां भुंक्ष्व कुन्तीसुत माऽवमंस्याः

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

हे धर्मराज ! अब तुम भी अपने शोक को छोड़ो और इन्द्र के समान हर्ष को पाकर ख हो जाओ। हे कुन्ती-सुत ! आपने क्षात्रधर्म के अनुसार पृथिवी को जीता है। तुम इसका उपभोग करो; उपेक्षा न करो ॥५६॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में अश्मा जनक सम्वाद का अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त हुआ

उनतीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे ।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे जनमेजय ! जब राजाओं में श्रेष्ठ, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर कुछ भी नहीं बोले-तो पाण्डु-पुत्र अर्जुन श्रीकृष्ण से इस तरह कहने लगे ॥१॥

अर्जुन उवाच—ज्ञातिशोकाभिसन्तप्तो धर्मपुत्रः परन्तपः ।
एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव ॥ २ ॥

हे माधव ! आज शत्रु नाशक धर्मराज अपने बन्धु-बान्धवों के शोक से सन्तप्त हो रहे हैं। ये इस शोकसमुद्र में डूबे जा रहे हैं, आप इनको समझा दीजिए ॥२॥

सर्वे स्म ते संशयिताः पुनरेव जनार्दन ।
अस्य शोकं महाबाहो प्रणाशयितुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे जनार्दन ! हम सब की बातों पर इनको सन्देह रह जाता है। हे महाबाहो ! इनके शोक नाश करने में तो आप ही समर्थ हैं ॥३॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना
पर्यवर्तत राजानं पुण्डरीकेक्षणोऽच्युतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले—जब महावीर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से इतना कहा-तो कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्मराज की ओर अपना मुख फेरा ॥४॥

अनतिक्रमणीयो हि धर्मराजस्य केशवः ।
बाल्यात्प्रभृति गोविन्दः प्रीत्या चाभ्यधिकोऽर्जुनात्

धर्मराज, श्रीकृष्ण की बात पर बहुत ही श्रद्धा रखते थे । वे उसके अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं हो सकते थे, क्योंकि बचपन से ही श्रीकृष्ण और धर्मराज की प्रीति अर्जुन से भी अधिक थी ॥५॥

संप्रगृह्य महाबाहुर्भुजं चन्दनभूषितम् ।
शैलस्तम्भोपमं शौरिरुवाचाभिविनोदयन् ॥ ६ ॥

महाबाहु श्रीकृष्ण ने स्तम्भ-सदृश, चन्दन-चर्चित धर्मराज की भुजा पकड़ ली और उसे आनन्दित करते हुए यह वचन कहा ।

शुशुभे वदनं तस्य सुदंष्ट्रं चारुलोचनम् ।
व्याकोशमिव विस्पष्टं पद्मं सूर्य इवोदिते ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण के मुख में उज्ज्वल दन्त-पंक्ति चमक रही थी और सुन्दर आंखें प्रकाशित हो रही थी । बोलने के समय इनका मुख, सूर्योदय के समय खिले हुए कमल के समान प्रतीत होता था ॥७॥

वासुदेव उवाच—मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम्
न हि ते सुलभा भूयो ये हताऽस्मिन् रणाजिरे ॥८॥

श्रीकृष्ण बोले—हे पुरुषव्याघ्र ! तुम अपने शरीर के सुखा देने वाले इस शोक का परित्याग करो । जो इस रणक्षेत्र में मर चुके—वे तुमको सुलभ नहीं है ॥८॥

स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने।
एवं ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता महारणे॥ ९॥

हे राजन्! स्वप्न में हुए लाभ जिस भांति से जागने पर निरर्थक हो जाते हैं, इसी तरह महारण में मरे हुए क्षत्रिय, अब स्वप्न-पुरुष हो चुके ॥९॥

सर्वेऽप्यभिमुखाः शूरा विजिता रणशोभिनः।
नैषां कश्चित्पृष्ठतो वा पलायन्वापि पातितः॥ १०॥
सर्वे त्यक्त्वाऽऽत्मनः प्राणान्युद्धवीरा महामृधे।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न ताञ्छोचितुमर्हसि॥ ११॥
क्षत्रधर्मरता शूरा वेदवेदाङ्गपारगाः।
प्राप्ता वीरगतिं पुण्यां तान्न शोचितुमर्हसि॥ १२॥
मृतान्महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन्।

रण में शोभा पाने वाले सारे शूरवीर सन्मुख युद्ध में ही तो मारे गए हैं। किसी को पीछे से या भागते हुए नहीं मारा है। इन सारे वीरों ने अपने प्राणों का मोह छोड़कर घोर संग्राम में युद्ध किया है। फिर ये शस्त्र से पवित्र होकर स्वर्ग पहुंचे हैं, सारे वेद-वेदाङ्ग-पारगामी शूरवीर, क्षत्रिय-धर्मानुसार युद्ध करते हुए ही तो पवित्र वीरगति को प्राप्त हुए हैं। हे महानुभाव! मृत राजा लोग अपने २ कर्मानुसार स्वर्ग पहुंचे हैं, तुम्हें इन सब बातों को ध्यान से सुनकर उनका शोक नहीं करना चाहिए ॥११-१२॥

अत्रैवोदाहरंतीममितिहासं पुरातनम् ॥ १२ ॥
सृञ्जयं पुत्रशोकार्त्तं यथाऽयं नारदोऽब्रवीत् ।

इस सम्बन्ध में एक पुराना इतिहास कहा जाता है, कि राजा सृञ्जय अपने पुत्र के शोक में बड़े व्याकुल थे, उनको नारद ने यह उपदेश दिया था ॥१३॥

सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृञ्जय ॥१४॥
अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना ।

हे सृञ्जय ! सुख-दुःख को साथ लेकर हम तुम और यह सारी प्रजा एक दिन अवश्य मर जाती है, फिर इस सम्बन्ध में तुमको इतना रोना पीटना नहीं चाहिए ॥१४॥

महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु ॥१५॥
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि ।
मृतान्महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ॥१६॥

हे नृपते ! पूर्वकाल के राजाओं के कहे हुए महत्वशाली इतिहास को मुझ से सुनो-तुम सावधान हो जाओ । इन मृत महानुभाव राजाओं का सारा शोक इसके सुनने से एकदम नष्ट हो जावेगा ॥१५-१६॥

शममानय सन्तापं शृणु विस्तरशश्च मे ।
क्रूरग्रहाभिशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥ १७ ॥
अग्रिमाणां क्षितिभुजामुपादानं मनोहरम् ।

हे राजन ! अब तुम सन्ताप को शान्त करो और मुझ से विस्तार के साथ पूर्वज राजाओं के मनोहर चरित का श्रवण करो। यह क्रूर ग्रहों का शमन करने वाला और आयु का वर्धक है।

आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ १८ ॥
यस्य सेन्द्राः सवरुणा बृहस्पतिपुरोगमाः।
देवा विश्वसृजो राज्ञो यज्ञमीयुर्महात्मनः ॥ १९ ॥
यः स्पर्धयाऽजयच्छक्रं देवराजं पुरन्दरम् ।
शक्रप्रियैषी यं विद्वान्प्रत्याचष्ट बृहस्पतिः ॥ २० ॥
संवर्तो याजयामास यवीयान्स बृहस्पतेः ।

हे सृञ्जय ! राजा अविक्षित के पुत्र मरुत्त नामक एक प्रसिद्ध राजा हुए हैं, जो भी मृत्यु को प्राप्त हुए। इस महात्मा विश्वसृक् राजा मरुत्त के यज्ञ में बृहस्पति के सहित वरुण और इन्द्र देवता स्वयं पधारे थे। इस राजा मरुत्त ने देवराज इन्द्र से स्पर्धा करके उसे जीत लिया। इन्द्र के प्रिय करने की अभिलाषा से बृहस्पति ने उसको यज्ञ कराने से निषेध कर दिया, फिर बृहस्पति के छोटे भाई संवर्त ने उसका यज्ञ करवाया ॥१८-२०॥

यस्मिन्प्रशासति महीं नृपतौ राजसत्तम ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥ २१ ॥

हे राजसत्तम ! जब यह राजा पृथिवी का शासन कर रहा था, उस समय बिना हल से जोते हुए पृथिवी अन्न उत्पन्न करती थी और बड़े २ बाग बगीचों से सुशोभित थी ॥२१॥

आविक्षितस्य वै सत्रे विश्वेदेवाः सभासदः ।
मरुतः परिवेष्टारः साध्याश्चासन्महात्मनः ॥२२ ॥

राजा अविक्षित के पुत्र महात्मा मरुत्त के यज्ञ में विश्वदेवा सभासद्, मरुत् और साध्यदेव परिवेष्टा थे ॥२२॥

मरुद्गणा मरुत्तस्य यत्सोममपिबंस्ततः ।
देवान्मनुष्यान्गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ॥ २३ ॥

मरुत्त राजा के यज्ञ में मरुद्गणों ने सोमपान किया । वे कुशल मरुद्गण इस तरह देव, मनुष्य और गन्धर्व सब को उलांघ गए ॥२३॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ २४ ॥

हे सृञ्जय ! यदि सब तरह के कल्याण से युक्त वह राजा मरुत्त भी मर गया, जो पुण्यात्माओं से भी पुण्यात्मा था, तो अब तुमको अपने पुत्र का सन्ताप नहीं करना चाहिए ॥२४॥

सुहोत्रं चैवातिथिनं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यस्मिन्हिरण्यं ववृषे मघवा परिवत्सरम् ॥ २५ ॥
सत्यनामा वसुमती यं प्राप्याऽऽसीज्जनाधिपम् ।
हिरण्यमवहन्नद्यस्तस्मिन् जनपदेश्वरे ॥२६॥

हे सृञ्जय ! एक सुहोत्र नामक राजा थे, जो बड़ा अतिथि सत्कार करते थे । वे भी मर गए । इस राजा सुहोत्र के शासन काल में इन्द्र ने एक वर्ष तक सुवर्ण की वर्षा की थी । इस राजा

को पाकर ही इस पृथिवी का नाम वसुमती अन्वर्थ हुआ। इस राजा के राजत्वकाल में ही नदियों में सुवर्ण बहा फिरता था।

कूर्मान्कर्कटकान्नक्रान्मकराञ्छिंशुकानपि ।

नदीष्वपातयद्राजन्मघवा लोकपूजितः ॥२७॥

हे राजन्! कूर्म, कर्कट, नक्र, मकर और शिंशुक आदि सुवर्ण के जलचरों को लोकपूजित इन्द्र ने नदियों में उत्पन्न कर दिया ॥२७॥

हिरण्यान्पातितान्दृष्ट्वा मत्स्यान्मकरकच्छपान् ।

सहस्रशोऽथ शतशस्ततोऽस्मयदथोऽतिथिः ॥२८॥

सैकड़ों हजारों सुवर्णमय इन मत्स्य, मकर और कच्छपों को देखकर राजा सुहोत्र बड़ा ही अचम्भित हुआ ॥२८॥

तद्धिरण्यमपर्यन्तमावृतं कुरुजाङ्गले ।

ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समर्पयत् ॥२९॥

कुरुजाङ्गल प्रदेश में वह सुवर्ण बहुत अधिक मात्रा में छा गया। राजा ने विस्तृत यज्ञ का विस्तार किया और ब्राह्मणों को बड़ी २ दक्षिणा दे डाली ॥२९॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।

पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥३०॥

अदक्षिणमयज्वानं चैत्य संशाम्य मा शुचः ।

हे सृञ्जय! धर्म,ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि चारों से युक्त बड़ा पुण्यात्मा राजा सुहोत्र भी जब मर गया-तो तुम फिर क्यों अपने पुत्र का शोक कर रहे हो। तुम्हारे पुत्र ने तो न कोई यज्ञ किया

और न कोई विशेष दक्षिणा ही प्रदान की थी। अब तुम सब कुछ समझ लो और शोक रहित हो जाओ ॥२०॥

अङ्गं बृहद्रथं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥२१॥
यः सहस्रं सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत्।
सहस्रं च सहस्राणां कन्या हेमपरिष्कृताः ॥२२॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत्।
यः सहस्रं सहस्राणां गजानामतिपद्मिनाम् ॥२३॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत्।
शतं शतसहस्राणि वृषाणां हेममालिनाम् ॥२४॥
गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत्।
अङ्गस्य यजमानस्य तदा विष्णुपदे गिरौ ॥२५॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
यस्य यज्ञेषु राजेन्द्र शतसंख्येषु वै पुरा ॥२६॥
देवान्मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः।

हे सञ्जय! अङ्गराज राजा बृहद्रथ भी बड़े प्रसिद्ध राजा हुए। वे भी मर चुके। इन्होंने यज्ञ में दश लाख श्वेत अश्वों का दान किया। दश लाख सुवर्ण के अलङ्कारों से विभूषित कन्याएँ दान में दी। जब इसने अपने यज्ञ का विस्तार किया, तो दश लाख आभूषणों से विभूषित शुभ लक्षण युक्त हाथी दक्षिणा में दिए। इसी तरह इस विशाल यज्ञ में सुवर्ण मालाओं से विभूषित वृषभ दान में दिए। इन वृषभों के साथ एक सहस्र गायों का दान

किया। विष्णुपद नामक पर्वत में यह राजा यज्ञदीक्षा लेकर यजमान बना था। सोमपान से इन्द्र तृप्त हो गया और दक्षिणाओं से ब्राह्मण सन्तुष्ट हुए। हे राजेन्द्र! इसके सौ संख्या के यज्ञों में इतनी दक्षिणा दी गई, कि जो कभी अन्य देव, मनुष्य या गन्धर्व कोई भी नहीं दे पाए थे ॥३१-३६॥

न जातो जनिता नान्यः पुमान्यः संप्रदास्यति ॥
यदङ्गः प्रददौ वित्तं सोमसंस्थासु सप्तसु ।

कोई भी पुरुष न तो आज तक उत्पन्न हुआ और न आगे को होगा, जिसने अग्निष्टोम आदि सात यज्ञों में इतनी द्रव्य दक्षिणा प्रदान की हो ॥३७॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥३८॥
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ।

हे सृञ्जय! धर्म आदि चारों कल्याणों से युक्त यदि अङ्गराज बृहद्रथ भी मर गया-जो तुम्हारे पुत्र से कहीं अधिक पुण्यात्मा था। इसलिए तुम इसका शोक न करो ॥३८॥

शिबिमौशीनरं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥३९॥
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत्समवेष्टयत् ।

हे सृञ्जय! राजा उशीनर का पुत्र शिवि भी मर चुका, जिसने इस सारी पृथिवी को चमड़े की तरह लपेट ली थी ॥३९॥

महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन् ॥४०॥
एकच्छत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः ।

इसी राजा शिबि ने अपने महान् रथ के घोष से पृथिवी को शब्दायमान कर दिया। इसने ही अपने अकेले विजयी रथ से सारी पृथिवी पर एकच्छत्र राज्य की स्थापना की ॥४०॥

यावदस्य गवाश्वं स्यादारण्यैः पशुभिः सह ॥४१॥
तावतीः प्रददौ गाः स शिबिरौशीनरोऽध्वरे ।

राजा शिबि के पास जितने गौ, अश्व और वन के पशु हाथी आदि थे, उन सारे गवादि को मंगा कर उसने अपने यज्ञ में दान कर दिया ॥४१॥

न वोढारं धुरं तस्य कश्चिन्मेने प्रजापतिः ॥४२॥
न भूतं न भविष्यं च सर्वराजसु सृञ्जय ।
अन्यत्रौशीनराच्छैब्याद्राजर्षेरिन्द्रविक्रमात् ॥४३॥
अदक्षिणमयज्वानं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।

हे सृञ्जय ! अपने रचे हुए जगत् की धुर के धारण करने वाले राजा शिबि से उत्तम प्रजापति ब्रह्मा ने किसी अन्य राजा को नहीं समझा। इन्द्र के समान पराक्रमी, राजर्षि उशीनर वंशज, शिबिपुत्र शैब्य से अधिक कोई उत्तम राजा, अन्य सारे राजाओं में न तो अभी तक हुआ और न आगे होने की आशा है। तुम अपने दक्षिणा देने से हीन, यज्ञरहित पुत्र का अनुताप न करो।

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥४४॥

हे सृञ्जय ! यह चारों कल्याणों से युक्त तुम्हारे पुत्र से पुण्यात्मा, उशीनर वंशज शैब्य भी मर गया तो फिर तुम अपने पुत्र का क्या शोक कर रहे हो । उसका शोक छोड़ दो ॥४४॥

भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम् ॥४५॥

हे सृञ्जय ! दुष्यन्त-पुत्र भरत भी मर गया, जो शकुन्तला का पुत्र महापराक्रमी और बहुत ऐश्वर्य से सम्पन्न था ॥४५॥

यो बद्ध्वा त्रिशतं चाश्वान्देवेभ्यो यमुनामनु ।
सरस्वतीं विंशतिं च गंगामनु चतुर्दश ॥४६॥

इस राजा भरत ने यमुना तट पर तीस, सरस्वती तट पर बीस, गङ्गा तट पर चौदह अश्व, देवों को प्रदान किए ॥४६॥

अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
इष्टवान्स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा ॥४७॥

महातेजस्वी दुष्यन्त-पुत्र भरत ने सहस्रों अश्वमेध और सैंकड़ों राजसूय यज्ञ किए थे ॥४७॥

भरतस्य महत्कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः ।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन् ॥४८॥

सारे राजाओं में भरत ने तीव्र कर्म कर डाले, उनको अन्य राजा इस तरह नहीं कर सकते, जैसे कोई पुरुष, अपनी भुजाओं से आकाश में नहीं उड़ सकता ॥४८॥

परं सहस्राद्यो बद्धान् हयान्वेदीर्वितत्य च ।
सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥४६॥

इसने यज्ञवेदी का विस्तार करके सहस्रों की संख्या से भी अधिक अरबों की संख्यामें अश्व दानकर डाले तथा कई पद्म रत्न, विभूषित अश्व, महर्षि कण्व को प्रदान किए ॥४६॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥५०॥

हे सृञ्जय ! तुम्हारे पुत्र से पवित्र चारों कल्याणों से युक्त राजा भरत भी जब मर चुके-तो तुमको अपने पुत्र का सन्ताप नहीं करना चाहिए ॥५०॥

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥

हे सञ्जय ! दशरथ-पुत्र राम को भी हमने मृत सुना है । जिसने अपनी प्रजा का अपने औरस पुत्र की भांति पालन किया था ॥५१॥

विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन् ।
सदैवासीत्पितृसमो रामो राज्यं यदन्वशात् ॥५२॥

इस राम के राज्य में कोई विधवा या अनाथ नहीं थे। इसने अपने पिता दशरथ के समान ही अयोध्या का शासन किया॥५२॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत् ।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥५३॥

जब राम पृथिवी का शासन कर रहे थे, तो समय पर मेघ बरसते थे और अन्न ठीक २ उत्पन्न होते थे। उनके राज्य में सर्वदा सुभिक्ष ही रहता था ॥५३॥

प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत् ॥
रुजा भयं न तत्रासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥५४॥

कोई भी उस समय जल में डूब कर नहीं मरते थे और न बुरे ढंग से आग लगती थी। राम के राजत्वकाल में किसी भी रोग का भय नहीं था ॥५४॥

आसन्वर्षसहस्रिण्यस्तथा वर्षसहस्रकाः।
अरोगाः सर्वसिद्धार्था रामे राज्यं प्रशासति ॥५५॥

हे राजन्! जिस समय राजा रामचन्द्र जी राज्य कर रहे थे, उस समय सारे स्त्री पुरुषों की सहस्रों वर्ष की आयु होती थी। किसी मनुष्य के शरीर में रोग नहीं था और सारे काम उनके सिद्ध होते थे ॥५५॥

नान्योन्येन विवादोऽभूत्स्त्रीणामपि कुतो नृणाम्।
धर्मनित्याः प्रजाश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥

श्रीरामचन्द्रजी के शासनकाल में परस्पर स्त्रियों तक में कोई लड़ाई झगड़ा या कलह नहीं होता था, फिर पुरुषों में किसी प्रकार के झगड़ा न होने की सम्भावना ही क्या हो सकती है। सारी प्रजा धर्म के सिवा अन्य कोई कार्य में आसक्त नहीं थी ॥५६॥

सन्तुष्टाः सर्वसिद्धार्था निर्भयाः स्वैरचारिणः ।
नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥५७॥
नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः ।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥५८॥

श्रीरामचन्द्र जी के राजत्वकाल में सारे वृक्ष नित्य पुष्प फल उत्पन्न करते और सब तरह के उपद्रवों से रहित थे। प्रत्येक गौ ऐसी मिलती थी, जो कम से कम सोलह सेर दूध देती थी॥५७-५८

स चतुर्दशवर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः ।
दशाश्वमेधान् जारूथ्यानाजहार निरर्गलान् ॥५९॥

इस महातपस्वी राम ने चौदह वर्ष वन में व्यतीत किए। इसके बाद उसने प्रशंसनीय दश अश्वमेध किए, जिनमें तिगुनी दक्षिणा दी गई और किसी प्रतिग्रही को आने से नहीं रोका॥५९॥

युवा श्यामो लोहिताक्षो मातङ्ग इव यूथपः ।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः ॥६०॥
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत् ॥६१॥

इनका वर्ण श्याम, युवावस्था और आंखें लाल थीं। ये यूथपति मातङ्ग की तरह बलवान और सुन्दर थे। इनकी जानु पर्यन्त बड़ी २ भुजा और सिंह के तुल्य स्कन्ध थे। श्रीराम ने ग्यारह सहस्र वर्ष पर्यन्त अयोध्या पुरी में राज्य का शासन किया।

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥६२॥

हे सृञ्जय ! तुम्हारे पुत्र से बड़े पवित्र, धर्म आदि चारों कल्याणों से युक्त, जब श्रीराम ही संसार से विदा हो गए—तो फिर तुम को अपने पुत्र का शोक नहीं करना चाहिए ॥६२॥

भगीरथं च राजानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः ॥६३॥
असुराणां सहस्राणि बहूनि सुरसत्तमः।
अजयद्बाहुवीर्येण भगवान्पाकशासनः ॥६४॥

हे सृञ्जय ! राजा भगीरथ बड़े प्रसिद्ध हो चुके हैं। वे मृत हो गए-यह हम सुन चुके हैं। इसी भागीरथ के विस्तृत यज्ञ में सुरश्रेष्ठ भगवान् पाकशासन इन्द्र ने सोमरस का पर्याप्त पान किया, जिससे वह मदोत्कट हो गया। इसी से उसने कई सहस्र असुर अपने बाहुबल के द्वारा जीत लिए थे ॥६३-६४॥

यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः ।
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ॥६५॥

इसी यज्ञकर्ता ने अपने विस्तृत यज्ञ में लाखों कन्याओं को सुवर्ण से विभूषित करके दक्षिणा में दे डाली थी ॥६५॥

सर्वा रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः ।
शतं शतं रथे नागाः पद्मिनो हेममालिनः ॥६६।

प्रत्येक कन्या रथ में बैठाई गई, जिसमें चार २ अश्व जुड़े हुए थे। इनके साथ सुवर्ण-माला-धारी पद्मचिन्ह से विभूषित सौ २ हाथी थे ॥६६॥

सहस्रमश्वा एकैकं हस्तिनं पृष्ठतोऽन्वयुः ।
गवां सहस्रमश्वेऽश्वे सहस्रं गव्यजाविकम् ॥६७॥

एक २ हाथी के पीछे एक २ सहस्र अश्व चल रहे थे। अश्व २ के पीछे एक २ सहस्र गायें थीं और गायों के साथ एक २ सहस्र भेड़ बकरियां भी थीं ॥६७॥

उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निषसाद ह ।
गङ्गा भागीरथी तस्मादुर्वशी चाभवन्नृप ॥६८॥

हिमालय के खोह से निकल कर गङ्गा, राजा भगीरथ की गोद में बैठ गई। इससे गङ्गा का नाम भागीरथी और उर्वशी पड़ा ॥६८॥

भूरिदक्षिणमिक्ष्वाकुं यजमानं भगीरथम् ।
त्रिलोकपथगा गङ्गा दुहितृत्वमुपेयुषी ॥६९॥

इक्ष्वाकुकुलश्रेष्ठ, राजा भगीरथ ने विपुल दक्षिणा वाले यज्ञ किए। तीनों लोकों में बहने वाली गङ्गा, इन ही भगीरथ की पुत्री कहलाती है ॥६९॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥७०॥

हे सृञ्जय ! यह भगीरथ भी तुम्हारे पुत्र से श्रेष्ठ और चारों कल्याणों से युक्त था। जब वह भी न रहा, तो तुमको अपने पुत्र का शोक नहीं करना चाहिए ॥७०॥

दिलीपं च महात्मानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ॥
य इमां वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ।
ददौ तस्मिन्महायज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥७२॥

हे सृञ्जय ! महापराक्रमी राजा दिलीप भी तुमने सुने होंगे । उनके उत्तम कर्मों का ब्राह्मण अब तक कीर्तन करते हैं । वे भी मर चुके हैं । इस राजा ने अपने महायज्ञ में बड़ी उदारता के साथ धन से भरी हुई पृथिवी ब्राह्मणों को दान में दे डाली थी ।

यस्येह यजमानस्य यज्ञे यज्ञे पुरोहितः ।
सहस्रं वारणान्हैमान्दक्षिणामत्यकालयत् ॥७३॥

इस यजमान राजा दिलीप के प्रत्येक यज्ञ में पुरोहित को सुवर्ण के आभूषणों से अलंकृत सहस्र हाथी दक्षिणा में दिए गए थे ॥७३॥

यस्य यज्ञे महानासीद्यूपः श्रीमान्हिरण्मयः ।
तं देवाः कर्म कुर्वाणाः शक्रज्येष्ठा उपाश्रयन् ॥७४॥

इसके यज्ञ में बड़ी कान्ति से युक्त सुवर्णमय यूप था । सर्वश्रेष्ठ इन्द्र के साथ सारे देवता इसके यज्ञ में पहुंचे थे ॥७४॥

चषाले यस्य सौवर्णे तस्मिन् यूपे हिरण्मये ।
ननृतुर्देवगन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ॥७५॥

अवादयत्तत्र वीणां मध्ये विश्वावसुः स्वयम् ।
सर्वभूतान्यमन्यन्त मम वादयतीत्ययम् ॥७६॥

उस सुवर्णयूप के ऊपर ढक्कन के ढंग पर लगने वाला चषाल भी सुवर्ण का ही था। छः हजार गन्धर्व संज्ञक देवता, नाच रहे थे। स्वयं विश्वावसु गन्धर्वराज, सातों स्वरों के अनुकूल अपनी वीणा बजा रहे थे। सारे श्रोता यही समझ रहे थे, कि यह वीणा मुझे ही सुनाने को बजा रहे हैं ॥७५-७६॥

एतद्राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे ।
यस्येभा हेमसञ्छन्नाः पथि मत्ताः स्म शेरते ॥७७॥

इस राजा दिलीप की अन्य कोई राजा बराबरी नहीं कर सका। इसके सुवर्ण के आभूषणों से विभूषित हाथी मार्ग में लेट लगाते रहते थे ॥७७॥

राजानं शतधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम् ।
येऽपश्यन्सुमहात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः ॥७८॥

हे राजन्! सैंकड़ों धनुषों को धारण करने वाले, सत्यवादी, महात्मा राजा दिलीप के जिन लोगों ने दर्शन कर लिए, वे भी स्वर्ग के अधिकारी हो गए-इसमें सन्देह नहीं है ॥७८॥

त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने ।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः ॥

राजा दिलीप के भवन में स्वाध्यायघोष, धनुष की ध्वनि और दान दो-ये तीन ध्वनि कभी शान्त नहीं होती थी ॥७९॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥८०॥

हे सृञ्जय ! जब सब कल्याणों से युक्त, तुम्हारे पुत्र से श्रेष्ठ राजा दिलीप भी मर गए, तो तुमको अपने पुत्र का सन्ताप नहीं करना चाहिए ॥८०॥

मान्धातारं यौवनाश्वं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यं देवा मरुतो गर्भं पितुः पार्श्वादपाहरन् ॥८१॥
समृद्धो युवनाश्वस्य जठरे यो महात्मनः ।
पृषदाज्योद्भवः श्रीमांस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥८२॥

हे सृञ्जय ! तुमने युवनाश्व के पुत्र राजा मान्धाता को सुना होगा-जिसको मरुत नामक देवों ने पिता की कुक्षि से बाहर निकाला था । महात्मा युवनाश्व के उदर में ही इसकी वृद्धि हुई । विधि शेष घृत के पान से कान्तिमान् त्रिलोक-विजयी राजा मान्धाता उत्पन्न हुए थे ॥८२॥

यं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देवरूपिणम् ।
अन्योन्यमब्रुवन्देवा कमयं धास्यतीति वै ॥८३॥
मामेव धास्यतीत्येवमिन्द्रोऽथाभ्युपपद्यत ।
मान्धातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः ॥८४॥

जब देवों ने इस मान्धाता को पिता की गोदी में देखा, तो परस्पर कहा, कि इसको कौन दूध पिलावेगा । तब इन्द्र ने कहा था, कि यह मेरा पान करेगा-इसीसे इसका नाम इन्द्र ने मान्धाता रखा ॥८३-८४॥

ततस्तु पयसो धारां पुष्टिहेतोर्महात्मनः ।
तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत् ॥
तं पिबन्पाणिमिन्द्रस्य शतमह्वा व्यवर्धत ।
स आसीद्द्वादशसमो द्वादशाहेन पार्थिवः ॥८६॥

इस महात्मा मान्धाता के पोषण के निमित्त इन्द्र की अंगुलि से दूध की धारा इसके मुख में गिरने लगी । इस बालक मान्धाता ने इन्द्र की उस अंगुलि का सौ दिन तक पान किया । बारह दिन में तो वह बालक मान्धाता बारह वर्ष का सा दिखाई देने लगा ॥८५-८६॥

तमिमं पृथिवी सर्वा एकाह्ना समपद्यत ।
धर्मात्मानं महात्मानं शूरमिन्द्रसमं युधि ॥८७॥
यथाङ्गारं तु नृपतिं मरुत्तमसितं गयम् ।
अङ्गं बृहद्रथं चैव मान्धाता समरेऽजयत् ॥८८॥

हे राजन् ! इस धर्मात्मा महाबली इन्द्र के समान पराक्रमी मान्धाता के समीप युद्ध में पृथिवी एक ही दिन में चली आई । इसने युद्ध में राजा आङ्गार, मरुत्त, असित, गय और अङ्गराज बृहद्रथ को जीत लिया ॥८७-८८॥

यौवनाश्वो यदाङ्गारं समरे प्रत्ययुध्यत ।
विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे ॥८९॥

हे राजन् ! युवनाश्व-पुत्र मान्धाता का जब राजा आङ्गार के साथ युद्ध हुआ-तो उसके धनुष की टङ्कार सुनकर देवों ने समझा कि आज आकाश फट जावेगा ॥८९॥

यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति ।
सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥९०॥

जहां सूर्य का उदय होता है और जहां छुपता है, उस सारे भूभाग पर युवनाश्व-पुत्र राजा मान्धाता का अधिकार था ॥९०॥

अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च ।
अददद्रोहितान्मत्स्यान्ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते ॥९१॥
हैरण्यान् योजनोत्सेधानायतान्दशयोजनम् ।
अतिरिक्तान्द्विजातिभ्यो व्यभजंस्त्वितरे जनाः ॥

हे विशाम्पते ! राजा मान्धाता ने सौ अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञ किए थे। इसने इन यज्ञों में एक योजन चौड़े और दश योजन लम्बे लाल सुवर्ण के बहुत से मत्स्य ब्राह्मणों को दान में दिए। ब्राह्मणों से अतिरिक्त अन्य वर्ण के लोगों को सुवर्ण की ढेरी प्रदान की, जिसे उन लोगों ने बांट लिया ॥९१-९२॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥९३॥

हे सृञ्जय ! तुम्हारे पुत्र से पुण्यात्मा, चारों कल्याणों से युक्त, यदि मान्धाता भी मर गया-तो तुमको अपने पुत्र का शोक नहीं करना चाहिए ॥९३॥

ययातिं नाहुषं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
य इमां पृथिवीं कृत्स्नां विजित्य सह सागराम् ॥

शम्यापातेनाभ्यतीयाद्वेदीभिश्चित्रयन्महीम् ।
ईजानः क्रतुभिर्मुख्यैः पर्यगच्छद्वसुन्धराम् ॥६५॥

हे सृञ्जय ! नहुष-पुत्र ययाति को हमने सुना है; वह भी मर चुका। इसने भी समुद्र-पर्यन्त सारी पृथिवी का विजय किया। इसने शम्या नामक यज्ञकाष्ठ के पातपर्यन्त वेदियाँ बनाकर सारी पृथिवी को चित्रित कर दिया था। इसने मुख्य २ यज्ञों से यजन किया और सारी पृथिवी की परिक्रमा की ॥६४-६५॥

इष्ट्वा क्रतुसहस्रेण वाजपेयशतेन च ।
तर्पयामास विप्रेन्द्रांस्त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः ॥६६॥

इसने सहस्रों यज्ञ किये और सैंकड़ों वाजपेय यज्ञ कर डाले तथा तीन सुवर्ण के पर्वत दान करके ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया।

व्यूढेनासुरयुद्धेन हत्वा दैतेयदानवान् ।
व्यभजत्पृथिवीं कृत्स्नां ययातिर्नहुषात्मजः ॥६७॥

नहुष-पुत्र ययाति ने घोर असुर युद्ध में दैत्य दानवों को मार डाला और सारी पृथिवी का यज्ञ में दान कर दिया ॥६७॥

अन्त्येषु पुत्रान्निक्षिप्य यदुद्रुह्युपुरोगमान् ।
पूरुं राज्येऽभिषिच्याथ सदारः प्राविशद्वनम् ॥६८॥

इसके अनन्तर यदु, द्रुह्य आदि अपने पुत्रों को राज्य न देकर, अपने छोटे पुत्र पूरु को राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त किया और आप स्त्री सहित वन को चला गया ॥६८॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥६६॥

हे सृञ्जय ! चारों कल्याणों से युक्त, तुम्हारे पुत्र से पवित्र, जब राजा ययाति भी मर गए, तो तुमको अपने पुत्र का कोई शोक नहीं करना चाहिए ॥६६॥

अम्बरीषं च नाभागं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यं प्रजा वव्रिरे पुण्यं गोप्तारं नृपसत्तमम् ॥१००॥

हे सृञ्जय ! नाभाग-पुत्र अम्बरीष को हमने सुना है, वह भी मर चुका, जिसको प्रजा ने स्वयं अपना रक्षक राजा चुना था ॥१०॥

यः सहस्रं सहस्राणां राज्ञामयुतयाजिनाम् ।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः सुसंहितः ॥१०१॥
नैनत्पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
इत्यम्बरीषं नाभागिमन्वमोदन्त दक्षिणाः ॥१०२॥

दशों हजार यज्ञ करने वाले राजाओं के मध्य में इन्होंने सहस्रों यज्ञ कर डाले और विस्तृत यज्ञ में ब्राह्मणों को सावधानी से दान दिया। आज तक किसी राजा ने इतना दान नहीं किया और न आगे कोई कर सकेगा। दक्षिणा लेने वाले, बहुत से ब्राह्मण इस विषय में नाभाग-पुत्र अम्बरीष की प्रशंसा करते जाते हैं ।

शतं राजसहस्राणि शतं राजशतानि च ।
सर्वेऽश्वमेधैरीजानास्तेऽन्वयुर्दक्षिणायनम् ॥१०३॥

इन अश्वमेध यज्ञों में लाखों हज़ारों की संख्या में जो राजा सम्मिलित थे, वे दक्षिणायन मार्ग को प्राप्त हुए ॥१०३॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१०४॥

हे सृञ्जय ! तुम्हारे पुत्र से भी पवित्र, चारों कल्याण से युक्त जब नाभाग-पुत्र अम्बरीष भी संसार से चले गए-तो तुमको अपने पुत्र का शोक नहीं करना चाहिए ॥१०४॥

शशबिन्दुं चैत्ररथं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यस्य भार्या सहस्राणां शतमासीन्महात्मनः ॥१०५॥
सहस्रं तु सहस्राणां यस्यासन् शाशबिन्दवाः ।
हिरण्यकवचाः सर्वे सर्वे चोत्तमधन्विनः ॥१०६॥
शतं कन्या राजपुत्रमेकैकं पृथगन्वयुः ।
कन्यां कन्यां शतं नागा नागं नागं शतं रथाः ।
रथे रथे शतं चाश्वा देशजा हेममालिनः ।
अश्वे अश्वे शतं गावो गवां तद्वदजाविकम् ।

हे सृञ्जय ! चित्ररथ-पुत्र राजा शशबिन्दु बड़े प्रसिद्ध राजा हो गए और वे भी मर चुके । इस महात्मा राजा शशबिन्दु के एक लाख भार्या थीं । जिनमें दश लाख पुत्र उत्पन्न हुए थे, इन सबके पास सुवर्ण के कवच और उत्तम धनुष थे । इन एक २ राजकुमार को सौ २ कन्याएँ विवाही गई । एक २ कन्या के साथ सौ २ हाथी और एक २ हाथी के साथ सौ २ रथ थे । एक २ रथ

के पीछे सौ २ देशज अश्व थे, जिनके गले में सुवर्ण मालाएँ पड़ी थीं। एक २ अश्व के पीछे सौ २ गाय और एक २ गाय के साथ सौ २ भेड़ बकरी थीं ॥१०५-१०८॥

एतद्धनमपर्यन्तमश्वमेधे महामखे।
शशबिन्दुर्महाराज ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥०९॥

हे महाराज! राजा शशबिन्दु ने इस सारे धन को लेकर अश्वमेध नामक महायज्ञ में ब्राह्मणों को दान कर दिया ॥१०९॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥११०॥

हे सृञ्जय! वह धर्म आदि चारों कल्याणों से युक्त, राजा शशबिन्दु भी मर गया, जो तुम्हारे पुत्र से कहीं उत्तम था। यह देखकर तुमको अपने पुत्र का शोक नहीं करना चाहिए ॥११०॥

गयं चामूर्तरयसं मृतं शुश्रुम सृञ्जय।
यः स वर्षशतं राजा हुतशिष्टाशनोऽभवत् ॥१११॥
यस्मै वह्निर्वरं प्रादात्ततो वव्रे वरान्गयः।
ददतो मेऽक्षयं वित्तं धर्मे श्रद्धा च वर्धताम् ॥
मनो मे रमतां सत्ये त्वत्प्रसादाद्धुताशन।
लेभे च कामांस्तान्सर्वान्पावकादिति नः श्रुतम् ॥

हे सृञ्जय! अमूर्तरय के पुत्र राजा गय को हमने सुना है, जो अब मृत्यु को पा चुके। इस राजा ने सौ वर्ष तक यज्ञ करके यज्ञ शेष हवि का भोजन किया था। अग्नि ने इस राजा को वर

मांगने को कहा। तब राजा गय ने वर मांगा, कि हे हुताशन ! मैं दान देता रहूँ और मेरा धन अक्षय बना रहे। मेरी धर्म में श्रद्धा कभी न्यून न होवे तथा आपके अनुग्रह से मेरा मन नरंतर सत्य में लगा रहे। उसको अग्नि से ये सारी कामनाएँ प्राप्त हो गई—यह हमने सुना है ॥१११-११३॥

दर्शे च पूर्णमासे च चातुर्मास्ये पुनः पुनः ।
अयजद्धयमेधेन सहस्रं परिवत्सरान् ॥११४॥

हे राजन् ! गय, दर्श और पौर्णमास्य तथा चातुर्मास्य यज्ञ के समय पर एक हजार वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करता रहा ॥११४॥

शतं गवां सहस्राणि शतमश्वतराणि च ।
उत्थायोत्थाय वै प्रादात्सहस्रं परिवत्सरान् ॥११५॥
तर्पयामास सोमेन देवान्वित्तैर्द्विजानपि ।
पितॄन्स्वधाभिः कामैश्च स्त्रियः स पुरुषर्षभ ॥११६॥

वह राजा एक सहस्र वर्षपर्यन्त जब २ यज्ञ की समाप्ति में उठता था, तो एक लाख गौ और एक लाख अश्व प्रदान किया करता था। हे पुरुषर्षभ ! इसने देवों को सोमरस और ब्राह्मणों को धन, पितरों को स्वधा और कामनाओं के दान से स्त्रियों को सन्तुष्ट कर दिया ॥११५-११६॥

सौवर्णां पृथिवीं कृत्वा दश व्यामां द्विरायताम् ।
दक्षिणामददद्राजा वाजिमेधे महाक्रतौ ॥११७॥

इस राजा गय ने दश व्याम चौड़ी और बीस व्याम लम्बी सुवर्ण की पृथिवी बनाकर महायज्ञ अश्वमेध में दक्षिणा में दी थी ॥११७॥

यावत्यः सिकता राजन् गङ्गायां पुरुषर्षभ ।
तावतीरेव गाः प्रदादामूर्तरयसो गयः ॥११८॥

हे पुरुषषभ ! अमूर्तरय के पुत्र गय ने इतनी गौएँ दान में दे डाली थी, जितनो गङ्गा के तट पर धूलि के कण विद्यमान हैं ।

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥११९॥

हे सृञ्जय ! जब सब कल्याणों से युक्त और तुम्हारे पुत्र से श्रेष्ठ राजा गय भी मर गए-तो तुमको अपने पुत्र का शोक नहीं करना चाहिए ॥११९॥

रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
सम्यगाराध्य यः शक्राद्वरं लेभे महातपाः ॥१२०॥

अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमन्मा च याचिष्म कञ्चन ॥

हे सृञ्जय ! हमने संकृत-पुत्र रन्तिदेव की कथा सुनी है, वे भी मर चुके हैं । इस महातपस्वी ने इन्द्र की बड़ी अच्छी तरह से पूजा की और उनसे वरदान प्राप्त किया, कि हमारे घर में बहुत सा अन्न होवे । सर्वदा अतिथि आते रहें । हमारी-श्रद्धा कभी न्यून न होवे तथा हम किसी से कुछ न मांगे ॥१२०-१२१॥

उपातिष्ठन्त पशवः स्वयं तं संशितव्रतम् ।
ग्राम्यारण्या महात्मानं रन्तिदेवं यशस्विनम् ॥
महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात्ससृजे यतः ।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥१२३॥

इस महात्मा, व्रतशाली, यशस्वी, महात्मा राजा रन्तिदेव के यज्ञ में गांव और वन के अनेक पशु आकर स्वयं इकट्ठे हो गए। इसके यज्ञ में हुए पशुवध के चर्म के रक्त से चर्मण्वती नदी बह निकली ॥१२२-१२३॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान्सदसि व्रतते नृपः ।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति क्रोशन्ति वै द्विजाः ॥
सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा ब्राह्मणान्संप्रपद्यते ।
अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् ॥१२५॥
घटाः पात्र्यः कटाहानि स्थाल्यश्च पिठराणि च ।
नासीत्किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥१२६॥

इस राजा रन्तिदेव ने यज्ञ के प्रवृत्त होने पर सुवर्ण मुद्राएँ दान में दी। ब्राह्मणों ने कहा-ये सुवर्ण मुद्रा हम न लेंगे, तुम्हीं रखो। तब राजा ने कहा, अच्छा? तुम लोगों को एक २ सहस्र सुवर्ण मुद्रा दी जावेगी, इस तरह वह सबको सुवर्ण मुद्रा दान में देता रहा। राजा रन्तिदेव के यज्ञ में जितने यज्ञ के पात्र, यज्ञ द्रव्य रखने के पात्र, घट, स्थाली, कड़ाही जो कुछ भी पात्र थे, वे सारे सुवर्ण के ही थे। सुवर्ण के बिना तो कोई पात्र दिखाई ही नहीं देता था ॥१२४-१२६॥

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे ।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः ॥

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा ॥१२८॥

संकृत-पुत्र राजा रन्तिदेव के घर पर जिस रात अतिथियों ने निवास किया, उस दिन एक सौ बीस हजार पशुओं का वध किया गया। उस समय अच्छे २ मणि कुण्डल पहिने हुए रसोइए पुकार रहे थे, कि अब पूर्ववत् मांस नहीं रहा। अब तुम केवल दाल से भोजन करो ॥१२७-१२८॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१२९॥

हे सृञ्जय! यदि धर्म-वैराग्य आदि चारों कल्याणों से युक्त तुम्हारे पुत्र से उत्तम राजा रन्ति-देव मर चुके, तो तुम फिर अपने पुत्र का अनुताप क्यों कर रहे हो ॥१२९॥

सगरं च महात्मानं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
ऐक्ष्वाकं पुरुषव्याघ्रमतिमानुषविक्रमम् ॥१३०॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तमनुजग्मिरे ।
नक्षत्रराजं वर्षान्ते व्यभ्रे ज्योतिर्गणा इव ॥१३१॥

हे सृञ्जय! महात्मा राजा सगर बड़े प्रसिद्ध राजा हुए, जो मर चुके। यह पुरुषव्याघ्र इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुआ था।

इसका पराक्रम मनुष्यों से बहुत बढ़ कर था। इसके साठ सहस्र पुत्र पीछे २ इस तरह चलते थे, जैसे शरद् ऋतु में मेघों के हट जाने पर चन्द्रमा के पीछे तारे चलते हैं ॥१३०-१३१॥

एकच्छत्रा मही यस्य प्रतापादभवत्पुरा।
योऽश्वमेधसहस्रेण तर्पयामास देवताः ॥१३२॥

इसके प्रताप से सारी पृथिवी पर एकच्छत्र चक्रवर्ती राज्य की स्थापना हो गई थी। इसने सहस्रों अश्वमेध करके देवताओं की तृप्ति की थी ॥१३२॥

यः प्रादात्कनकस्तम्भं प्रासादं सर्वकाञ्चनम्।
पूर्णं पद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥१३३॥

राजा सगर ने अपने यज्ञ के अन्त में सुवर्ण के स्तम्भ वाला सुवर्णमय प्रासाद (महल) कमल के समान नेत्रवाली स्त्रियां तथा शयनों से परिपूर्ण करके दान में दिया था ॥१३३॥

द्विजातिभ्योऽनुरूपेभ्यः कामांश्च विविधान्बहून्।
यस्यादेशेन तद्वित्तं व्यभजन्त द्विजातयः ॥१३४॥

राजा सगर ने उत्तम २ ब्राह्मणों की अनेक कामनाएं पूर्ण की। जो धनराशि ब्राह्मणों को दान में दी गई, ब्राह्मणों ने उसे न्यायानुकूल बांट लिया ॥१३४॥

खानयामास यः कोपात्पृथिवीं सागराङ्किताम्।
यस्य नाम्ना समुद्रश्च सागरत्वमुपागतः ॥१३५॥

इसने सारी पृथिवी को खोद डाला, जिससे उसमें समुद्र बनते चले गए। इसी के नाम से समुद्र, सागर कहलाये॥१३५॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥१३६॥

चारों कल्याणों से युक्त तथा तुम्हारे पुत्र से अधिक पुण्यात्मा सगर भी जब मर गया—तो तुम अपने पुत्र का क्या सोच कर रहे हो॥१३६॥

राजानं च पृथुं वैन्यं मृतं शुश्रुम सृञ्जय।
यमभ्यषिंचन्संभूय महारण्ये महर्षयः॥१३७॥
प्रथयिष्यति वै लोकान्पृथुरित्येव शब्दितः।
क्षताद्यो वै त्रायतीति स तस्मात्क्षत्रियः स्मृतः॥
पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन्।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत॥१३९॥

वेन–पुत्र राजा पृथु भी बड़े प्रतापी राजा थे, वे भी मर गए। महर्षियों ने इनका अभिषेक इकट्ठे होकर वन में ही किया था। इसने लोकों को फैला दिया था, इसी से इसका नाम भी पृथु हुआ। जो क्षत से रक्षा करे, उसे क्षत्रिय कहते हैं, इसी से यह सच्चा क्षत्रिय कहलाया। वेन–पुत्र राजा पृथु को देखकर प्रजा ने कहा, कि हम तुम्हारे अनुरक्त हैं। इस अनुराग के कारण ही ये अन्वर्थ राजा कहलाए॥१३७-१३९॥

अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु।
सर्वा द्रोणदुघा गावो वैन्यस्यासन्प्रशासतः॥१४०॥

हल के बिना जोते ही पृथिवी अनाज उत्पन्न करती थी और वृक्ष २ में मधु टपकता था। जब राजा पृथु राज्य कर रहे थे, तो उस समय सारी गाएँ सोलह सेर से कम दूध नहीं देती थीं ॥१४०॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्था मनुष्या अकुतोभयाः ।
यथाभिकाममवसन् क्षेत्रेषु च गृहेषु च ॥१४१॥

सारे मनुष्यों के अर्थ सिद्ध हो गए। किसी को रोग नहीं रहा। सारे मनुष्य भय रहित थे। जिसकी जैसी इच्छा थी, उसके अनुसार घर और क्षेत्र में रहते थे ॥१४०॥

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः ।
सरितश्चानुदीर्यन्त ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥१४२॥

जब राजा पृथु समुद्र यात्रा करते थे, तो जल स्तम्भित हो जाता था, नदियां इधर उधर फट जाती थीं और कहीं पर भी उनकी ध्वजा का भङ्ग नहीं होता था ॥१४२॥

हैरण्यांस्त्रिनलोत्सेधान्पर्वतानेकविंशतिम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ राजा योऽश्वमेधे महामखे ॥१४३॥

राजा पृथु ने तीन नल (एक सहस्त्र हाथ के लगभग) इक्कीस पर्वत बनाए और अश्वमेध नामक महायज्ञ में उन्हें ब्राह्मणों को दान में दे दिए ॥१४३॥

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१४४॥

हे सृञ्जय ! जब सारे कल्याणों से युक्त तथा तुम्हारे पुत्र से पवित्र राजा पृथु मर गए—तो तुम अपने साधारण पुत्र का क्या सोच करते हो ॥१४४॥

किन्न तूष्णीं ध्यायसे सृञ्जयत्वंनमेराजन्वाचमिमांशृणोषि ।
न चेन्मोघं विप्रलप्तं ममेदं पथ्यं मुमूर्षोरिव सुप्रयुक्तम् ॥

हे सृञ्जय ! तुम चुपचाप क्या सोचने लग गए ? हे राजन ! मेरी बात कैसे नहीं सुन रहे हो, यदि सचमुच ? आपने मेरे वचन नहीं सुने, तो मेरा यह बकना सारा व्यर्थ हो गया और मरने वाले को पथ्य औषध की भांति तुम्हारे कुछ भी काम नहीं आया ॥१४५॥

सृञ्जय उवाच-

शृणोमि तेनारदवाचमेनांविचित्रार्थां स्रजमिव पुण्यगन्धाम् ।
राजर्षीणांपुण्यकृतांमहात्मनांकीर्त्यायुक्तानांशोकनिर्नाशनार्थाम्

सृञ्जय ने कहा—हे नारद ! सुगन्धित पुष्पों से युक्त माला की भांति विचित्र अर्थ वाली, तुम्हारी वाणी मैंने सुनली है, जो कीर्ति से युक्त पुण्यात्मा राजर्षियों के शोक के नाश करने में समर्थ है ॥१४६॥

न ते मोघं विप्रलप्तं महर्षे दृष्ट्वैवाहं नारद त्वां विशोकः ।
शुश्रूषे ते वचनं ब्रह्मवादिन्न ते तृप्याम्यमृतस्येव पानात् ॥

हे महर्षे ! तुम्हारी बात निरर्थक और प्रलाप नहीं है। हे नारद ! मैं तो तुमको देखते ही शोक रहित हो गया। हे ब्रह्मवादिन्!

मैं तुम्हारे वचन और सुनना चाहता हूं। जिनको सुनने से ऐसे तृप्ति नहीं होती है, जैसे अमृतपान से नहीं होती है ॥१४७॥

अमोघदर्शिन्मम चेत्प्रसादं सन्तापदग्धस्य विभो प्रकुर्याः ।
सुतस्य संजीवनमद्य मे स्यात्तवप्रसादात्सुतसङ्गमश्च ॥

हे अमोघदर्शिन् विभो ! यदि आप सन्ताप से दग्ध मुझ पर कोई अनुग्रह करना चाहते हो—तो मेरे पुत्र का जीवन हो जावे। आपकी कृपा से फिर मेरे पुत्र का मुझसे मिलाप हो—मेरी यही प्रार्थना है ॥१४८॥

नारद उवाच-

यस्ते पुत्रो गमितोऽयं विजातः स्वर्णष्ठीवी यमदात्पर्वतस्ते
पुनस्तु ते पुत्रमहं ददामि हिरण्यनाभं वर्षसहस्रिणं च ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षोडशराजोपाख्याने एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥२९॥

नारद ने कहा—हे राजन् ! तुम्हें जो सुवर्णष्ठीवी (सुवर्ण थूकने वाला) पुत्र महर्षि पर्वत के वरदान से प्राप्त हुआ और वह आज मर कर पृथिवी में पड़ा है, मैं फिर उसी हिरण्यनाभ पुत्र को एक सहस्र वर्ष के लिए तुम्हें प्रदान करता हूँ ॥१४९॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में सोलह राजाओं के उपाख्यान का उनतीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



तीसवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

स कथं काञ्चनष्ठीवी सृञ्जयस्य सुतोऽभवत् ।
पर्वतेन किमर्थं वा दत्तस्तेन ममार च ॥१॥
यदा वर्षसहस्रायुस्तदा भवति मानवः ।
कथमप्राप्तकौमारः सृञ्जयस्य सुतो मृतः ॥२॥
उताहो नाममात्रं वै सुवर्णष्ठीविनोऽभवत् ।
कथं वा काञ्चनष्ठीवीत्येतदिच्छामि वेदितुम् ॥३॥

युधिष्ठिर बोले—हे महाभाग! यह सुवर्णष्ठीवी राजा सृञ्जय का पुत्र किस तरह बना । पर्वत ने उसे कैसे दान किया और वह अकाल में ही कैसे मर गया । जब उस समय में एक सहस्र वर्ष की आयु हो सकती थी, तो सृञ्जय का पुत्र बालक अवस्था में ही कैसे मर गया । क्या यह राजा सृञ्जयका पुत्र नाममात्र का सुवर्ण-ष्ठीवी पुत्र था या यह अन्वर्थ ही सुवर्णष्ठीवी-पुत्र था । यह सब कुछ बताओ ॥१-३॥

श्रीकृष्ण उवाच—

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं जनेश्वर ।
नारदः पर्वतश्चैव द्वावृषी लोकसत्तमौ ॥४॥
मातुलो भागिनेयश्च देवलोकादिहागतौ ।

श्रीकृष्ण ने कहा—हे जनेश्वर ! मैं तुमको इस विषय की सारी कथा सुनाता हूं । नारद और पर्वत नामक दो ऋषि जगत प्रसिद्ध

थे। वे देव लोक से आए थे और सम्बन्ध में मातुल और भागिनेय थे ॥४॥

विहर्तुकामौ संप्रीत्या मानुषेषु पुरा विभो ॥५॥
हविः पवित्रभोज्येन देवभोज्येन चैव हि ।
नारदो मातुलश्चैव भागिनेयश्च पर्वतः ॥६॥

हे विभो ! पूर्वकाल में इन दोनों ऋषियों ने प्रेम-पूर्वक मनुष्यों में घूमना चाहा। उनकी इच्छा पवित्र हवि और देव भोज्य पदार्थों के भोजन की थी। इनमें नारद मामा और पर्वत भानजा था॥ ५-६॥

तावुभौ तपसोपेताववनीतलचारिणौ ।
भुञ्जानौ मानुषान्भोगान् यथावत्पर्यधावताम् ॥७॥

ये दोनों ही तपस्वी,पृथिवी पर घूमते थे और मनुष्य के भोगने योग्य भोगों का उपभोग करते हुए इधर उधर जाते आते रहते थे ॥७॥

प्रीतिमन्तौ मुदा युक्तौ समयं चैव चक्रतुः ।
यो भवेद्धृदि सङ्कल्पः शुभो वा यदि वाऽशुभः ॥८॥
अन्योन्यस्य समाख्येयो मृषा शापोऽन्यथा भवेत् ।

इन्होंने आनन्द और प्रीति से युक्त होकर एक समय (शर्त) निश्चित किया, कि जिस किसी के मन में शुभ वा अशुभ कुछ भी सङ्कल्प उठे, वह एक दूसरे को बता दे—अन्यथा शाप का भागी होना पड़ेगा ॥८॥

तौ तथेति प्रतिज्ञाय महर्षी लोकपूजितौ ॥९॥
सृञ्जयं श्वैत्यमभ्येत्य राजानमिदमूचतुः ।
आवां भवति वत्स्यावः कञ्चित्कालं हिताय ते ॥१०॥

वे लोकपूजित दोनों महर्षि इस विषय में प्रतिज्ञा करके श्वेत-पुत्र राजा सृञ्जय के पास जाकर यह वचन बोले—हे राजन्! हम दोनों कुछ काल तक तुम्हारे हित करने के निमित्त तुम्हारे यहां ठहरना चाहते हैं। हे पृथिवीपाल! तुम हमारी यथायोग्य सेवा शुश्रूषा करना स्वीकार करो ॥९-१०॥

यथावत्पृथिवीपाल आवयोः प्रगुणीभव ।
तथेति कृत्वा राजा तौ सत्कृत्योपचचार ह ॥११॥

राजा ने उनकी बात मान ली और आदर सत्कार-पूर्वक उनकी सेवा शुश्रूषा करने लगा ॥११॥

ततः कदाचित्तौ राजा महात्मानौ तपोधनौ ।
अब्रवीत्परमप्रीतः सुतेयं वरवर्णिनी ॥१२॥
एकैव मम कन्यैषा युवां परिचरिष्यति ।
दर्शनीयाऽनवद्याङ्गी शीलवृत्तसमाहिता ॥१३॥
सुकुमारी कुमारी च पद्मकिंजल्कसुप्रभा ।
परमं सौम्यमित्युक्तं ताभ्यां राजा शशास ताम् ॥१४॥
कन्ये विप्रावुपचर देववत्पितृवच्च ह ।

एक दिन उन दोनों तपोधन महात्माओं से राजा प्रसन्नता के साथ कहने लगा—हे महर्षे! यह मेरी एक कन्या तुम दोनों

की सेवा करती रहेगी, जो बड़ी सुन्दर, उत्तम २ अङ्गों से युक्त और सदाचार से सम्पन्न है। इस कन्या के कमल के कोमल पत्र के समान सुकुमार अङ्ग हैं। उन दोनों ने कहा, बड़ी अच्छी बात है। राजा ने अब उस कन्या से कहा—हे कन्ये! तुम इन दोनों ब्राह्मणों की देव और पितरों की तरह पूजा करते रहना ॥१२-१४॥

सा तु कन्या तथेत्युक्त्वा पितरं धर्मचारिणी ॥१५॥
यथा निदेशं राज्ञस्तौ सत्कृत्योपचचार ह ।

उस धर्मचारिणी कन्या ने भी अपने पिता से सब कुछ स्वीकार कर लिया और वह अपने पिता की आज्ञा के अनुसार उन दोनों महर्षियों की सत्कार-पूर्वक सेवा करने लगी ॥१५॥

तस्यास्तेनोपचारेण रूपेणाप्रतिमेन च ॥१६॥
नारदं हृच्छयस्तूर्णं सहसैवाभ्यपद्यत ।

उस कन्या की उत्तम प्रकार से की गई सेवा और अद्भुत रूप सम्पत्ति पर नारद मोहित हो गए और उसके हृदय में कामदेव का संचार हो गया ॥१६॥

ववृधे हि ततस्तस्य हृदि कामो महात्मनः ॥१७॥
यथा शुक्लस्य पक्षस्य प्रवृत्तो चन्द्रमाः शनैः ।

अब नारद जी के हृदय में कामदेव इस तरह धीरे २ बढ़ने लगा, जैसे शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा धीरे २ बढ़ने लगता है ॥१७॥

न च तं भागिनेयाय पर्वताय महात्मने ॥१८॥
शशंस हृच्छयं तीव्रं व्रीडमानः स धर्मवित् ।

नारदजी ने अपने भानजे, पर्वत से यह बात प्रकट नहीं की, क्योंकि नारद भी धर्म के ज्ञाता थे और इस बात के प्रकट करने में उन्हें लज्जा आती थी ॥१८॥

तपसा चेङ्गितैश्चैव पर्वतोऽथ बुबोध तम् ॥१९॥
कामार्तं नारदं क्रुद्धः शशापैनं ततो भृशम् ।

हे राजन ! अपने तप और नारद के हावभावों से पर्वत इस घटना को समझ गया। वह कुपित हो उठा और कामार्त नारद को उम्र रूप में शाप देने लगा ॥१९॥

कृत्वा समयमव्यग्रो भवान् वै सहितो मया ॥२०॥
यो भवेद्धृदि सङ्कल्पः शुभो वा यदि वाऽशुभः ।
अन्योन्यस्य स आख्येय इति तद्वै मृषा कृतम् ॥२१॥
भवता वचनं ब्रह्मं स्तस्मादेष शपाम्यहम् ।

हे ब्रह्मन् ! आपने हमसे निश्चित किया था, कि जो हम लोगों के हृदय में शुभ या अशुभ कुछ भी सङ्कल्प होगा, उसे हम एक दूसरे पर प्रकट कर देंगे। आज आपने उस नियम का भङ्ग कर दिया, इससे मैं आपको शाप दिए बिना नहीं रहूँगा ॥२०-२१॥

न हि कामं प्रवर्तन्तं भवानाचष्ट मे पुरा ॥२२॥
सुकुमार्यां कुमार्यां ते तस्मादेष शपाम्यहम् ।
ब्रह्मचारी गुरुर्यस्मात्तपस्वी ब्राह्मणश्च सन् ॥ २३॥
अकार्षीः समयभ्रंशमावाभ्यां यः कृतो मिथः ।
शप्स्ये तस्मात्सुसंक्रुद्धो भवन्तं तं निबोध मे ॥२४॥

आपके हृदय में इस सुकुमारी कुमारी को लक्ष्य करके कामदेव की जागृति हो गई और आपने मुझसे इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा। आप तो ब्रह्मचारी और तपस्वी ब्राह्मण थे। तुमने गुरु होकर भी की गई प्रतिज्ञा का नाश कर दिया, जो हम लोगों ने पूर्व में निश्चित किया था। अब मैं कुपित हो उठा हूं और आप को शाप देना चाहता हूँ। आप ध्यान से सुन लें ॥२३-२४॥

सुकुमारी च ते भार्या भविष्यति न संशयः।
वानरं चैव ते रूपं विवाहात्प्रभृति प्रभो ॥२५॥
संद्रक्ष्यन्ति नराश्चान्ये स्वरूपेण विनाशनम्।

हे प्रभो! यह सुकुमारी कन्या आपकी भार्या तो हो जावेगी, परन्तु विवाह काल से ही तुम्हारा वानर का रूप सारे मनुष्यों को दिखाई देने लगेगा और यह सुन्दर रूप नष्ट हो जावेगा ॥२५॥

स तद्वाक्यं तु विज्ञाय नारदः पर्वतं तथा ॥२६॥
अशपत्तमपि क्रोधाद्भागिनेयं स मातुलः।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥२७॥
युक्तोऽपि नित्यधर्मश्च न वै स्वर्गमवाप्स्यसि।

हे राजन! मातुल-भूत नारदजी पर्वत के ये वाक्य सुनकर कुपित हो उठे और उन्होंने अपने भानजे पर्वत को इस प्रकार शाप दिया। हे पर्वत! तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, दम आदि उत्तम गुणों से युक्त होकर और नित्य धर्म परायण होकर भी तुम स्वर्ग प्राप्त नहीं कर सकोगे ॥२६-२७॥

तौ तु शप्त्वा भृशं क्रुद्धौ परस्परममर्षणौ ॥२८॥
प्रतिजग्मतुरन्योन्यं क्रुद्धाविव गजोत्तमौ ।

इन दोनों ने क्रोध में भर कर एक दूसरे को शाप दे डाला और क्रोध में भरे हुए मदोद्धत हाथियों की भांति अपने २ अभीष्ट स्थान को चले गए ॥२८॥

पर्वतः पृथिवीं कृत्स्नां विचचार महामतिः ॥२९॥
पूज्यमानो यथान्यायं तेजसा स्वेन भारत ।

हे भारत ! महाबुद्धिमान्, महर्षि पर्वत अपने तेज के कारण जहां जाते, वहीं पूजित होते थे । इस तरह वे सारी पृथिवी पर घूमते रहे ॥२९॥

अथ तामलभत्कन्यां नारदः सृञ्जयात्मजाम् ॥३०॥
धर्मेण विप्रप्रवरः सुकुमारीमनिन्दिताम् ।

अब अकेले नारदजी रह गए । उन ब्रह्मर्षि ने सर्वाङ्ग-सुन्दरी राजा सृञ्जय की सुकुमारी पुत्री को धर्म-पूर्वक ग्रहण कर लिया ।

सा तु कन्या यथा शापं नारदं तं ददर्श ह ॥३१॥
पाणिग्रहणमन्त्राणां नियोगादेव नारदम् ।

हे राजन् ! जब पाणिग्रहण के मन्त्रों का उच्चारण हुआ तो उसी समय से उस कन्या को शाप के कारण नारद का वानर का सा रूप दिखाई देने लगा ॥३१॥

सुकुमारी च देवर्षिं वानरप्रतिमाननम् ॥३२॥
नैवावमन्यत तदा प्रीतिमत्येव चाभवत् ।

यद्यपि वह कन्या सुन्दरी थी, परन्तु उसने वानर के समान मुख वाले नारद का भी कोई अपमान नहीं किया और वह उनमें भक्ति ही रखने लगी ॥२२॥

उपतस्थे च भर्तारं न चान्यं मनसाऽप्यगात् ॥२३॥

देवं मुनिं वा यक्षं वा पतित्वे पतिवत्सला।

वह अपने पति नारद की सेवा करती रहती और मन से भी अन्य किसी देव, मुनि, यक्ष को पति रूप में नहीं देखना चाहती थी, क्योंकि वह पतिव्रता थी ॥२३॥

ततः कदाचिद्भगवान्पर्वतोऽनुचचार ह ॥२४॥

वनं विरहितं किंचित्तत्रापश्यत्स नारदम्।

कुछ समय के अनन्तर महर्षि पर्वत ने वन में घूमते हुए अकेले नारद को देखा ॥२४॥

ततोऽभिवाद्य प्रोवाच नारदं पर्वतस्तदा ॥२५॥

भवान्प्रसादं कुरुतात्स्वर्गादेशाय मे प्रभो।

पर्वत मुनि ने नारदजी को प्रणाम करके कहा—हे प्रभो! आप अनुग्रह करें और स्वर्ग में नहीं जाने का शाप लौटा लें ॥२५॥

तमुवाच ततो दृष्ट्वा पर्वतं नारदस्तथा ॥२६॥

कृताञ्जलिमुपासीनं दीनं दीनतरः स्वयम्।

नारद स्वयं दीन हो रहे थे, उन्होंने बड़े दीन रूप में हाथ जोड़कर उपस्थित हुए पर्वत मुनि को देखा ॥२६॥

त्वयाऽहं प्रथमं शप्तो वानरस्त्वं भविष्यसि ॥३७॥
इत्युक्तेन मया पश्चाच्छप्तस्त्वमपि मत्सरात्।
अद्य प्रभृति वै वासं स्वर्गे नावाप्स्यसीति ह ॥३८॥

हे पर्वत ! तुमने ही प्रथम मुझे शाप दिया है, कि तुम वानर के रूप वाले होंगे। जब तुमने शाप दे दिया, तब मैंने चिढ़कर प्रत्युत्तर के रूप में शाप दिया था, कि अब तुम्हारा स्वर्ग में वास नहीं होगा ॥३७-३८॥

तव नैतद्धिसदृशं पुत्रस्थाने हि मे भवान्।
निवर्तयेतां तौ शापावन्योन्येन तदा मुनी ॥३९॥

तुमको यह उचित नहीं था। तुम तो मेरे पुत्र के सदृश थे। इस प्रकार उन दोनों मुनियों ने एक दूसरे के ऊपर से शाप हटा लिये ॥३९॥

श्रीसमृद्धं तदा दृष्ट्वा नारदं देवरूपिणम्।
सुकुमारी प्रदुद्राव परपत्यभिशङ्कया ॥४०॥

देव के समान रूपधारी, कान्ति से प्रदीप्त महामुनि नारद को देखकर वह कन्या पर पति की आशङ्का से दूर भाग गई ॥४०॥

तां पर्वतस्ततो दृष्ट्वा प्रद्रवन्तीमनिन्दिताम्।
अब्रवीत्तव भर्तैष नात्र कार्या विचारणा ॥४१॥

जब महर्षि पर्वत ने उस सुन्दरी कन्या को भागते देखा-तो वे उससे बोले—हे सुन्दरि ! ये तुम्हारे भर्ता नारदजी ही हैं, तुम कुछ सोच विचार न करो ॥४१॥

ऋषिः परमधर्मात्मा नारदो भगवान्प्रभुः ।
तवैवाभेद्यहृदयो मा तेऽभूदत्र संशयः ॥४२॥

ये परम धर्मात्मा, भगवान् महर्षि नारदजी ही हैं। जिनका तुम्हारा एक ही हृदय है। तुम कुछ संशय न करो ॥४२॥

सानुनीता बहुविधं पर्वतेन महात्मना ।
पर्वतोऽथ ययौ स्वर्गं नारदोऽप्यगमद् गृहान् ॥४३॥

महात्मा पर्वत ने अनेक प्रकार से प्रार्थना की । अब पर्वत स्वर्ग में गया और नारदजी भी अपने घर गए ॥४३॥

वासुदेव उवाच—प्रत्यक्षकर्ता सर्वस्य नारदो भगवानृषिः ।
एष वक्ष्यति ते पृष्टो यथा वृत्तं नरोत्तम ॥४४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
नारदपर्वतोपाख्याने त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

श्रीकृष्ण बोले—हे नरोत्तम ! ये भगवान् नारदजी स्वयं यहां उपस्थित हैं, जिन्होंने यह लीला स्वयं की है । यदि इनसे आप पूछेंगे तो ये स्वयं आगे की कथा आपको बता देंगे ॥४४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में नारद पर्वत उपाख्यान का तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

—०००—

इकतीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततो राजा पाण्डुसुतो नारदं प्रत्यभाषत ।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि सुवर्णष्ठीविसंभवम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले · हे राजन् ! अब पाण्डु-पुत्र धर्मराज ने नारद जी से पूछा—हे भगवन् ! मैं सुवर्णष्ठीवी के उत्पन्न होने की कथा सुनना चाहता हूँ ॥१॥

एवमुक्तस्तु स मुनिर्धर्मराजेन नारदः ।
आचचक्षे यथावृत्तं सुवर्णष्ठीविनं प्रति ॥२॥

हे राजन् ! जब धर्मराज ने मुनिराज नारदजी से यह पूछा-तो वे सुवर्णष्ठीवी के उत्पत्ति के विषय को लेकर सारा वृत्तान्त सुनाने लगे ॥२॥

नारद उवाच— एवमेतन्महाबाहो यथाऽयं केशवोऽब्रवीत् ।
कार्यस्यास्य तु यच्छेषं तत्ते वक्ष्यामि पृच्छतः ॥३॥

नारदजी कहने लगे—हे महाबाहो ! बात इसी तरह है, जिस तरह श्रीकृष्ण ने कहा है । अब आपने आगे का वृत्तान्त पूछा है, जिससे मैं तुमको शेष सारा वृत्तान्त सुनाना चाहता हूँ॥३॥

अहं च पर्वतश्चैव स्वस्रीयो मे महामुनिः ।
वस्तुकामावभिगतौ सृञ्जयं जयतां वरम् ॥४॥

हे राजन ! मैं नारद और मेरी बहिन का पुत्र महामुनि पर्वत, कुछ दिन रहने के लिए जयशील राजा सृञ्जय के यहां पहुँचे ॥४॥

तत्रावां पूजितौ तेन विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सर्वकामैः सुविहितौ निवसावोऽस्य वेश्मनि ॥५॥

राजा सृञ्जय ने हम दोनों की शास्त्रानुसार पूजा की । उसने हमारी सारी कामनाएँ पूर्ण की । हम भी इसके घर में रहने लगे ।

व्यतिक्रान्तासु वर्षासु समये गमनस्य च ।
पर्वतो मामुवाचेदं काले वचनमर्थवत् ॥६॥

जब वर्षाकाल व्यतीत हुआ और हमारे चलने का समय आकर उपस्थित हुआ-तो पर्वत मुनि ने समयानुकूल यह वचन मुझसे कहा—॥६॥

आवामस्य नरेन्द्रस्य गृहे परमपूजितौ ।
उषितौ समये ब्रह्मंस्तद्विचिन्तय साम्प्रतम् ॥७॥

हे ब्रह्मन् ! हम दोनों इस राजा के घर पर बड़ी पूजा के साथ स्थित रहे हैं । अब इसका क्या उपकार करना चाहिए-यह आप को विचारना है ॥७॥

ततोऽहमब्रुवं राजन्पर्वतं शुभदर्शनम् ।
सर्वमेतत्त्वयि विभो भागिनेयोपपद्यते ॥८॥

हे राजन् ! मैंने तप से देदीप्यमान पर्वत मुनि से कहा—हे भागिनेय ! तुम सब कुछ कर सकते हो—तुम्हारी इच्छा हो-सो इसको प्रदान करो ॥८॥

वरेण च्छन्द्यतां राजा लभतां यद्यदिच्छति ।
आवयोस्तपसा सिद्धिं प्राप्नोतु यदि मन्यसे ॥९॥

तुम राजा सृञ्जय से वर मांगने के लिए कहो । जो उसकी इच्छा हो वह वर मांग लेवे। यदि तुम्हारी इच्छा हो-तो हम दोनों के तप से राजा सृञ्जय भी कुछ लाभ उठा लेवे ॥९॥

तत आहूय राजानं सृञ्जयं जयतां वरम् ।
पर्वतोऽनुमतो वाक्यमुवाच कुरुपुङ्गव ॥१०॥

हे कुरुपुङ्गव ! पर्वत मुनि ने विजयशील राजा सृञ्जय को बुलाया और उसकी इच्छा के अनुकूल यह वचन कहा ॥१०॥

प्रीतौ स्वो नृप सत्कारैर्भवदार्जवसंभृतैः ।
आवास्यामभ्यनुज्ञातो वरं नृवर चिन्तय ॥११॥

हे नृप ! नम्रता से पूर्ण, आपके सत्कारों से हम प्रसन्न हो चुके हैं। हे नरश्रेष्ठ ! हम दोनों आपको वरदान दे रहे हैं। जो आप की इच्छा हो-वह मांग लो ॥११॥

देवानामविहिंसायां न भवेन्मानुपक्षयम् ।
तद् गृहाण महाराज पूजार्हो नौ मतो भवान् ॥१२॥

हे महाराज ! देवों के कार्य विघातन करने से मनुष्यों का क्षय नहीं होता है। तुम यह विचार कर कुछ भी वर मांग लो। हम दोनों आपको बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते हैं ॥१२॥

सृञ्जय उवाच—प्रीतौ भवन्तौ यदि मे कृतमेतावता मम ।
एष एव परो लाभो निर्वृत्तो मे महाफलः ॥१३॥

सृञ्जय ने कहा—हे महाभागो ! यदि आप दोनों मेरे ऊपर प्रसन्न हो गए-तो इससे ही मुझे सब कुछ लाभ हो गया । प्रसन्न होकर ही आपने सब कुछ कर दिया और महान् फल की प्राप्ति हो गई ॥१३॥

तमेवं वादिनं भूयः पर्वतः प्रत्यभाषत ।
वृणीष्व राजन्सङ्कल्पं यस्ते हृदि चिरं स्थितम् ॥१४॥

जब राजा सृञ्जय ने इतना कहा तो पर्वत कहने लगा—हे राजन् ! जो आपके चित्त में चिरकाल से सङ्कल्प स्थित हो, उसे आज मांग लो ॥१४॥

सृञ्जय उवाच— अभीप्सामि सुतं वीरं वीर्यवन्तं दृढव्रतम् ।
आयुष्मन्तं महाभागं देवराजसमद्युतिम् ।

सृञ्जय बोले—हे महर्षे ! मैं महापराक्रमी, दृढ़व्रती, आयुष्मान्, भाग्यशाली, देवराज के समान कान्तिशील, राजवीर पुत्र की अभिलाषा करता हूं ॥१५॥

पर्वत उवाच—भविष्यत्येष ते कामो न त्वायुष्मान्भविष्यति ।
देवराजाभिभूत्यर्थं सङ्कल्पो ह्येष ते हृदि ॥१६॥
ख्यातः सुवर्णष्ठीवीति पुत्रस्तव भविष्यति ।
रक्ष्यश्च देवराजात्स देवराजसमद्युतिः ॥१७॥

पर्वत ने कहा—हे राजन् ! तेरा यह सङ्कल्प पूर्ण तो हो जावेगा, परन्तु यह सङ्कल्प देवराज इन्द्र के पराजित करने के निमित्त है, इससे तुम्हारा पुत्र चिरायु नहीं हो सकेगा। तुम्हारे

पुत्र का नाम सुवर्णष्ठीवी होगा। इस देवराज के समान कान्ति-धारी अपने पुत्र सुवर्णष्ठीवी की तुम देवराज इन्द्र से रक्षा करते रहना ॥१६-१७॥

तच्छ्रुत्वा सृञ्जयो वाक्यं पर्वतस्य महात्मनः ।
प्रसादयामास तदा नैतदेवं भवेदिति ॥१८॥

महात्मा पर्वत के वचन सुनकर राजा सृञ्जय ने मुनि को प्रसन्न करते हुए कहा—हे भगवन्! ऐसा नहीं होना चाहिये ॥१८॥

आयुष्मान्मे भवेत्पुत्रो भवतस्तपसा मुने ।
न च तं पर्वतः किंचिदुवाचेन्द्रव्यपेक्षया ॥१९॥

हे मुने! मेरा पुत्र तो आपके तप के प्रभाव से आयुष्मान् होना चाहिये, परन्तु इन्द्र से दबकर पर्वत ने राजा सृञ्जय से कुछ भी नहीं कहा ॥१९॥

तमहं नृपतिं दीनमब्रुवं पुनरेव च ।
स्मर्तव्योऽस्मि महाराज दर्शयिष्यामि ते सुतम् ॥२०॥

हे महाराज! जब मैंने राजा सृञ्जय को बहुत दुःखी और उदास देखा, तो मैंने कहा—तुम मुझे याद कर लेना—भगवान् की दया से मैं तुमको तुम्हारे पुत्र के दर्शन करा दूँगा ॥२०॥

अहं ते दयितं पुत्रं प्रेतराजवशं गतम् ।
पुनर्दास्यामि तद्रूपं मा शुचः पृथिवीपते ॥२१॥

हे पृथिवीपते! यमराज के वश में पहुंचे हुए तुम्हारे प्रिय सुन्दर पुत्र को मैं प्रदान कर दूंगा—तुम चिन्ता न करो ॥२१॥

एवमुक्त्वा तु नृपतिं प्रयातौ स्वो यथेप्सितम् ।
सृञ्जयश्च यथाकामं प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥२२॥

हे राजन! हम दोनों इस तरह राजा सृञ्जय से कहकर अपने २ अभीष्ट स्थान को चले गए। राजा सृञ्जय भी अपनी इच्छानुसार अपने महल में चला गया ॥२२॥

सृञ्जयस्याथ राजर्षेः कस्मिंश्चित्कालपर्यये ।
जज्ञे पुत्रो महावीर्यस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥२३॥

हे राजन्! कुछ समय के चले जाने पर राजा सृञ्जय के महाबली तेज से प्रज्वलित, राजपुत्र उत्पन्न हुआ ॥२३॥

ववृधे स यथाकालं सरसीव महोत्पलम् ।
बभूव काञ्चनष्ठीवी यथार्थं नाम तस्य तत् ॥२४॥

हे राजन्! सरोवर में कमल के समान समयानुसार वह पुत्र बढ़ने लगा। यह सुवर्ण उगला करता था, इससे इसका नाम भी सुवर्णष्ठीवी पड़ गया ॥२४॥

तदद्भुततमं लोके पप्रथे कुरुसत्तम ।
बुबुधे तच्च देवेन्द्रो वरदानं महर्षितः ॥२५॥

हे कुरुसत्तम! उस अद्भुत पुत्र का समाचार सारे संसार में फैल गया। देवराज इन्द्र को भी पता लगा, कि महर्षि पर्वत के वरदान से यह पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥२५॥

ततः स्वाभिभवाद्भीतो बृहस्पतिमते स्थितः ।
कुमारस्यान्तरप्रेक्षी बभूव बलवृत्रहा ॥२६॥

वज्र और वृत्रासुर का नाश करने वाला इन्द्र, इस पुत्र के द्वारा अपने पराजय की आशङ्का करके भयभीत हो गया। उसने बृहस्पति से सलाह की और वह इसके नाश करने का समय देखने लगा ॥२६॥

चोदयामास तद्वज्रं दिव्यास्त्रं मूर्तिमत्स्थितम् ।
व्याघ्रो भूत्वा जहीमं त्वं राजपुत्रमिति प्रभो ॥२७॥

हे प्रभो ! इन्द्र ने मूर्तिधारी अपने दिव्य अस्त्र वज्र को आज्ञा दी, कि तुम मौका पाकर सिंह बन कर इस राजपुत्र को मार डालना ॥२७॥

प्रवृद्धः किल वीर्येण मामेषोऽभिभविष्यति ।
सृञ्जयस्य सुतो वज्र यथैनं पर्वतोऽब्रवीत् ॥२८॥

हे वज्र ! यह राजा सृञ्जय का पुत्र है और बड़ा होने पर मेरे पराभव करने को समर्थ हो जावेगा, क्योंकि महर्षि पर्वत का इसको ऐसा ही वरदान है ॥२८॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण वज्रः परपुरञ्जयः ।
कुमारमन्तरप्रेक्षी नित्यमेवान्वपद्यत ॥२९॥

हे राजन् ! जब इन्द्र ने वज्र को यह आज्ञा दी, तो शत्रुपुर नाशक वज्र भी नित्य राजपुत्र के वध का समय देखने लगा ॥२९॥

सृञ्जयोऽपि सुतं प्राप्य देवराज समद्युतिम् ।
हृष्टः सान्तःपुरो राजा वननित्यो बभूव ह ॥३०॥

देवराज इन्द्र के समान कान्तिशाली अपने पुत्र को देखकर राजा सृञ्जय बड़ा प्रसन्न हुआ। अब वह अपने रनिवास के सहित नित्य वन में घूमने को जाने लगा ॥३०॥

ततो भागीरथी तीरे कदाचिन्निर्जने वने।
धात्रीद्वितीयो बालः स क्रीडार्थं पर्यधावत ॥३१॥

एक दिन गङ्गा के तीर पर निर्जन वन में अपनी धाय के साथ वह बालक खेल रहा था ॥३१॥

पञ्चवर्षकदेशीयो बालो नागेन्द्रविक्रमः।
सहसोत्पतितं व्याघ्रमाससाद महाबलम् ॥३२॥

वह बालक अब पांच वर्ष का था। गजराज के समान इसका पराक्रम था। इसने एक दम उछलकर अपने ऊपर पड़ते हुए एक महाबली सिंह को देखा ॥३२॥

स बालस्तेन निष्पिष्टो वेपमानो नृपात्मजः।
व्यसुः पपात मेदिन्यां ततो धात्री विचुक्रुशे ॥३३

जब उस सिंह ने बालक को दबोच लिया, तो तड़फड़ाने लगा। थोड़ी देर में वह बालक मर गया और धाय पुकारने लगी ॥३३॥

हत्वा तु राजपुत्रं स तत्रैवान्तरधीयत।
शार्दूलो देवराजस्य माययान्तर्हितस्तदा ॥३४॥

वह सिंह उस राजपुत्र को मारकर देवराज इन्द्र की माया से वहीं अन्तर्हित हो गया ॥३४॥

धात्र्यास्तु निनदं श्रुत्वा रुदत्या परमार्तवत् ।
अभ्यधावत तं देशं स्वयमेव महीपतिः ॥३५॥
स ददर्श शयानं तं गतासुं पीतशोणितम् ।
कुमारं विगतानन्दं निशाकरमिव च्युतम् ॥३६॥
स तमुत्सङ्गमारोप्य परिपीडितमानसः ।
पुत्रं रुधिरसंसिक्तं पर्यदेवयदातुरः ॥३७॥

बड़ी कातर हुई धाय के रोदन की वाणी सुन कर राजा सृञ्जय उस स्थान पर दौड़कर पहुंचे। वहाँ जाकर उसने देखा, कि पुत्र मृत होकर भूमि में प्राणहीन पड़ा हुआ है और उसका रक्त शार्दूल पान कर चुका है। आकाश से टूट कर कान्तिहीन चन्द्रमा के तुल्य भूमि में पड़े हुए उस कुमार को राजा ने आकर देखा। उसने उसे गोदी में उठा लिया। राजा का मन कातर हो उठा। वह बड़ी व्याकुलता के साथ रक्त में भीगे हुए पुत्र को देखकर चिल्लाने लगा ॥३५-३७॥

ततस्ता मातरस्तस्य रुदत्यः शोककर्शिताः ।
अभ्यधावन्त तं देशं यत्र राजा स सृञ्जयः ॥३८॥

अब उसकी सारी मातायें शोकातुर होकर रोनी चिल्लाने लगीं। वे सब वहाँ पहुंचीं, जहाँ पर राजा सृञ्जय विद्यमान थे।

ततः स राजा सस्मार मामेव गतमानसः ।
तदाऽहं चिन्तनं ज्ञात्वा गतवांस्तस्य दर्शनम् ॥३९॥

मयैतानि च वाक्यानि श्रावितः शोकलालसः ।
यानि ते यदुवीरेण कथितानि महीपते ॥४०॥

अब व्याकुल चित्त राजा सृञ्जय ने मुझे याद किया। मैंने उसके चिन्तन की बात जानकर वहाँ गमन किया और उसको दर्शन दिए। हे महीपते ! मैंने ही तो शोकातुर राजा सृञ्जय को ये वाक्य सुनाए थे, जो यदुवंशवीर श्रीकृष्ण ने आपको सुनाये हैं।

सञ्जीवितश्चापि पुनर्वासवानुमते तदा ।
भवितव्यं तथा तच्च न तच्छक्यमतोऽन्यथा ॥४१॥

इन्द्र की इच्छानुसार फिर वह पुत्र जीवित कर दिया गया। होनहार जैसे होना चाहती है, उसे कोई उलट नहीं सकता है।

तत ऊर्ध्वं कुमारस्तु स्वर्णष्ठीवी महायशाः ।
चित्तं प्रसादयामास पितुर्मातुश्च वीर्यवान् ॥४२॥
कारयामास राज्यं च पितरि स्वर्गते नृप ।
वर्षाणां शतमेकं च सहस्रं भीमविक्रमः ॥४३॥

वीर्यवान महायशस्वी राजकुमार सुवर्णष्ठीवी ने भी इसके बाद अपने माता पिता का चित्त बहुत ही प्रसन्न किया। हे नृप ! जब पिता राजा सृञ्जय स्वर्ग को चले गए—तो उसने राज्य का एक सहस्र एक सौ वर्ष तक पालन किया ॥४२-४३॥

तत ईजे महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
तर्पयामास देवांश्च पितृंश्चैव महाद्युतिः ॥४४॥

इसके अनन्तर बड़ी २ दक्षिणा के बड़े २ यज्ञ उस महा द्युतिमान राजा सुवर्णष्ठीवी ने कर डाले और देव तथा पितरों को सन्तुष्ट किया ॥४४॥

उत्पाद्य च बहून्पुत्रान्कुलसन्तानकारिणः ।
कालेन महता राजन्कालधर्ममुपेयिवान् ॥४५॥

हे राजन् ! यह राजा वंश के बढ़ाने वाले बहुतसे पुत्र उत्पन्न करके समय के ऊपर मृत्यु को प्राप्त हो गया ॥४५॥

स त्वं राजेन्द्र सञ्जातं शोकमेनं निवर्तय ।
यथा त्वां केशवः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः ॥४६॥

हे राजेन्द्र ! अब तुम भी अपना शोक शान्त करो । आपको महातपस्वी व्यास और श्रीकृष्ण बहुत कुछ समझा रहे हैं ॥४६॥

पितृपैतामहं राज्यमास्थाय धुरमुद्वह ।
इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टं लोकमवाप्स्यसि ॥४७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्वर्णष्ठीविसंभवोपाख्याने एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

अब आप भी पिता, पितामह के राज्य पर बैठकर राज्य धुर का वहन करो । इसके अनन्तर बड़े २ पवित्र महायज्ञ करके अन्त में तुम पुण्यलोकों को प्राप्त करोगे ॥४७॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में सुवर्णष्ठीवी के उपाख्यान का इकतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

बत्तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच--

तूष्णीं भूतं तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम् ।

तपस्वी धर्मतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! जब राजा युधिष्ठिर चिन्ता निमग्न होकर चुप हो गए-तो उनसे सब धर्म के जानने वाले तपस्वी वेदव्यास यह वचन बोले ॥१॥

व्यास उवाच-प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन ।

धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तिनः ॥२॥

व्यासजी कहने लगे—हे कमललोचन ! राजाओं का धर्म प्रजा पालन माना गया है। धर्म के अनुसार चलने वाले लोगों को नित्य धम ही प्रमाण है ॥२॥

अनुतिष्ठस्व तद्राजन्पितृपैतामहं पदम् ।

ब्राह्मणेषु तपो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः ॥३॥

हे राजन् ! पितृपितामह द्वारा अभिपूजित, राजसिंहासन पर तुम सुशोभित-हो जाओ। वेद ने तप करना-तो ब्राह्मण का धर्म निश्चित किया है ॥३॥

तत्प्रमाणं ब्राह्मणानां शाश्वतं भरतर्षभ ।

तस्य धर्मस्य कृत्स्नस्य क्षत्रियः परिरक्षिता ॥४॥

हे भरतर्षभ ! तप त्याग रूप शाश्वत धर्म ब्राह्मणों को प्रमाण है। इस सारे धर्म का रक्षक क्षत्रिय माना गया है ॥४॥

यः स्वयं प्रतिहन्ति स्म शासनं विषये रतः।
स बाहुभ्यां विनिग्राह्यो लोकयात्राविघातकः ॥५॥

जो भोग विलास में लीन होकर राजशासन को नहीं मानता है, उस राजा को दण्ड देना चाहिए, क्योंकि वह लोक-यात्रा का विघातक है ॥५॥

प्रमाणमप्रमाणं यः कुर्यान्मोहवशं गतः।
भृत्यो वा यदि वा पुत्रस्तपस्वी वाथ कश्चन ॥६॥
पापान्सर्वरुपायैस्तान्नियच्छेच्छातयीत वा।
अतोऽन्यथा वर्तमानो राजा प्राप्नोति किल्बिषम् ॥७॥

जो अज्ञान में फंस कर उचित धर्म को उलट पलट कर देता है, चाहे वह भृत्य,पुत्र और तपस्वी क्यों न हो; सारे उपायों से उस दुष्ट को दण्ड देना चाहिए और बड़ा अपराध हो, तो वध तक कर देना उचित है। जो राजा इस तरह राजशासन को नहीं चलाता, वह पाप का भागी होता है ॥६-७॥

धर्मं विनश्यमानं हि यो न रक्षेत्स धर्महा।
ते त्वया धर्महन्तारो निहताः सपदानुगाः ॥८॥

जो राजा नष्ट होते हुए धर्म की रक्षा नहीं करता वह धर्म-घाती है। तुमने इसी से धर्म घातकों को उनके साथियों के साथ मार डाला है ॥८॥

स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव ।
राजा हि हन्याद्दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः ॥६॥

हे पाण्डव ! तुम तो अपने क्षत्रिय धर्म में स्थित हो, फिर किस बात का सोच कर रहे हो। राजा का कर्तव्य है, कि वह धर्मानुसार दुष्ट का हनन, दान और प्रजा पालन करता रहे ॥६॥

युधिष्ठिर उवाच—न तेऽभिशङ्के वचनं यद्ब्रवीषि तपोधन ।
अपरोक्षो हि ते धर्मः सर्वधर्मविदाम्वर ॥१०॥

युधिष्ठिर बोले—हे तपोधन ! आपने जो वचन कहा, मैं कोई उन वचनों पर शङ्का नहीं करता हूँ। हे सब धर्मों के ज्ञाता, तुम धर्म का साक्षात्कार किए बैठे हो ॥१०॥

मया ह्यवध्या बहवो घातिता राज्यकारणात् ।
तानि कर्माणि मे ब्रह्मन्दहन्ति च पचन्ति च ॥११॥

हे ब्रह्मन् ! मुझे ये बातें गलाती और पचाती हैं, कि मैंने इस राज्य के लिए बहुत से अवध्यों को मार डाला है ॥११॥

व्यास उवाच—ईश्वरो वा भवेत्कर्ता पुरुषो वाऽपि भारत ।
हठो वा वर्तते लोके कर्मजं वा फलं स्मृतम् ॥१२॥

व्यासजी ने कहा—हे भारत ! इस सारे युद्ध में हुई हिंसा का कर्ता ईश्वर है, जीव है, स्वभाव है या यह किसी के कर्म का फल है ? ॥१२॥

ईश्वरेण नियुक्तो हि साध्वसाधु च भारत ।
कुरुते पुरुषः कर्म फलमीश्वरगामि तत् ॥१३॥

हे भारत! मनुष्य तो ईश्वर से नियुक्त होकर शुभ या अशुभ कर्म करता है, जिसका फल ईश्वर गामी होना चाहिए ॥१३॥

यथा हि पुरुषश्छिन्द्याद् वृक्षं परशुना वने।
छेत्तुरेव भवेत्पापं परशोर्न कथञ्चन ॥१४॥

जिस तरह वन में मनुष्य परशु से वृक्षों को काटता है, उसमें काटने वाले को ही पाप लगता है, परशु को नहीं लगता ॥१४॥

अथवा तदुपादानात्प्राप्नुयात्कर्मणः फलम्।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥१५॥

यदि ईश्वर प्रेरित होकर भी मैं परशु का चलाने वाला चेतन प्राणी हूं, मुझे तो इसका पाप लगेगा ही, यह बात नहीं है। जो ऐसा माना जावे, तो कुल्हाड़े के बनाने वाले को भी पाप लग जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है ॥१५॥

न चैतदिष्टं कौन्तेय यदन्येन कृतं फलम्।
प्राप्नुयादिति यस्माच्च ईश्वरे तन्निवेशय ॥१६॥

हे कौन्तेय! यदि तुम शस्त्र बनाने वाले को पाप का भागी नहीं मानते हो-तो तुम भी पापी नहीं हो-इस सब होनहार का भार ईश्वर पर ही डालो ॥१६॥

अथापि पुरुषः कर्ता कर्मणोः शुभपापयोः।
न परो विद्यते तस्मादेवमेतच्छुभं कृतम् ॥१७॥

यदि सारे शुभ या अशुभ कर्मों का कर्ता जीव ही है अन्य कोई नहीं है-तो क्या हुआ-तुमने तो यह शुभ कर्म ही किया है।

न हि कश्चित्क्वचिद्राजन्दिष्टं प्रतिनिवर्तते ।

दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥१८॥

हे राजन् ! कोई भी पुरुष होनहार से हटकर दूर नहीं जा सकता है । दण्ड वा शस्त्र के बनाने वाले की तरह युद्ध में मारने वाले पुरुष में तो कोई पाप होता नहीं है ॥१८॥

यदि वा मन्यसे राजन् हतसेकं प्रतिष्ठितम् ।

एवमप्यशुभं कर्म न भूतं न भविष्यति ॥१९॥

हे राजन् ! यदि तुम यह मानते हो, कि यह सब कुछ स्वभाव से हुआ है, इसमें अदृष्ट अनुस्यूत नहीं है, तो फिर चिन्ता ही क्या है, फिर तो कोई भी कर्म न अशुभ हुआ, न आगे हो सकेगा ।

अथाभिपत्तिर्लोकस्य कर्तव्या पुण्यपापयोः ।

अभिपन्नमिदं लोके राज्ञामुद्यतदण्डनम् ॥२०॥

यदि तुम पुण्य और पाप की व्यवस्था कर्म के अधीन मानते हो, तो राजाओं का यह कर्तव्य है, कि वह दुष्टों को दण्ड देता है । फिर इसमें पाप कैसे हो सकेगा ॥२०॥

तथापि लोके कर्माणि समावर्तन्ति भारत ।

शुभाशुभफलं चैते प्राप्नुवन्तीति मे मतिः ॥२१॥

हे भारत ! संसार में शुभ और अशुभ कर्म मनुष्य को प्राप्त होते रहते हैं । मनुष्य, इसी शुभ अशुभ कर्मों के फल को भोगता है, मेरा तो ऐसा मत है ॥२१॥

एवमप्यशुभं कर्म कर्मणस्तत्फलात्मकम् ।
त्यज त्वं राजशार्दूल मैवं शोके मनः कृथाः ॥२२॥

इसी तरह अशुभ कर्म भी तो अपने कर्म का ही फल है। हे राजशार्दूल ! अब तुम इन सब बातों को छोड़ो और मन में कुछ भी शोक न करो ॥२२॥

स्वधर्मे वर्तमानस्य सापवादेऽपि भारत ।
एवमात्मपरित्यागस्तव राजन्न शोभनः ॥२३॥

हे भारत ! तुम अपने अपवाद धर्म में वर्तमान थे । हे राजन् ! इस तरह अपवाद धर्म का आचरण करने से तुमको अपने मन में इतना उदासीन नहीं होना चाहिए ॥२३॥

विहितानि हि कौन्तेय प्रायश्चित्तानि कर्मणाम् ।
शरीरवांस्तानि कुर्यादशरीरः पराभवेत् ॥२४॥

हे कौन्तेय ! इस तरह के अपवाद रूप में किए गए कर्मों का प्रायश्चित्त भी होता है । जब तक शरीर है, तब तक ही प्रायश्चित्त किया जा सकता है. शरीर त्यागने पर तो प्रायश्चित भी नहीं हो सकेगा ॥२४॥

तद्राजन् जीवमानस्त्वं प्रायश्चित्तं करिष्यसि ।
प्रायश्चित्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्ताऽसि भारत ॥२५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तविधौ द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३२॥

हे राजन ! अब तुम प्राण धारण करो और प्रायश्चित्त करते रहो। हे भारत ! यदि प्रायश्चित्त के बिना तुमने शरीर छोड़ दिया, तो परलोक में तुम्हें सन्तप्त होना पड़ेगा ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में व्यासजी का प्रायश्चित्त कर्म विधि आदि के वर्णन का बत्तीसवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

तेतीसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच— हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा ।
श्वशुरा गुरवश्चैव मातुलाश्च पितामहाः ॥१॥
क्षत्रियाश्च महात्मानः सम्बन्धिसुहृदस्तथा ।
वयस्याभागिनेयाश्च ज्ञातयश्च पितामह ॥२॥
बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः ।
घातिता राज्य लुब्धेन मयैकेन पितामह ॥३॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! हमारे पुत्र, पौत्र, भ्राता, चाचा, ताऊ, श्वशुर, गुरु, मातुल, पितामह तथा अन्य महावीर क्षत्रिय और सुहृद् सम्बन्धी मित्र, भानजे, ज्ञाति बन्धु एवं अनेक देशों से आए हुए, राजा लोग मुझ राज्य के लोलुप पापी मनुष्य ने मरवा डाले ॥१-३॥

तांस्तादृशानहं हत्वा धर्मनित्यान्महीक्षितः ।
असकृत्सोमपान्वीरान्कि प्राप्स्यामि तपोधन ॥४॥

हे तपोधन ! धर्मात्मा, नित्य यज्ञ करके सोम पान करने वाले, बड़े २ उत्तम क्षत्रिय वीरों का घात करवाने से मुझे क्या प्राप्त होगा ॥४॥

दह्याम्यनिशमद्यापि चिन्तयानः पुनः पुनः ।
हीनां पार्थिवसिंहैस्तैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ॥५॥

हे महाभाग ! मैं इन ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ राजाओं से हीन हुई इस पृथिवी की दशा को जब बार २ सोचता हूं, तो मुझे बहुत ही पीड़ा होती है और मेरा चित्त जलने लगता है ॥५॥

दृष्ट्वा ज्ञातिवधं घोरं हतांश्च शतशः परान् ।
कोटिशश्च नरानन्यान्परितप्ये पितामह ॥६॥

हे पितामह ! इस घोर ज्ञातिवध, सैंकड़ों उत्तम २ महारथी और करोड़ों सैनिकों को मरे हुए देखकर मुझे बड़ा ही परिताप हो रहा है ॥६॥

का नु तासां वरस्त्रीणामवस्थाऽद्य भविष्यति ।
विहीनानां तु तनयैः पतिभिर्भ्रातृभिस्तथा ॥७॥

अब अपने २ पति, भ्राता और पुत्रों से विहीन हुई सुन्दर २ स्त्रियों की आगे चलकर क्या दशा होगी-यह सोचकर तो मेरा चित्त जलने लगता है ॥७॥

अस्मानन्तकरान्घोरान्पाण्डवान्वृष्णिसंहतान् ।
आक्रोशन्त्यः कृशा दीनाः प्रपतिष्यन्ति भूतले ॥८॥

ये स्त्रियां, अपने पति आदि के घातक हम लोग और वृष्णि-वीरों को कोसती हुई कृशता और दीनता के साथ पृथिवी पर बार २ गिरेंगी ॥८॥

अपश्यन्त्यः पितॄन्भ्रातॄन्पतीन्पुत्रांश्च योषिताः ।
त्यक्त्वा प्राणान् स्त्रियः सर्वा गमिष्यन्ति यमक्षयम् ।
वत्सलत्वाद् द्विजश्रेष्ठ तत्र मे नास्ति संशयः ।
व्यक्तं सौक्ष्म्याच्च धर्मस्य प्राप्स्यामः स्त्रीवधं वयम् ॥

जब ये सुन्दरियां, अपने पिता, भ्राता, पति और पुत्रों को नहीं देखेंगी-तो प्रेम के कारण अपने प्राणों को छोड़ कर अवश्य यमराज के लोक को चली जावेंगी। हे द्विजश्रेष्ठ ! इस बात से हमको स्त्रीवध का पाप लगेगा, क्योंकि धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, इस स्त्रीवध के हम ही तो कारण होंगे-इसमें सन्देह नहीं है।

यद्वयं सुहृदो हत्वा कृत्वा पापमनन्तकम् ।
नरके निपतिष्यामो ह्यधः शिरस एव ह ॥११॥

हमने जो यह सुहृद् सम्बन्धी वध किया है, जिससे बहुत ही अधिक पाप की वृद्धि हुई है। इसके कारण हम नीचे शिर और ऊपर को पांव करके नरक में अवश्य लटकाए जावेंगे ॥११॥

शरीराणि विमोक्ष्यामस्तपसोग्रेण सत्तम ।
आश्रमाणां विशेषं त्वमथाचक्ष्व पितामह ॥१२॥

हे सत्तम ! अब हम उग्र तप करके शरीर छोड़ेंगे। हे पितामह ! अब तुम हमको आश्रमों में उत्तम संन्यास आश्रम की विधि बताओ ॥१२॥

वैशम्पायन उवाच—युधिष्ठिरस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा द्वैपायनस्तदा।
निरीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या ऋषिः प्रोवाच पाण्डवम् ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! श्रीकृष्णद्वैपायन मुनि, राजा युधिष्ठिर के ये वचन सुनकर और निपुणबुद्धि के साथ उसे देखकर ये वचन बोले ॥१३॥

व्यास उवाच—मा विषादं कृथा राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन्।
स्वधर्मेण हता ह्येते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥१४॥

व्यास जी कहने लगे—हे राजन् ! तुम विषाद न करो और क्षत्रिय धर्म का स्मरण करो। हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! ये सारे क्षत्रियवीर तो अपने धर्म के अनुसार ही मृत्यु को प्राप्त हुए हैं ॥१४॥

कांक्षमाणाः श्रियं कृत्स्नां पृथिव्यां च महद्यशः।
कृतान्तविधिसंयुक्ताः कालेन निधनं गताः ॥१५॥

ये सब लोग राज्यलक्ष्मी के अभिलाषी थे और पृथिवी पर महान् यश पाना चाहते थे। अब कर्म विधि के अनुसार काल की गति से ये मृत्यु के मुख में चले गए ॥१५॥

न त्वं हन्ता न भीमोऽयं नार्जुनो न यमावपि।
कालः पर्यायधर्मेण प्राणानादत्त देहिनाम् ॥१६॥

हे राजन् ! इन राजाओं के प्राणों के अपहारक न तो तुम हो और न ये भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ही हैं। इनके प्राणों का अपहरण तो कर्मगति के अनुसार काल ने ही किया है— तुम तो मिथ्या अभिमान करते हो ॥१६॥

न तस्य मातापितरौ नानुग्राह्यो हि कश्चन ।
कर्मसाक्षी प्रजानां यस्तेन कालेन संहृताः ॥१७॥

इस काल का कोई माता पिता नहीं है। न यह किसी पर दया दिखाता है। यह काल, प्रजा के कर्मों का साक्षी है। यही सारे संसार का संहार करता है ॥१७॥

हेतुमात्रमिदं तस्य विहितं भरतर्षभ ।
यद्धन्ति भूतैर्भूतानि तदस्मै रूपमैश्वरम् ॥१८॥

हे भरतर्षभ ! यह तो एक कारण मात्र मान लिया जाता है, कि अमुक ने अमुक को मार दिया। यह तो सब कुछ उस ऐश्वर्यशाली काल की ही लीला है ॥१८॥

कर्मसूत्रात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयोः ।
सुखदुःखगुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम् ॥१९॥

पाप और पुण्य का तो साक्षी यही कालचक्र है। सुख-दुःख आदि का देने वाला काल ही कर्म-परिपाक के समय सब कुछ कर डालता है ॥१९॥

तेषामपि महाबाहो कर्माणि परिचिन्तय ।
विनाशहेतुकानि त्वं यैस्ते कालवशं गताः ॥२०॥

हे महाबाहो ! तुम उन क्षत्रियवीरों के भी तो कर्मों का विचार करो, जो उनके विनाश के कारण थे। वे उन कर्मों के आधार पर ही तो मृत्यु के वश में प्राप्त हुए हैं ॥२०॥

आत्मनश्च विजानीहि नियतव्रतशासनम् ।
यदा त्वमीदृशं कर्म विधिनाऽऽक्रम्य कारितः ॥२१॥

हे राजन ! तुम अपने भी युद्ध के निश्चय रूप कर्म को देखो, जिसको विधाता ने अपनी शक्ति द्वारा तुममें धारण करवाया और इसीसे यह भीषण कर्म तुमसे करवा ही डाला ॥२१॥

त्वष्ट्रेव विहितं यन्त्रं यथा चेष्टयितुर्वशे ।
कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं चेष्टते जगत् ॥२२॥

काल के तुम ही तो यन्त्र (मशीन) बन गए और उस यन्त्र के सञ्चालक के अधीन यन्त्र की तरह तुम भी काल के संकेत पर नाच उठे। तुम ही क्या ? काल युक्त कर्म के चक्कर में तो यह सारा संसार उलझा पड़ा है।

पुरुषस्य हि दृष्ट्वेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः ।
यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ ॥२३॥

व्यलीकमपि यत्त्वत्र चित्तवैतंसिकं तव ।
तदर्थमिष्यते राजन्प्रायश्चित्तं तदाचर ॥२४॥

तुम देखते नहीं हो, कि पुरुष कर्मानुसार अचानक उत्पन्न हो जाता है और इसी तरह अचानक विनाश को भी प्राप्त हो जाता है, फिर हर्ष शोक निरर्थक हैं—अब जो तुम्हारा चित्त चिन्तित हो रहा है—यह भी व्यर्थ बात है। हे राजन! इस निमित्त में जो प्रायश्चित्त है, आप अब उसका ही अनुष्ठान करो ॥२४॥

इदं तु श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा।
असुरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः।
तेषामपि श्रीनिमित्तं महानासीत्समुच्छ्रयः।
युद्धं वर्षसहस्राणि द्वात्रिंशदभवत्किल ॥२६॥
एकार्णवां महीं कृत्वा रुधिरेण परिप्लुताम्।
जघ्नुर्दैत्यांस्तथा देवास्त्रिदिवं चाभिलेभिरे ॥२७॥

हे युधिष्ठिर! असुर ज्येष्ठ भ्राता थे और देवता छोटे भाई थे। उनका पूर्वकाल में राज्यलक्ष्मी के निमित्त बड़ा भारी विग्रह हुआ। इनका युद्ध बत्तीस हज़ार वर्ष तक चलता रहा। सारी पृथिवी पर रुधिर ही रुधिर हो गया और अनेकों समुद्रोंका एक ही समुद्र रुधिर के विस्तार के कारण बन गया। देवों ने दैत्यों को मार लिया और वे स्वर्ग पर अधिकार करके बैठ गए ॥२५-२७॥

तथैव पृथिवीं लब्ध्वा ब्राह्मणा वेदपारगाः।
संश्रिता दानवानां वै साह्यार्थं दर्पमोहिताः ॥२८॥

दैत्यों ने बहुत से वेदपारगामी ब्राह्मणों को पृथिवी दान में दी। ब्राह्मण भी अपने घमण्ड में भरकर दानवों के आश्रम में उनकी सहायता करने को उद्यत हो गए ॥२८॥

शालावृका इति ख्यातास्त्रिषु लोकेषु भारत ।
अष्टाशीति सहस्त्राणि ते चापि विबुधैर्हताः ॥२६॥

ये ब्राह्मण शालावृक कहाते थे, जो तीनों लोकों में छाए हुए थे। इनकी संख्या अट्ठासी हज़ार थी, जिनको भी देवों ने मार गिराया ॥२६॥

धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्तकाः ।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः ॥३०॥

जो ब्राह्मण, धर्मनाश में तत्पर हो जावें और अधर्म के प्रवर्तक बन बैठे, उन दुरात्मा ब्राह्मणों को भी देवों को दैत्यों की भांति मार ही देना चाहिये ॥३०॥

एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम् ।
कुलं हत्वा च राष्ट्रे च न तद् वृत्तोपघातकम् ॥३१॥

एक के मार देने पर यदि कुल के शेष मनुष्यों की कुशल हो जावे अथवा कुल के विनाश से राष्ट्र की रक्षा हो, तो इससे धर्म की आशङ्का नहीं माननी चाहिए ॥३१॥

अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप ।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥३२॥

हे नराधिप ! कोई कर्म अधर्म सा दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वह धर्म रूप होता है तथा कोई धर्म कृत्य भी अधर्म होता है, परन्तु इसको विद्वान् मनुष्य ही पहिचान सकता है ॥३२॥

तस्मात्संस्तम्भयात्मानं श्रुतवानसि पाण्डव ।
देवैः पूर्वगतं मार्गमनुयातोऽसि भारत ॥२३॥

हे पाण्डव ! तुम इन सब धर्म के तत्व को जान कर अपने आत्मा को धैर्य में स्थापित करो । हे भारत ! तुम तो देवों के प्रवर्तित मार्ग में ही चल रहे हो ॥२३॥

न हीदृशा गमिष्यन्ति नरकं पाण्डवर्षभ ।
भ्रातृनाश्वासयैतांस्त्वं सुहृदश्च परन्तप ॥२४॥

हे पाण्डवर्षभ ! तुम जैसे युद्धवीर नरक में नहीं जाया करते । हे परन्तप ! अब तुम अपने भ्राता और सुहृदों को सान्त्वना दो ।

यो हि पापसमारम्भे कार्ये तद्भावभावितः ।
कुर्वन्नपि तथैव स्यात्कृत्वा च निरपत्रपः ॥२५॥
तस्मिंस्तत्कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम् ।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ॥

जो मनुष्य पापकर्म हिंसा आदि में राग-द्वेपवश प्रवृत्त होता है, फिर उसको करता हुआ भी वैसा ही रहता है और करने के अनन्तर भी जिसको कोई पश्चात्ताप नहीं होता, वही पाप का भागी होता है । ऐसे पुरुप को ही पूर्ण पाप में निमग्न होना पड़ता है— ऐसी धर्म की व्यवस्था है । ऐसे पुरुप का कोई प्रायश्चित नहीं है और न उसके पापकर्म का कभी ह्रास होता है ॥२५-२६॥

त्वं तु शुक्लाभिजातीयः परदोषेण कारितः ।
अनिच्छमानः कर्मेदं कृत्वा च परितप्यसे ॥२७॥

हे राजन्! तुम तो शुद्ध मन से युक्त हो। तुमको यह सब कुछ दुष्टों के अपराध से करना पड़ा है। तुम यह सब कुछ करना भी नहीं चाहते थे और फिर भी पश्चात्ताप कर रहे हो, इससे तुमको पाप नहीं लग सकता है ॥३७॥

अश्वमेधो महायज्ञः प्रायश्चित्तमुदाहृतम्।
तमाहर महाराज विपाप्मैवं भविष्यसि ॥३८॥

हे महाराज! अब तो आप अश्वमेध यज्ञ का आरम्भ करें, यह महायज्ञ ही इसका प्रायश्चित्त है। इसके करने से तुम्हारा आत्मा और भी शुद्ध हो जावेगा ॥३८॥

मरुद्भिः सह जित्वाऽरीन्भगवान्पाकशासनः।
एकैकं क्रतुमाहृत्य शतकृत्वः शतक्रतुः ॥३९॥

भगवान् पाकशासन इन्द्र ने देवों को साथ लेकर अनेक घार शत्रुओं का वध किया। इस प्रकार इन्द्र ने फिर सैंकड़ों यज्ञ कर डाले, जिससे वह शतक्रतु कहलाया ॥३९॥

धूतपाप्मा जितस्वर्गो लोकान्प्राप्य सुखोदयान्।
मरुद्गणैर्वृतः शक्रः शुशुभे भासयन्दिशः ॥४०॥

इन यज्ञों से इन्द्र का सारा पाप निवृत्त हो गया। उसने स्वर्ग को जीत लिया और सुखपूर्ण लोकों की प्राप्ति की। अपने साथी देवों से युक्त होकर सारी दिशाओं को चमकाते हुए भगवान् इन्द्र बड़े ही सुशोभित हुए ॥४०॥

स्वर्गे लोके महीयन्तमप्सरोभिः शचीपतिम् ।
ऋषयः पर्युपासन्ते देवाश्च विबुधेश्वरम् ॥४१॥

अप्सराओं के गण स्वर्गलोक में शचीपति इन्द्र का महत्व बढ़ाते रहते हैं तथा इन देवगण इन्द्र की ऋषि और देवता उपासना करते रहते हैं ॥४१॥

सेयं त्वामनुसम्प्राप्ता विक्रमेण वसुन्धरा ।
निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयाऽनघ ॥४२॥

हे अनघ ! इन्द्र की तरह आपको भी अपने पराक्रम से यह सारी पृथिवी प्राप्त हुई है। आपने अपने बल विक्रम से ही इस सारी पृथिवी को जीता है ॥४२॥

तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन्सुहृद्वृतः ।
भ्रातॄन्पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥४३॥

हे राजन् ! अब तुम अपने मित्रों के साथ उन जीते हुए राजाओं के देश और राष्ट्र में पहुंचो और उन राजाओं के भ्राता, पुत्र या पौत्र जिसको उचित समझो, उसके राज्य पर अभिषिक्त करो ॥४३॥

बालानपि च गर्भस्थान्सान्त्वेन समुदाचरन् ।
रञ्जयन्प्रकृतीः सर्वाः परिपाहि वसुन्धराम् ॥४४॥

बालक या गर्भस्थ भी कोई राज-पुत्र हो-तो उसकी भी शान्त वचन से सान्त्वना करो। अब तुम सारी प्रजा को आनन्दित करके पृथिवी की रक्षा करो ॥४४॥

कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय ।
कामाशयो हि स्त्रीवर्गः शोकमेवं प्रहास्यसि ॥४५॥

जिन राजाओं के पुत्र न हो-उनकी कन्याओं को ही राज्य पर अभिषिक्त करो। स्त्रीजाति कामना के पीछे अधिक फिरती है, वह इस तरह अपने शोक को छोड़ देगी ॥४५॥

एवमाश्वासनं कृत्वा सर्वराष्ट्रेषु भारत ।
यजस्व वाजिमेधेन यथेन्द्रो विजयी पुरा ॥४६॥

हे भारत ! सारे राष्ट्र में घूम कर इस तरह सबको आश्वासन प्रदान करो। जिस तरह पूर्व-काल में विजय प्राप्त करके इन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ किया, ऐसे ही तुमको यज्ञ करना चाहिए ॥४६॥

अशोच्यास्ते महात्मानः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
स्वकर्मभिर्गता नाशं कृतान्तबलमोहिताः ॥४७॥

हे क्षत्रियर्षभ ! ये जितने क्षत्रियवीर, कर्म के बन्धन से प्रेरित होकर काल के वश में हुए हैं-वे अपने २ कर्म के अधीन नष्ट हुए, इससे उनका भी कोई शोक करना उचित नहीं है ॥४७॥

अवाप्तः क्षत्रधर्मस्ते राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।
रक्षस्व धर्मं कौन्तेय श्रेयान्यः प्रेत्य भारत ॥४८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३३॥

हे कौन्तेय ! तुमने क्षत्रिय-धर्म और शत्रुहीन राज्य की प्राप्ति की है। हे भारत ! अब तुम अपने धर्म की रक्षा करो, जो इस-लोक और परलोक में कल्याणकारी है ॥४८॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में धर्मराज को वेदव्यास द्वारा प्रायश्चित्त के उपदेश का तेतीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



चौंतीसवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच--कानि कृत्वेह कर्माणि प्रायश्चित्तीयते नरः
किं कृत्वा मुच्यते तत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! अब आप प्रथम मुझे यह बताओ, कि कौनसे ऐसे कर्म हैं, जिनको करके मनुष्य प्रायश्चित का भागी बनता है तथा कौन से वे कर्म हैं, जिनको करने से मनुष्य, उन पाप कर्मों से छुटकारा पाता है ॥१॥

व्यास उवाच--अकुर्वन्विहितं कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन् ।
प्रायश्चित्तीयते ह्येवं नरो मिथ्याऽनुवर्तयन् ॥२॥

व्यासजी कहने लगे—जो मनुष्य, शास्त्रोक्त कर्मों को तो नहीं करता और शास्त्र विरुद्ध कर्मों का आचरण करता है। इस तरह मिथ्या आचरण करता हुआ मनुष्य प्रायश्चित का अधिकारी होता है ॥२॥

सूर्येणाभ्युदितो यश्च ब्रह्मचारी भवत्युत ।
तथा सूर्याभिनिर्मुक्तः कुनखी श्यावदन्नपि ॥३॥

जो ब्रह्मचारी सूर्य के उदय होने के समय सोता रहता है, वह प्रायश्चित्ती होता है। जो सूर्य की ओर मुख करके मल-मूत्र परित्याग करे या सूर्यास्त के समय सोता रहे, वह बुरे नख वाला और काले दांतों से युक्त हो जाता है ॥३॥

परिवित्तिः परिवेत्ता ब्रह्मघ्नो यश्च कुत्सकः ।
दिधिषूपपतिर्यः स्यादग्रे दिधिषुरेव च ॥४॥
अवकीर्णी भवेद्यश्च द्विजातिवधकस्तथा ।
अतीर्थे ब्राह्मणस्त्यागी तीर्थे चाप्रतिपादकः ॥५॥
ग्रामघाती च कौन्तेय मांसस्य परिविक्रयी ।
यश्चाग्नीनपविध्येत तथैव ब्रह्मविक्रयी ॥६॥
गुरुस्त्रीवधको यश्च पूर्वः पूर्वस्तु गर्हितः ।

छोटे भ्राता के पूर्व में विवाह करने पर उसका ज्येष्ठ भ्राता प्रायश्चित्ती होता है और वह परिवित्ति कहाता है। उस छोटे भाई की परिवेत्ता संज्ञा होती है-वह भी प्रायश्चित्ती होता है। बड़ी बहन के बैठे रहने पर छोटी के साथ जो विवाह करता है, वह अग्रेदिधिषु कहाता है और जो उस ज्येष्ठा कन्या के साथ विवाह करता है, वह दिधिषूपपति होता है-ये सब प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। वेदघाती, निन्दक व्रतभ्रष्ट, द्विजाति नाशक, मनुष्य भी पापी होते हैं। ब्राह्मण होकर अतीर्थ (अपात्र) को दान देना और पात्र

को दान से वञ्चित करना प्रायश्चित्त का कारण है। हे कौन्तेय! ग्राम का घातक, मांस का विक्रेता, अग्निहोत्र त्यागी, वेद का विक्रेता तथा गुरु की स्त्री का वध करने वाला ब्राह्मण, पापी होता है। इनमें पीछे से पूर्व पूर्व के अधिक निन्दित हैं ॥४-६॥

वृथा पशुसमालम्भी गृहदाहस्य कारकः ॥७॥
अनृतेनोपवर्ती च प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा।
एतान्येनांसि सर्वाणि व्युत्क्रान्तसमयश्च यः ॥८॥

जो मनुष्य, वृथा पशु वध करता है, गांव फूंक देता है, मिथ्या व्यवहार से जीविका चलाता है, गुरुजनों का प्रतिरोद्धा तथा जो अपने समय (वायदे) को टला देता है। ये सब पाप के भागी होते हैं ॥७-८॥

अकार्याणि तु वक्ष्यामि यानि तानि निबोध मे।
लोकवेदविरुद्धानि तान्येकाग्रमनाः शृणु ॥९॥

अब मैं तुमको लोक और वेद के विरुद्ध, जो अकार्य माने गए हैं, उनको बताता हूं, तुम उनको समझो और एकाग्र मन से सुनो ॥९॥

स्वधर्मस्य परित्यागः परधर्मस्य च क्रिया।
अयाज्ययाजनं चैव तथाऽभक्ष्यस्य भक्षणम् ॥१०॥
शरणागतसंत्यागो भृत्यस्याभरणं तथा।
रसानां विक्रयश्चापि तिर्यग्योनिवधस्तथा ॥११॥

आधानादीनि कर्माणि शक्तिमान्न करोति यः ।
अप्रयच्छंश्च सर्वाणि नित्यदेयानि भारत ॥१२॥
दक्षिणानामदानं च ब्राह्मणस्वाभिमर्शनम् ।
सर्वाण्येतान्यकार्याणि प्राहुर्धर्मविदो जनाः ॥१३॥

हे भारत ! अपने धर्म (कर्तव्य) का त्याग, दूसरे के धर्म का परिग्रह, अयोग्य यजमान को यजन, अभक्ष्य का भक्षण, शरणागत का त्याग, सेवकों की वृत्ति का अदान, रसों का विक्रय, पशु-पक्षियों का मारण, शक्तिमान होने पर भी स्वस्त्री में गर्भ-धारण से आना-कानी करना, देने योग्य वस्तु का अदान, दक्षिणा का नहीं देना, ब्राह्मण के धन का छीन लेना, इन सारे कार्यों को अधर्म माना गया है ॥१०-१३॥

पित्रा विवदते पुत्रो यश्च स्याद्गुरुतल्पगः ।
अप्रजायन्नरव्याघ्र भवत्यधार्मिको नरः ॥१४॥

हे नरव्याघ्र ! जो पुत्र, पिता से नाहक झगड़ा तथा गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार करता है एवं अपनी स्त्री में सन्तान उत्पन्न नहीं करता, वह पापी होता है ॥१४॥

उक्तान्येतानि कर्माणि विस्तरेणेतरेण च ।
यानि कुर्वन्नकुर्वंश्च प्रायश्चित्तीयते नरः ॥१५॥

हे राजन ! मैंने तुमको संक्षेप और कुछ कर्मों का विस्तार से कथन कर दिया है। इन कर्मों के न करने या अयोग्य कर्मों के करने से मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य होता है ॥१५॥

एतान्येव तु कर्माणि क्रियमाणानि मानवः ।
येषु येषु निमित्तेषु न लिम्पन्तेऽथ तान् शृणु ॥१६॥

मनुष्य पाप कर्म कर भी लेता है, परन्तु जिन कारणों से उनमें लिप्त नहीं होता-वे तुमको सुनाता हूं ॥१६॥

प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥१७॥

जो वेदान्त का ज्ञाता भी शस्त्र लेकर वध करने आवे और उसका वध कर दिया जावे, तो मनुष्य इससे ब्रह्मघाती नहीं होग ।

इति चाप्यत्र कौन्तेय मन्त्रो वेदेषु पठ्यते ।
वेदप्रमाणविहितं धर्मं च प्रब्रवीमि ते ॥१८॥

हे कौन्तेय ! जो कुछ मैं कह रहा हूं-वही वेद का भी मत है । मैं तुमको अब वेदानुसार उपदेश करता हूँ-तुम ध्यान से सुनो ॥१८

अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद्यो हन्यादाततायिनम् ।
न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥१९॥

जो ब्राह्मण अपने धर्म कर्म से गिर कर घातक बन जावे, तो उसका मारने वाला ब्रह्मघाती नहीं होता, क्योंकि उसको तो उसका ही क्रोध, दूसरे मनुष्य के क्रोध के रूप में आता है ॥१९॥

प्राणात्यये तथाज्ञानादाचरन्मदिरामपि ।
आदेशितो धर्मपरैः पुनः संस्कारमर्हति ॥२०॥

जो मनुष्य, प्राणसंकट के उपस्थित होने या अज्ञान से मदिरापान कर लेता है, वह धर्मात्मा मनुष्यों की व्यवस्था से फिर संस्कार करने पर शुद्ध हो जाता है ॥२०॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं कौन्तेयाभक्ष्यभक्षणम् ।
प्रायश्चित्तविधानेन सर्वमेतेन शुद्ध्यति ॥२१॥

हे कौन्तेय ! यह तुमको संक्षेप में अभक्ष्य भक्षण की विधि सुना दी है। इस अभक्ष्य भक्षण के प्रायश्चित्त से मनुष्य शुद्ध भी हो सकता है ॥२१॥

गुरुतल्पं हि गुर्वर्थं न दूषयति मानवम् ।
उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः ॥२२॥

गुरु के निमित्त नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने के लिए गुरु-पत्नी से गमन करने में कोई दोष नहीं है ॥२२॥

स्तेयं कुर्वंश्च गुर्वर्थमापत्सु न निषिध्यते ।
बहुशः कामकारेण न चेद्यः संप्रवर्त्तते ॥२३॥
अन्यत्र ब्राह्मणस्वेभ्य आददानो न दुष्यति ।
स्वयमप्राशिता यश्च न स पापेन लिप्यते ॥२४॥

जो शिष्य, आपत्काल में गुरु के निमित्त चोरी भी कर लेता है, वह भी दूषित नहीं होता है, परन्तु फिर वह अपने रागद्वेष से उसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। इसमें भी उसे ब्राह्मण का धन नहीं चुराना चाहिए तथा उसमें से स्वयं को कुछ भी नहीं खाना चाहिए। ऐसी दशा में वह पाप से लिप्त नहीं होता ॥२३-२४॥

प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च ।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु च ॥२५॥

अपने या अन्य के प्राणों की रक्षा के निमित्त, गुरु की जीविका, स्त्रियों के मध्य तथा विवाह सम्बन्ध में मिथ्याभाषण भी किया जा सकता है ॥२५॥

नावर्तते व्रतं स्वप्ने शुक्रमोक्षे कथञ्चन ।
आज्यहोमः समिद्धेऽग्नौ प्रायश्चित्तं विधीयते ॥२६॥

यदि ब्रह्मचारी का स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जावे, तो उसे फिर उपनयन कराने की आवश्यकता नहीं है । इस समय तो प्रज्वलित अग्नि में उसे केवल घृत का हवन ही कर देना चाहिए-यही उसका प्रायश्चित है ॥२६॥

पारिवित्त्यं तु पतिते नास्ति प्रव्रजिते तथा ।
भिक्षिते पारदार्यं च तद्धर्मस्य न दूषकम् ॥२७॥

यदि बड़ा भाई पतित हो गया या संन्यासी होकर निकल गया-तो छोटे भाई को विवाह करने में दोष नहीं है । यदि पर-स्त्री वीर्य दान की भिक्षा मांगे अर्थात् नियोग के लिए प्रवृत्त होवे, तो इस मैथुन में भी दोष नहीं है ॥२७॥

वृथा पशुसमालम्भं नैव कुर्यान्न कारयेत् ।
अनुग्रहः पशूनां हि संस्कारो विधिनोदितः ॥२८॥

वृथा ही पशुओं का वध नहीं करना चाहिए, परन्तु यज्ञ में विधि-पूर्वक पशुओं का संस्कार करके वध करना-पशुओं पर अनुग्रह करना है ॥२८॥

अनर्हे ब्राह्मणे दत्तमज्ञानात्तन्न दूषकम् ।
सत्काराणां तथा तीर्थे नित्यं वा प्रतिपादनम् ।

यदि ब्राह्मण अयोग्य है और हमको इसका ज्ञान नहीं हो सका-तो फिर उसको दान देनेमें कोई दोप नहीं है तथा योग्य पात्र का तीर्थ पर अज्ञान से सत्कार न करना भी दोष कारक नहीं है ।

स्त्रियास्तथाऽपचारिण्या निष्कृतिः स्याददूषिका ।
अपि सा पूयते तेन न तु भर्ता प्रदुष्यति ॥३०॥

व्यभिचारणी स्त्री के निकाल देने या उसके साथ रति आदि का सम्बन्ध विच्छेद कर लेने में कोई दोप नहीं है । स्त्री इस तिरस्कार से भी पवित्र हो जाती है और भर्ता दूपित नहीं होता ॥३०॥

तत्त्वं ज्ञात्वा तु सोमस्य विक्रयः स्याददोषवान् ।
असमर्थस्य भृत्यस्य विसर्गः स्याददोषवान् ।
वनदाहो गवामर्थे क्रियमाणो न दूषकः ॥३१॥
उक्तान्येतानि कर्माणि यानि कुर्वन्न दुष्यति ।
प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामि विस्तरेणैव भारत ॥३२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३४॥

जो मनुष्य सोमरस के गुण जानकर उसे बेचता है, वह दोष से मुक्त रहता है । सेवा न करने वाले सेवक का भरण-पोषण न

करने में कोई दोष नहीं है। गौओं के चरने के निमित्त वन को जला देने में भी कोई दोष नहीं है। ये वे सारे कर्म तुमको सुनाये गए, जिनके करने पर मनुष्य दूषित नहीं होता है। हे भारत! अब मैं तुमको विस्तार के साथ बहुत से प्रायश्चित्त सुनाता हूं।

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में धर्मराज को प्रायश्चित्त के उपदेश का चौंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



पैंतीसवाँ अध्याय

व्यास उवाच—तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन च भारत।
पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्तते ॥१॥

व्यासजी कहने लगे—हे भारत! यदि मनुष्य पाप करके उसमें फिर प्रवृत्त न होवे, तो तप, यज्ञ तथा दान से उस पाप से छुटकारा पा लेता है ॥१॥

एककालं तु भुञ्जीत चरन्भैक्ष्यं स्वकर्मकृत्।
कपालपाणिः खट्वाङ्गी ब्रह्मचारी सदोत्थितः ॥२॥
अनसूयुरधःशायी कर्म लोके प्रकाशयन्।
पूर्णैर्द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्महा विप्रमुच्यते ॥३॥

जो मनुष्य ब्रह्मघाती है, वह अपने कर्म को आप करता हुआ भिक्षा मांगकर एक समय भोजन करे। उसके हाथ में मिट्टी का

खप्पर होना चाहिए और गले में खाट का पाया लटकता रहे। वह सर्वदा ब्रह्मचारी रह कर धर्म का आचरण करे, किसी की निन्दा न करके भूमि में शयन करे और अपने ब्रह्महत्या के कर्म को सर्वत्र प्रकाशित करे। ऐसा करने से मनुष्य पाप से छुटकारा पा जाता है। इस तरह जब बारह वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, तब वह ब्रह्महत्या से छुट जाता है ॥२-३॥

लक्ष्यः शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥४॥
जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।
सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥५॥
धनं वा जीवनायालं गृहं वासपरिच्छदम्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥६॥

यदि बारह वर्ष का इतना लम्बा व्रत न करना चाहे, तो विद्वानों की व्यवस्था के अनुसार या अपनी इच्छा से किसी शस्त्रधारी के शस्त्र के गोचर हो जावे अथवा नीचे को शिर करके प्रज्वलित अग्नि में अपने आपको डाल देवे। इसी तरह किसी वेद मन्त्र का जप करते हुए तीन सौ योजन तक चला जावे अथवा किसी वेदपाठी ब्राह्मण को सर्वस्व दान कर देवे। अपने जीवन निर्वाह के योग्य एक भवन और कुछ ओढ़ने-बिछाने और पहिनने के वस्त्र रख लेवे। अपने प्राणों को संकट में डाल कर गौ और ब्राह्मणों की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छुटकारा पा लेता है ॥४-६॥

षड्भिर्वर्षैः कृच्छ्रभोजी ब्रह्महा पूयते नरः।
मासे मासे समश्नंस्तु त्रिभिर्वर्षैः प्रमुच्यते ॥७॥
संवत्सरेण मासाशी पूयते नात्र संशयः।
तथैवोपवसन् राजन् स्वल्पेनापि प्रपूयते ॥८॥

जो मनुष्य छः वर्ष तक कृच्छ्रव्रत धारण करता है अर्थात् गिने ग्रास खाता है, वह भी ब्रह्महत्या से छुटकारा पा लेता है। इसी कृच्छ्र व्रत को पूर्वोक्त बारह दिन के बजाय मास व्रत के ढंग पर करे, तो तीन वर्ष में उसकी शुद्धि हो जाती है। इसी तरह मास के ढंग पर जो कृच्छ्रव्रत करता है अर्थात् महीने भर प्रातःकाल, महीने भर सायंकाल, महीने भर अयाचित अन्न और महीने भर बिल्कुल भूखा रह कर जो कृच्छ्रव्रत करता है, वह वर्ष भर में शुद्ध हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है। हे राजन! मास से अधिक व्रत करके जल मात्र पर निर्वाह करे, तो थोड़े काल में भी शुद्ध हो जाता है ॥७-८॥

क्रतुना चाश्वमेधेन पूयते नात्र संशयः।
ये चाप्यवभृथस्नाताः केचिदेवंविधा नराः ॥९॥
ते सर्वे धूतपाप्मानो भवन्तीति परा श्रुतिः।
ब्राह्मणार्थे ततो युद्धे मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥१०

जो मनुष्य अश्वमेध यज्ञ करना चाहता है, वह भी अवश्य पवित्र हो जाता है, जो कोई भी ऐसे मनुष्य यज्ञ के अन्तिम स्नान करते हैं, वे पाप से शुद्ध हो जाते हैं। यह वेद का निर्देश

है। जो मनुष्य ब्राह्मण-रक्षा के निमित्त युद्ध करता है, वह भी ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है ॥९-१०॥

गवां शतसहस्रं तु पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत् ।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥११॥

जो मनुष्य, पात्र ब्राह्मणों को एक लाख गौ दान करता है, वह ब्रह्महत्या तथा अन्य सारे पापों से मुक्त हो जाता है ॥११॥

कपिलानां सहस्राणि यो दद्यात्पञ्चविंशतिम् ।
दोग्ध्रीणां स च पापेभ्यः सर्वेभ्यो विप्रमुच्यते ॥१२॥

जो मनुष्य दूध देने वाली पचीस हज़ार गौ, योग्य ब्राह्मणों को दान में देता है, वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है ॥१२॥

गोसहस्रं सवत्सानां दोग्ध्रीणां प्राणसंशये ।
साधुभ्यो वै दरिद्रेभ्यो दत्त्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥१३

जब मनुष्य के प्राण निकलने को होवे, तब जो दूध देने वाली बछड़ों से युक्त एक सहस्र गौ महात्मा दरिद्री ब्राह्मणों को दान में देता है, वह सारे पापों से छुटकारा पा लेता है ॥१३॥

शतं वै यस्तु काम्बोजान्ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
नियतेभ्यो महीपाल स च पापात्प्रमुच्यते ॥१४॥

हे महीपाल ! जो राजा सौ काम्बोज देश के अश्व नियम में रहने वाले ब्राह्मणों को दान में देता है, वह सारे पापों से छूट जाता है ॥१४॥

मनोरथं तु यो दद्यादेकस्मा अपि भारत ।
न कीर्तयेत् दत्वा यः स च पापात्प्रमुच्यते ॥१५॥

हे भारत ! जो मनुष्य किसी योग्य ब्राह्मण या किसी साधु मनुष्य का मनोरथ पूरा कर देता है और कुछ अपनी प्रशंसा नहीं करता, वह पाप से छुटकारा पा लेता है ॥१५॥

सुरापानं सकृत्कृत्वा योऽग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
स पावयत्यथात्मानमिह लोके परत्र च ॥१६॥

जो मनुष्य एक बार भी सुरापान कर लेता है, वह अग्नि वर्णा सुरा का पान करे। इस प्रायश्चित्त के करने से वह इस लोक और परलोक में पवित्र हो जाता है ॥१६॥

मरुप्रपातं प्रपतन् ज्वलनं वा समाविशन् ।
महाप्रस्थानमातिष्ठन्मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥१७॥

निर्जल प्रदेश में पर्वत से गिरना, अग्नि में प्रविष्ट होना, खेत में पड़े रहना, इन कर्मों का करने वाला मनुष्य सारे पापों से छुट जाता है ॥१७॥

बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः ।
समितिं ब्राह्मणो गच्छेदिति वै ब्राह्मणः श्रुतिः ॥१८॥

जो सुरापायी ब्राह्मण, बृहस्पतिसव नामक इष्टि कर लेता है वह ब्राह्मणों की पञ्चायत में बैठने योग्य हो जाता है, यह वेद की श्रुति है ॥१८॥

भूमिप्रदानं कुर्याद्यः सुरां पीत्वा विमत्सरः ।
पुनर्न च पिबेद्राजन्संस्कृतः स च शुध्यति ॥१९॥

हे राजन ! जो मनुष्य सुरापान करके भूमि प्रदान करता है और फिर कभी सुरापान नहीं करता, वह राग द्वेष से रहित हुआ जानता, फिर संस्कार कराने से पवित्र हो जाता है ॥१९॥

गुरुतल्पी शिलां तप्तामायसीमभिसंविशेत् ।
अवकृत्यात्मनः शेफं प्रव्रजेदूर्ध्वदर्शनः ॥२०॥

जो गुरु-पत्नी के साथ संगम करता है, वह तप्त लोहे की खाट पर सोवे तथा अपने लिङ्ग को काट कर ऊपर को देखता हुआ यदि भाग जावे, तो गुरु-पत्नी गमन दोष से मुक्त हो जाता है ॥२०॥

शरीरस्य विमोक्षेण मुच्यते कर्मणोऽशुभात् ।
कर्मभ्यो विप्रमुच्यन्ते यत्ताः संवत्सरं स्त्रियः ॥२१॥

जो मनुष्य, अशुभ कर्म करके अपने शरीर को ऐसे दण्ड से त्याग देवें, तो वे उस पाप से छुट जाते हैं। यदि स्त्रियां पाप करें, तो एक वर्ष तक बड़ी सावधानी से व्रत नियम करके उस पाप से पवित्र हो जाती हैं ॥२१॥

महाव्रतं चरेद्यस्तु दद्यात्सर्वस्वमेव तु ।
गुर्वर्थे वा हतो युद्धे स मुच्येत्कर्मणोऽशुभात् ॥२२॥

जो मनुष्य, कृच्छ्रादि महाव्रत का आचरण करे, सर्वस्व दान देवे तथा गुरु के निमित्त युद्ध में मारा जावे, वह पापकर्म से मुक्त हो जाता है ॥२२॥

अनृतेनोपचर्ता चेत्प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा ।
उपाहृत्य प्रियं तस्मै तस्यात्पापात्प्रमुच्यते ॥२३॥

जो मनुष्य, गुरु के साथ मिथ्या व्यवहार करता है या गुरु की इच्छा के प्रतिकूल चलता है, तो फिर गुरु की इच्छानुसार उसके प्रिय कर्म को करके वह उस पाप से छुटकारा पा लेता है ॥२३॥

अवकीर्णिनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
गोचर्मवासाः षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥

जिसका व्रत नष्ट हो गया, वह ब्रह्म-हत्या के व्रत का आचरण करे। वह गोचर्म के वस्त्र छः मास तक धारण करे, तो फिर पाप से मुक्त हो जाता है ॥२४॥

परदारापहारी तु परस्यापहरन्वसु ।
संवत्सरं व्रती भूत्वा तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥२५॥

जो पर-स्त्री और अन्य के धन का अपहरण करता है, वह एक वर्ष तक कृच्छ्रव्रत का आचरण करे-तो पाप से मुक्त हो जाता है ॥२५॥

धनं तु यस्यापहरेत्तस्मै दद्यात्समं वसु ।
विविधेनाभ्युपायेन तदा मुच्येत किल्बिषात् ॥२६॥
कृच्छ्राद् द्वादशरात्रेण संयतात्मा व्रते स्थितः ।
परिवेत्ता भवेत्पूतः परिवित्तिस्तथैव च ॥२७॥
निवेश्यं तु पुनस्तेन सदा तारयता पितॄन् ।
न तु स्त्रियो भवेद्दोषो न तु सा तेन लिप्यते ॥२८॥

जो मनुष्य बारह दिन तक के नियम का कृच्छ्रव्रत करे-तो बड़े से प्रथम ही विवाह करने वाला परिवेत्ता और वह बड़ा भाई परिवित्ति भी पवित्र हो सकता है। यह सब कुछ बड़े भ्राता के विवाह करने पर हो सकेगा। फिर उनके पितरों का भी उद्धार हो जावेगा। स्त्रियों को इसमें दोष नहीं है और न वे इसके पाप में लिप्त होती हैं ॥२७-२८॥

भोजनं ह्यन्तराशुद्धं चातुर्मास्ये विधीयते ।
स्त्रियस्तेन प्रशुध्यन्ति इति धर्मविदो विदुः ॥२६॥

यदि स्त्रियों से कोई पाप कर्म बन जावे, तो वे अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले भोजन चार मास तक करें, उनकी इसी से शुद्धि हो जाती है—ऐसा धर्माचार्यों ने कहा है ॥२६॥

स्त्रियस्त्वाशङ्किताः पापा नोपगम्या विजानता ।
रजसा ता विशुध्यन्ते भस्मना भाजने यथा ॥३०॥

जब स्त्रियों के व्यभिचार आदि दोष की आशङ्का होवे-तो ज्ञानी मनुष्य को उनके समीप नहीं जाना चाहिए। जब वे प्रायश्चित कर ले, तो ऋतुकाल में उनको वैसे ही पवित्र समझना चाहिए-जैसे भस्म से पात्र शुद्ध हो जाता है ॥३०॥

पादजोच्छिष्टकांस्यं यद्गवाघ्रातमथापि वा ।
गण्डूषोच्छिष्टमपि वा विशुध्येद्दशभिस्तु तत् ॥३१॥

शूद्र के झूंठे कांसी के पात्र, गौ और कुल्ले आदि से अपवित्र हुए पात्र, पञ्चगव्य, मिट्टी,जल, भस्म,खटाई आदि दश वस्तुओं से पवित्र होते हैं ॥३१॥

चतुष्पात्सकलो धर्मो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
पादावकृष्टो राजन्ये तथा धर्मो विधीयते ।
तथा वैश्ये च शूद्रे च पादः पादो विधीयते ।
विद्यादेवंविधेनैषां गुरुलाघवनिश्चयम् ॥३३॥

ब्राह्मणों को चतुष्पाद, क्षत्रिय को त्रिपाद, वैश्य को दो पाद और शूद्र को एक पाद धर्म और प्रायश्चित्त की आज्ञा है। इस तरह इनके गुरु और लाघव की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥३२-३३॥

तिर्यग्योनिवधं कृत्वा द्रुमांश्छित्त्वेतरान्बहून् ।
त्रिरात्रं वायुभक्षः स्यात्कर्म च प्रथयन्नरः ॥३४॥

जो मनुष्य, पक्षियों तथा वृक्ष आदि का वृथा हनन करता है, वह अपने पाप-कर्म को सब को बताता हुआ तीन रात तक वायु का भक्षण करे ॥३४॥

अगम्यागमने राजन्प्रायश्चित्तं विधीयते ।
आर्द्रवस्त्रेण षण्मासान्विहार्यं भस्मशायिना ॥३५॥
एष एव तु सर्वेषामकार्याणां विधिर्भवेत् ।
ब्रह्मणोक्तेन विधिना दृष्टान्तागमहेतुभिः ॥३६॥

हे राजन्! जिसने अगम्य स्त्री के साथ गमन किया, उसका यही प्रायश्चित्त है, कि वह छः महीने तक गीला वस्त्र ओढ़ कर भस्म में शयन करे। यह सारे अकार्यों के प्रायश्चित्त की विधि कही गई है। ब्रह्मा ने शब्द युक्ति और दृष्टान्त के द्वारा यही सिद्ध किया है ॥३५-३६॥

सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः ।
अहिंसो मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥३७॥

जो पापी मनुष्य, मौन व्रत धारण करके किसी की हिंसा न करता हुआ, रागद्वेष और अपमान से रहित होकर थोड़ा भोजन करके गायत्री जप करता है, वह भी सब पापों से छुट जाता है।

अहःसु सततं तिष्ठेदभ्याकाशं निशां स्वपन् ।
त्रिरह्नि त्रिर्निशायां च सवासाजलमाविशेत् ॥३८॥

दिन में किसी चबूतरे पर बैठा रहे और रात में खुले आकाश के नीचे सोवे तथा तीन दिन और तीन रात तक वस्त्रसहित जल में प्रविष्ट हो जावे ॥३८॥

स्त्री शूद्रं पतितं चापि नाभिभाषेद्व्रतान्वितः ।
पापान्यज्ञानतः कृत्वा मुच्येदेवं व्रतो द्विजः ॥३९॥

व्रत करता हुआ मनुष्य स्त्री, शूद्र और पतित के साथ बातचीत न करे। जो मनुष्य अज्ञान से पाप करता है, वह इस प्रकार के व्रत करता हुआ सारे पापों से छुट जाता है ॥३९॥

शुभाशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम् ।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्ता लभते फलम् ॥४०॥

अग्नि, जल आदि भूत गण, शुभ अशुभ कर्म के साक्षी होते हैं। मनुष्य इन शुभ और अशुभ कर्मों को परलोक में भोगता है। जब जिस पाप या पुण्य के फल के उदय का समय आता है, तब ही कर्ता उसके फल को भोगने लगता है ॥४०॥

तस्माद्दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम् ।
वर्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान् ॥४१॥

मनुष्य से यदि किसी पापकर्म का आरम्भ हो जावे, तो उसे फिर दान, तप, यज्ञ आदि अनेक शुभ-कर्म करने चाहिए। अशुभ-कर्म करके शुभकर्म करने से शुभकर्मों की अधिकता हो जाती है ॥४१॥

कुर्याच्छुभानि कर्माणि निवर्तेत्पापकर्मणः ।
दद्यान्नित्यं च वित्तानि तथा मुच्येत किल्विषात् ॥

जो मनुष्य शुभ कर्म करता है, वह पाप कर्म से निवृत्त हो जाता है। जो मनुष्य, पाप निवृत्ति के निमित्त धन का दान करता है, वह पाप से मुक्त होता है ॥४२॥

अनुरूपं हि पापस्य प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।
महापातकवर्जं तु प्रायश्चित्तं विधीयते ॥४३॥

जो पाप जितने आकार का हो-उसका प्रायश्चित्त भी वैसा ही होना चाहिए। महापातकों को छोड़कर सारे पातकों के प्रायश्चित्त कहे गए हैं ॥४३॥

भक्ष्याभक्ष्येषु चान्येषु वाच्यावाच्ये तथैव च ।
अज्ञानज्ञानयो राजन् विहितान्यनुजानतः ॥४४॥
जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात्स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते ॥४५॥

हे राजन ! भक्ष्य अभक्ष्य के विषय में जो प्रायश्चित्त कहा गया या नहीं कहा गया तथा ज्ञान या अज्ञान से किये हुए पाप के विषय में कहा गया । ये सब प्रायश्चित्त ज्ञानी मनुष्य के लिए ही कहे गए हैं । जो जानकर पाप कर्म करता है, उसको भारी दोष लगता है । जो अज्ञान से करता है, उसको थोड़ा प्रायश्चित्त करना पड़ता है ॥४४-४५॥

शक्यते विधिना पापं यथोक्तेन व्यपोहितुम् ।
आस्तिके श्रद्दधाने च विधिरेष विधीयते ॥४६॥

इस विधि से पाप कर्म नष्ट किया जा सकता है । आस्तिक और श्रद्धालु पुरुष के लिए यह विधि बतायी गई है ॥४६॥

नास्तिकाश्रद्दधानेषु पुरुषेषु कदाचन ।
दम्भद्वेषप्रधानेषु विधिरेष न दृश्यते ॥४७॥

नास्तिक, अश्रद्धालु, दम्भ द्वेष संयुक्त पुरुषों में यह विधि नहीं चल सकेगी ॥४७॥

शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृतां वर ।
सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना ॥४८॥

हे धर्मात्मन ! नरव्याघ्र ! मनुष्य को शिष्टाचार और शिष्ट धर्म का सर्वदा आचरण करना चाहिए । इसके सेवन से सुख के अभिलाषी पुरुष को इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त हो सकता है ॥४८॥

स राजन्मोक्ष्यसे पापात्तेन पूर्णेन हेतुना ।
प्राणार्थं वा धनेनैषामथवा नृपकर्मणा ॥४९॥

हे राजन्! इस पूर्ण हेतु से सिद्ध हो गया-कि मनुष्य, युद्ध आदि में हिंसा करके भी पाप से लिप्त नहीं होता। यह सब कुछ अपने प्राण, धन की रक्षा और क्षत्रियोचित कर्म के अनुसार ही किया जाता है ॥४९॥

अथवा ते घृणा काचित्प्रायश्चित्तं चरिष्यसि ।
मा त्वेवानार्यजुष्टेन मन्युना निधनं गमः ॥५०॥

हे राजन्! यदि तुम को अब भी कुछ घृणा है, तो तुम प्रायश्चित्त कर लो, परन्तु इस अनार्यों के समान शोक से अपनी मृत्यु आप न बुलाओ ॥५०॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तो भगवता धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तेन प्रत्युवाच तपोधनम् ॥५१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब भगवान् वेदव्यास ने धर्मराज से इतना कहा-तो धर्मराज युधिष्ठिर कुछ देर सोचकर वे फिर तपोधन वेदव्यास से यह वचन बोले ॥५१॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में वेदव्यास के प्रायश्चित्त वर्णन का पैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

छत्तीसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

किं भक्ष्यं चाप्यभक्ष्यं च किं च देयं प्रशस्यते ।
किं च पात्रमपात्रं वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! भक्ष्य और अभक्ष्य क्या माने गए हैं। किस वस्तु के दान की प्रशंसा की जाती है। पात्र और अपात्र की क्या व्यवस्था है—यह सब कुछ मुझे बताओ ॥१॥

व्यास उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सिद्धानां चैव संवादं मनोश्चैव प्रजापतेः ॥२॥

व्यास जी बोले—हे राजन् ! मनु प्रजापति और सिद्धों के विषय में एक प्राचीन इतिहास है, जिसे लोग कहते चले आए हैं—मैं वही तुमको सुनाता हूँ ॥२॥

ऋषयस्तु व्रतपराः समागम्य पुरा विभुम् ।
धर्मं पप्रच्छुरासीनमादिकाले प्रजापतिम् ॥३॥

एक समय अनेक ऋषि, व्रत में परायण होकर शक्तिशाली भगवान् प्रजापति के पास पहुंचे। वे बैठे हुए थे, तब उनसे इन्होंने धर्म के विषय में यह प्रश्न किया ॥३॥

कथमन्नं कथं पात्रं दानमध्ययनं तपः ।
कार्याकार्यं च यत्सर्वं शंस वै त्वं प्रजापते ॥४॥

हे प्रजापते ! अन्न, पात्र, दान, अध्ययन, तप, कार्य और अकार्य-इन सब के विषय में मुझे बताओ-कि इनकी क्या व्यवस्था है ॥४॥

तैरेवमुक्तो भगवान्मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासतः ॥५॥

जब ऋषियों ने इतना कहा-तो स्वायम्भुव मनु इस प्रकार बोले—हे मुनियो ! मैं तुमको कुछ विस्तार और किसी धर्म को संक्षेप से कहता हूँ-तुम ध्यान से सुनो ॥५॥

अनादेशे जपो होम उपवासस्तथैव च ।
आत्मज्ञानं पुण्यनद्यो यत्र प्रायश्च तत्परा ॥६॥

जिस देश में किसी दोष का वर्णन नहीं किया, उसमें जप, होम, उपवास और आत्मज्ञान का उद्योग करने से शीघ्र सिद्धि मिलती है। वहां पर यदि कोई पवित्र नदी और जप आदि करने वाले ब्राह्मण हों-तो कहना ही क्या है ॥६॥

अनादिष्टं तथैतानि पुण्यानि धरणीभृतः ।
सुवर्णप्राशनमपि रत्नादिस्नानमेव च ॥७॥
देवस्थानाभिगमनमाज्यप्राशनमेव च ।
एतानि मेध्यं पुरुषं कुर्वन्त्याशु न संशयः ॥८॥

इसी तरह ब्रह्मगिरि आदि पर्वत भी पवित्र माने गए हैं, जिनमें किसी दोष का वर्णन न किया गया हो। यही एक सामान्य प्रायश्चित्त माना गया है। ऐसे स्थानों में सुवर्ण, रत्नादि डाल कर

स्नान करना चाहिए। देवों के थानों का दर्शन और घृत-पान करे। ये कार्य, पुरुष को शीघ्र शुद्ध कर देते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥७८॥

न गर्वेण भवेत्प्राज्ञः कदाचिदपि मानवः ।
दीर्घमायुरथेच्छन्हि त्रिरात्रं चोष्णपो भवेत् ॥९॥

बुद्धिमान् मनुष्य कभी गर्वोन्मत्त न होवे, जो अपनी दीर्घ आयु की अभिलाषा करे, वह ऐसे तीर्थ स्थानों में तीन रात तक उष्ण जल मात्र पीकर उपवास करे ॥९॥

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥१०॥

जब कोई देने की प्रतिज्ञा करके उसे न देवे तो उसे दान अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, अक्रोध और यज्ञ आदि का अनुष्ठान करना चाहिए ॥१०॥

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ॥११॥

पूर्वोक्त धर्म भी देश काल के अनुसार कभी अधर्म कभी और चोरी, झूंठ, हिंसा आदि अधर्म भी अवस्था-विशेष से धर्म माने गए हैं ॥११॥

द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम् ।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः ॥१२॥

ये धर्म और अधर्म दोनों भी दो २ तरह के होते हैं। लोक और वेद में निवृत्ति और प्रवृत्ति के भेद से ये दो तरह के माने गए हैं ॥१२॥

अप्रवृत्ते रमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलं।
अशुभस्याशुभं विद्याच्छुभस्य शुभमेव च।
एतयोश्चोभयोः स्यातां शुभाशुभतया तथा ॥१३॥

निवृत्तिमार्ग का फल मोक्ष और प्रवृत्तिमार्ग का फल स्वर्गादि की प्राप्ति होकर जन्म-मरण में घूमना है। अशुभ कर्म का अशुभ और शुभ कर्म का शुभ फल होता है यह निश्चित है। इन दोनों में जैसी शुभ और अशुभ वासना होगी-वैसा ही फल होगा ॥१३॥

दैवं च दैवसंयुक्तं प्राणश्च प्राणदश्च ह।
अपेक्षा पूर्वकरणादशुभानां शुभं फलम् ॥१४॥

कर्मानुसार प्राप्त कर्म, शास्त्रकर्म, जीवन और जीवनदायी कर्म-ये नीच मनुष्य को भी वासना के अधीन शुभ फल दे जाते हैं ॥१४॥

ऊर्ध्वं भवति सन्देहादिह दृष्टार्थमेव च।
अपेक्षा पूर्वकरणात्प्रायश्चित्तं विधीयते ॥१५॥

लोकनिन्दा से बचने या लोक में प्रशंसा पाने के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, उनमें श्रद्धा नहीं होने से सन्देह

रहता है, वे वासना के कारण अशुभ फल दाता होते हैं। उनका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा ॥१५॥

क्रोधमोहकृते चैव दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
शरीराणामुपक्लेशो मनसश्च प्रियाप्रिये ।
तदौषधैश्च मन्त्रैश्च प्रायश्चित्तैश्च शाम्यति ॥१६॥

क्रोध और मोह के वश में होकर प्रिय या अप्रिय जो कर्म कर डाले गए, पूर्वोक्त दृष्टान्त शास्त्र और युक्तियों के अनुसार उपवास आदि से शरीर शोषण करने तथा औषध, मन्त्र आदि के प्रयोग से एवं अन्य प्रायश्चित्तों से उन पापों का शमन हो सकेगा ॥१६॥

उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः ।
विशुद्ध्येदात्मशुद्ध्यर्थं त्रिरात्रं तु पुरोहितः ॥१७॥

राजा दण्ड का परित्याग कर देवे, तो एक रात उपवास करने पर शुद्ध होता है और पुरोहित अपनी शुद्धि के निमित्त तीन रात तक व्रत करे ॥१७॥

न्ययं शोकं प्रकुर्वाणो न म्रियेत यदा नरः ।
शस्त्रादिभिरुपाविष्टस्त्रिरात्रं तत्र निर्दिशेत् ॥१८॥

मनुष्य पुत्रादि की मृत्यु हो जाने पर शोक या शस्त्रादि आत्म-हत्या के प्रयत्नों से किसी प्रकार न मरे और वह इनको मृत्यु के ख्याल से करे—तो उसे तीन रात तक व्रत करना चाहिये।

जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्माश्च सर्वतः ।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते ॥१९॥

ब्राह्मणादि जाति, गृहस्थादि श्रेणी, जन्मभूमि और कुल-धर्म एवं धर्म को जो छोड़ देता है, उसको ये धर्म की व्यवस्था क्या काम दे सकती है। उसका तो धर्म में अधिकार ही नहीं है ॥१९॥

दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद्ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये ॥२०॥

वेदशास्त्र के जानने वाले या धर्म पाठक दश या तीन ब्राह्मण समय के ऊपर जो व्यवस्था देवें, धर्म के संशय में उसे ही प्रमाण मानना चाहिये ॥२०॥

अनड्वान्मृत्तिका चैव तथा क्षुद्रपिपीलिकाः।
श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च ॥२१॥

ब्राह्मणों को बैल, मिट्टी, क्षुद्र कीड़े, श्लेष्मातक लसोड़े के समान चिकने जन्तु और और विषैले जीव नहीं खाने चाहियें।

अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शुल्कैर्ये वै विवर्जिताः।
चतुष्पात्कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्च ये ॥२२॥

जो मूल्य से नहीं बिकते उन मत्स्यों को ब्राह्मण न खावे। चार पैर वाले कछुए को छोड़ कर अन्य मेंढक आदि जलचारी जन्तु अभक्ष्य हैं ॥२२॥

भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाकाः प्लवा बकाः।
काको मद्गुश्च गृध्रश्च श्येनोलूकस्तथैव च ॥२३॥
क्रव्यादा दंष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात्पक्षिणश्च ये।
येषां चोभयतो दन्ताश्चतुर्दंष्ट्राश्च सर्वशः।

भास हंस, सुपर्ण, चक्रवाक, सव, बक, काक, जलकाक, गीध श्येन, उलूक, मांसभोजी जन्तु, दांत वाले, चार पैर के पशु पक्षी, दोनों ओर दांत वाले पशु और चार दांत धारी पशु भी द्विजाति को अभक्ष्य हैं ॥२३-२४

एडकाश्वखरोष्ट्रीणां सूतिकानां गवामपि ।
मानुषीणां मृगीणां च न पिबेद्ब्राह्मणः पयः ॥२५॥

भेड़, घोड़ी, गधी, ऊंटनी और दश दिन की ब्याई गाय, मानुषी, मृगी, इनका दूध ब्राह्मण न पीवे ॥२५॥

प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच्च किञ्चिदनिर्दशम् ।
अभोज्यं चाप्यपेयं च धेनोर्दुग्धमनिर्दशम् ॥२६॥

प्रेतान्न, सूतिकान्न, दश दिन तक नहीं खाना तथा गाय का दश दिन तक दूध भी नहीं पीना चाहिए ॥२६॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः ॥२७॥

राजा का अन्न सारे तेज को, शूद्र का अन्न ब्रह्मचर्य को, सुवर्णकार का अन्न और पुत्रहीन स्त्री का अन्न आयु का अपहरण करता है ॥२७॥

विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं गणिकान्नमथेन्द्रियम् ।
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितान्नं च सर्वशः ॥२८॥

ब्याज खाने वाले का अन्न विष्ठा माना गया है । वेश्या का अन्न, वीर्य नाशक है । जो अपनी स्त्री के पास आने वाले उपपति

का निषेध नहीं करते या जो स्त्री की आज्ञा में व्यवहार करते हैं, उनका अन्न भी वीर्य का घातक है ॥२८॥

दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रतुविक्रयिकस्य च ।
तक्ष्णश्चर्मावकर्तुश्च पुंश्चल्या रजकस्य च ॥२९॥
चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा ।

यज्ञ दीक्षा में स्थित; (यज्ञान्त में भोजन विहित है) कंजूस, यज्ञ विक्रेता, खाती, चमार, व्यभिचारिणी, धोबी, वैद्य, चौकीदार (कोतवाल) आदि का अन्न अभक्ष्य है ॥२९॥

गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनां तथा ॥३०॥
परिवित्तीनां पुंसां च बन्दिद्यूतविदां तथा ।
वामहस्ताहृतं चान्नं भक्तं पर्युषितं च यत् ।
सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितं च यत् ।

गण ग्रामों की रक्षा करने वाले पुरुष, नाटक में नाचने वाली स्त्री, ज्येष्ठ के स्थित रहने पर छोटे के विवाह करने वाले दोनों भ्राता, बन्दी, जुआरी आदि का अन्न अभोज्य है। बांये हाथ से दान करने वाले तथा बासी भोजन, सुरा से स्पृष्ट उच्छिष्ट तथा अपने लिये बचाया हुआ अन्न अभक्ष्य है ॥३०-३१॥

पिष्टस्य चेक्षुशाकानां विकाराः पयसस्तथा ॥३२॥
सक्तुधानाकरम्भाणां नोपभोग्याश्चिरस्थिताः ।

ईख, शाक, पिट्ठी के बिगड़े हुए पदार्थ तथा फटा हुआ दूध, सत्तू, भुने धान, दही आदि बहुत देर के रखे हों तो नहीं खाने चाहियें ॥३२॥

पायसं कृसरं मांसमपूपाश्च वृथाकृताः ॥३३॥
अपेयाश्चाप्यभक्ष्याश्च ब्राह्मणैर्गृहमेधिभिः ।

खीर, खिचड़ी, मालपुवे तथा देवता के उद्देश्य के बिना बनाये हुए पदार्थ, गृहस्थी ब्राह्मण को न तो पीने चाहियें न खाने चाहियें।

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितृन् गृह्याश्च देवताः ॥३४॥
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थो भोक्तुमर्हति ।

देव, ऋषि, मनुष्य, पितर आदि घर के देवता—इनको पूज कर फिर गृहस्थी मनुष्य भोजन करे ॥३४॥

यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत् ॥३५॥
एवं धृतः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात् ।

जिस तरह घर से निकला हुआ भिक्षु आचरण करता है, उसी तरह विषयत्यागी होकर गृहस्थी घर में रहे। इस तरह अपनी प्रिय स्त्रियों आदि के साथ व्यवहार भी करता है, तो भी वह धर्म को प्राप्त कर लेता है ॥३५॥

न दद्याद्यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ॥३६॥
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः ।

यश की इच्छा और भय से दान न देवे और न उपकारी को धर्म निमित्त दान देवे। नृत्य, गीत आदि व्यवहार में, हँसी के कार्य, भांड आदि के खेल में भी धार्मिक गृहस्थी दान न देवे॥३६॥

न मत्ते चैव नोन्मत्ते न स्तेने न च कुत्सके॥३७॥
न वाग्घीने विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने ।

न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्यो वा न संस्कृतः ॥३८॥
न श्रोत्रियमृते दानं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ।
असम्यक्चैव यद्दत्तमसम्यक् च प्रतिग्रहः ॥
उभयं स्यादनर्थाय दातुरादातुरेव च ॥३९॥
यथा खदिरमालंब्य शिलां वाप्यर्णवं तरन् ।
मज्जेत मज्जतस्तद्वद्दाता यश्च प्रतिग्रही ॥४०॥

असावधान, पागल, चोर, निन्दक, गूंगे, पीले पड़े हुए, अङ्गहीन, वामन, दुर्जन, अकुलीन और व्रतहीन पुरुष को दान न देवें। वेदपाठी ब्राह्मण को छोड़कर किसी को दान देना ही नहीं चाहिए। विना शास्त्रविधि के वेद विहीन ब्राह्मण को दिया हुआ दान और शास्त्रविधि से रहित ग्रहण किया हुआ दान दोनों ही दाता ग्रहीता के अनर्थ के लिये होते हैं। जिस तरह खदिर का भारी डण्डा या पत्थर की शिला लेकर मनुष्य तरना चाहता है, परन्तु वह डूब जाता है, इसी तरह शास्त्रविधि रहित दान देने वाला और ग्रहीता दोनों ही पाप में डूबते हैं ॥३७-४०॥

काष्ठैरार्द्रैर्यथा वन्हिरुपस्तीर्णो न दीप्यते ।
तपः स्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रही ॥४१॥

गीले काष्ठ से ढका हुआ अग्नि, जिस तरह प्रज्वलित नहीं हो उठता, इसी तरह तप, स्वाध्याय और चरित्र से हीन दान लेने वाला, ब्राह्मण अपने पद से च्युत हो जाता है ॥४१॥

कपाले यद्वदापः स्युः श्वदृतौ च यथा पयः ।
आश्रयस्थानदोषेण वृत्तहीने तथा श्रुतम् ॥४२॥

मनुष्य की खोपड़ी में भरा हुआ पानी या कुत्ते की खाल में भरा हुआ दूध, आश्रय के कारण जिस तरह दूषित माने जाते हैं, इसी तरह आचारहीन पुरुष में वेद भी दूषित हो जाता है अर्थात् आचारहीन वेदपाठी को भी दान नहीं देना चाहिये ॥४२॥

निर्मन्त्रो निर्व्रतो यः स्यादशास्त्रज्ञोऽनसूयकः ।
अनुक्रोशात्प्रदातव्यं हीनेष्वव्रतिकेषु च ॥४३॥

वेद ज्ञान और सदाचार से रहित, शास्त्ररहित, निन्दक और व्रतहीन पुरुषों को भी दया के वश में दान दिया जा सकता है, जब उनकी बहुत दुर्दशा हो रही हो ॥४३॥

न वै देयमनुक्रोशाद्दीनार्तातुरकेष्वपि ।
आप्ताचरित इत्येव धर्म इत्येव वा पुनः ॥४४॥

किसी २ का तो यही मत है, कि वेदादि से रहित, दीन, दुःख और क्लेशातुर ब्राह्मण को दया के वश में होकर श्रेष्ठ पुरुषों का दान देना कर्तव्य है या इससे धर्म होगा—ऐसा विचार कर दान देना ठीक नहीं है ॥४४॥

निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ।
भवेदपात्रदोषेण न चात्रास्ति विचारणा ॥४५॥

वेद हीन ब्राह्मण के दान देने में तो कोई कारण ही दिखाई नहीं देता । अपात्र को दान देने में ही दोष होगा—इसमें विचार की आवश्यकता ही नहीं है ॥४५॥

यथा दारुमयो हस्तीयथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥४६॥

जैसे काष्ठ का हाथी और मृत चर्म का कृत्रिम मृग नाम धारी हैं, इसी तरह वेद पाठ से हीन ब्राह्मण भी केवल नाम मात्र का ब्राह्मण है-ये तीनों नाम मात्र के हाथी, मृग और ब्राह्मण समझने चाहिए।

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीपु यथा गौर्गवि चाफला ।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥४७॥

जिस तरह नपुंसक, स्त्रियोंमें निरर्थक होता है और जिस तरह वधिया बैल, गायों में वृथा है या विना पक्ष के पक्षी निरर्थक है, उसी तरह वेद हीन ब्राह्मण होता है ॥४७॥

ग्रामधान्यं यथा शून्यं यथा कूपश्च निर्जलः ।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ॥४८॥

अन्न से रहित ग्राम का अन्न भण्डार तथा जलहीन कूप एवं भस्म में हवन निरर्थक माना जाता है, उसी तरह मूर्ख ब्राह्मण को दान देना व्यर्थ है ॥४८॥

देवतानां पितृणां च हव्यकव्यविनाशकः ।
शत्रुरर्थहरो मूर्खो न लोकान्प्राप्तुमर्हति ॥४६॥

इस तरह विना समझे बूझे दिया हुआ दान, देव और पितरों के हव्य कव्य का नाशक है। वेद हीन मूर्ख ब्राह्मण तो धनापहारक शत्रु समझना चाहिए। इसके दिए हुए दान से किसी उत्तम लोक की प्राप्ति नहीं होती है ॥४६॥

एतत्ते कथितं सर्वं यथावृत्तं युधिष्ठिर ।
समासेन महद्भूयेतच्छ्रोतव्यं भरतर्षभ ॥५०॥

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३६॥

हे युधिष्ठिर ! यह सब कुछ मैंने तुमको शास्त्रविधि के अनुसार दान विधि संक्षेप में बताई है। हे भरतर्षभ ! अब तुम शेष धर्म को विस्तार से सुनो ॥५१॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में व्यास के दान विधि के उपदेश का छत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



सैंतीसवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने
राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! महामुने ! अब मैं राजधर्म और चारों वर्णों के धर्मों को विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ ॥१॥

आपत्सु च यथा नीतिः प्रणेतव्या द्विजोत्तम ।
धर्म्यमालम्व्य पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥२॥

हे द्विजोत्तम ! आपत्काल में किस नीति का अनुवर्तन तथा धर्ममार्ग का अवलम्बन करके पृथिवी का विजय किया जा सकता है ॥२॥

प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष्यविवर्जिता ।
कौतूहलानुप्रभणा हर्षं जनयतीव मे ॥३॥

भक्ष्य और अभक्ष्य के सहित कही गई प्रायश्चित्त की कथा मेरे चित्त में बड़ा कुतूहल (इच्छा) उत्पन्न करके हर्ष को उत्पन्न कर रही है ॥३॥

धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते ।
एवं मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः ॥४॥

हे भगवन् ! धर्म का आचरण और राज्य भोगना ये तो दोनों विरुद्ध हैं । मैं जब इनका विचार करता हूँ तो मेरा चित्त मोह में डूब जाता है ॥४॥

वैशम्पायन उवाच-तमुवाच महाराज व्यासो वेदविदांवरः ।
नारदं समभिप्रेक्ष्य सर्वज्ञानां पुरातनम् ॥५॥

वैशम्पायन बोले—हे महाराज ! इतना सुनकर वेदव्यास, वेद के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ, भगवान् वेदव्यास, सर्वज्ञों में सबसे प्राचीन नारद मुनि की ओर देखकर यह वचन बोले ॥५॥

श्रोतुमिच्छसि चेद्धर्मं निखिलेन नराधिप ।
प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम् ॥६॥

स ते धर्मरहस्येषु संशयान्मनसि स्थितान् ।
छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥७॥

हे नराधिप ! यदि तुम सारे धर्म के तत्त्व को जानना चाहते हो-तो हे महाबाहो ! प्रथम तुम कुरुवंश के पूज्य पितामह भीष्म के समीप चलो। गङ्गा-पुत्र भीष्म, सारे धर्मों के तत्व का ज्ञाता है, उससे कोई धर्म का रहस्य छुपा हुआ नहीं है। धर्म के तत्वों के विषय में जो सन्देह तुम्हारे मन में स्थित हैं, उनका वे अवश्य छेदन कर देंगे ॥६-७॥

जनयामास यं देवी दिव्या त्रिपथगा नदी ।
साक्षाद्ददर्श यो देवान्सर्वानिन्द्रपुरोगमान् ॥८॥

भीष्म का जन्म देने वाली दिव्य तीन मार्गों से गमन करने वाली गङ्गा नदी है। भीष्म ने इन्द्र आदि सारे देवों के साक्षात् दर्शन किए हैं ॥८॥

बृहस्पतिपुरोगांस्तु देवर्षीनसकृत्प्रभुः ।
तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान् ॥९॥

इन शक्ति-शाली भीष्म पितामह ने बृहस्पति जैसे देवर्षियों की बहुत ही सेवा करके उनको सन्तुष्ट किया और उनसे राजनीति सीखी है ॥९॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च देवगुरुर्द्विजः ।
यच्च धर्मं सवैयाख्यं प्राप्तवान्कुरुसत्तमः ॥१०॥

शुक्राचार्य तथा देव गुरु बृहस्पति, जिन नीतिशास्त्रों के ज्ञाता हैं, उस सारे धर्मों को व्याख्या सहित कुरुवंशश्रेष्ठ महाभाग भीष्म पितामह जानते हैं ॥१०॥

भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानङ्गोपबृंहितान् ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वसिष्ठाचरितव्रतः ॥११॥

व्रतशील महाबाहु भीष्म ने भृगुवंशोत्पन्न परशुराम, महर्षि-च्यवन और महामुनि वसिष्ठ से अङ्ग और उपाङ्ग सहित वेदों का अध्ययन किया है ॥११॥

पितामहसुतं ज्येष्ठं कुमारं दीप्ततेजसम् ।
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञमुपाशिक्षत यः पुरा ॥१२॥

ब्रह्मा जी के सबसे ज्येष्ठ-पुत्र अत्यन्त तेजस्वी, अध्यात्म तत्व के ज्ञाता, महर्षि सनत्कुमार से उन्होंने बहुत कुछ अध्ययन किया है ॥१२॥

मार्कण्डेयमुखात्कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान् ।
रामादस्त्राणि शक्राच्च प्राप्तवान्पुरुषर्षभः ॥१३॥

पुरुषश्रेष्ठ, भीष्म पितामह ने महामुनि मार्कण्डेय के मुख से सारा यति धर्म सीखा तथा इन्द्र और परशुराम से अस्त्रविद्या का अध्ययन किया है ॥१३॥

मृत्युरात्मेच्छया यस्य जातस्य मनुजेष्वपि ।
तथाऽनपत्यस्य सतः पुण्यश्लोकादिविश्रुताः ॥१४॥

यद्यपि भीष्म मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुए हैं, तथापि मृत्यु उनके वश में है। यद्यपि भीष्म के कोई सन्तान नहीं है तो भी वे पुण्यलोकों में गमन करेंगे-यह प्रसिद्ध हो चुका है, इसी से उनकी पवित्रकीर्ति सर्वत्र गाई जा रही है ॥१४॥

यस्य ब्रह्मर्षयः पुण्या नित्यमासन्सभासदः।
यस्य नाविदितं किञ्चिज्ज्ञानयज्ञेषु विद्यते ॥१५॥

भीष्म पितामह की सभा की शोभा बड़े २ महर्षि बढ़ाया करते थे। ज्ञानयज्ञ के विषय में उनसे कुछ अज्ञेय हो-ऐसा नहीं कहा जा सकता है ॥१५॥

स ते वक्ष्यति धर्मज्ञः सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्ववित्।
तमभ्येहि पुरा प्राणान्स विमुञ्चति धर्मवित् ॥१६॥

हे राजन्! वे ही सूक्ष्म धर्म के तत्व के जानने वाले भीष्म पितामह, तुम को धर्म का तत्व सुनावेंगे। तुम उनके समीप शीघ्र पहुंच जाओ। वह धर्मात्मा अब शीघ्र प्राणों को छोड़ देने वाले हैं।

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो दीर्घप्रज्ञो महामतिः।
उवाच वदतां श्रेष्ठं व्यासं सत्यवतीसुतम् ॥१७॥

जब वेदव्यास ने कुन्ती-पुत्र, महाबुद्धिमान, विचारशील राजा युधिष्ठिर से इतना कहा-तो वे बोलने वालों में कुशल सत्यवती-सुत भगवान् व्यास से इस प्रकार वचन बोले ॥१७॥

युधिष्ठिर उवाच- वैशसं सुमहत्कृत्वा ज्ञातीनां रोमहर्षणम्।
आगस्कृत्सर्वलोकस्य पृथिवीनाशकारकः ॥१८॥

घातयित्वा तमेवाजौ छलेनाजिह्मयोधिनम् ।
उपसंप्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥१९॥

धर्मराज ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैंने अपने बन्धु बान्धवों का महान् रोमहर्षक विनाश मचा डाला है। मैं ही सारे जगत का अपराध करने वाला अभियुक्त हूँ। मैं सारी पृथिवी के वीरों का घातक हूँ। सरलता से युद्ध करने वाले भीष्म पितामह को मैंने ही तो छल से युद्ध में मरवाया है। अब बताओ मैं कैसे उनसे धर्म के विषय में प्रश्न कर सकता हूँ ॥१८-१९॥

वैशम्पायन उवाच- ततस्तं नृपतिश्रेष्ठं चातुर्वर्ण्यहितेप्सया ।
पुनराह महाबाहुर्यदुश्रेष्ठो महामतिः ॥२०॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! जब धर्मराज ने इतना कहा-तो चारों वर्णों के हित की कामना से महाबुद्धिमान् महाबाहु भगवान् कृष्ण, उनसे इस प्रकार वचन बोले ॥२०॥

वासुदेव उवाच-नेदानीमतिनिर्बन्धं शोके त्वं कर्तुमर्हसि ।
यदाह भगवान्व्यासस्तत्कुरुष्व नृपोत्तम ॥२१॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे नृपोत्तम ! इस समय तुमको बहुत ही शोक हो रहा है-अब तुम को अधिक आग्रह नहीं करना चाहिए। भगवान् व्यास ने जो तुम को कहा है, तुम उसको शीघ्र कर डालो ॥२१॥

ब्राह्मणास्त्वां महाबाहो भ्रातरश्च महौजसः ।
पर्जन्यमिव घर्मान्ते नाथमाना उपासते ॥२२॥

हे महाबाहो ! ये सारे ब्राह्मण और अत्यन्त तेजस्वी ये सारे भ्राता, ग्रीष्म ऋतु के अन्त में मेघ के सदृश तुम्हारी याचना में तत्पर हो रहे हैं ॥२२॥

हतशिष्टाश्च राजानः कृत्स्नं चैव समागतम् ।
चातुर्वर्ण्यं महाराज राष्ट्रं ते कुरुजाङ्गलम् ॥२३॥
प्रियार्थमपि चैतेषां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
नियोगादस्य च गुरोर्व्यासस्यामिततेजसः ॥२४॥
सुहृदामस्मदादीनां द्रौपद्याश्च परन्तप ।
कुरु प्रियममित्रघ्न लोकस्य च हितं कुरु ॥२५॥

हे महाराज ! जो मारने से राजा बच गए हैं, वे भी सब उपस्थित हैं तथा चारों वर्णों के प्रधान पुरुष यहां आ चुके हैं एवं कुरुजाङ्गल संज्ञक सारा राष्ट्र यहां उपस्थित है। हे परन्तप ! अब तुम महात्मा ब्राह्मणों की इच्छा पूर्ण करने के निमित्त तथा अत्यन्त तेजस्वी व्यास जी की आज्ञा से हम सुहृदों तथा द्रौपदी का हित सम्पादन करो। हे शत्रुनाशक ! इस तरह आपको सारे लोकों का हित सम्पादित करना चाहिए ॥२३-२५॥

वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः
हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥२६॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब श्रीकृष्ण ने कमल के समान नेत्रधारी धर्मराज से इतना वचन कहा-तो सारे लोक के हित को ध्यान में रखकर महामनस्वी धर्मराज खड़े हो गए ॥२६॥

सोऽनुनीतो नरव्याघ्र विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायने च तथा देवस्थानेन जिष्णुना ॥२७॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिरनुनीतो युधिष्ठिरः ।
व्यजहान्मानसं दुःखं सन्तापं च महायशाः ॥२८॥

हे नरव्याघ्र ! राजा युधिष्ठिर को भगवान् कृष्ण, वेदव्यास, महर्षि देवस्थान, अर्जुन तथा अन्य भी बहुत ऋषि मुनि और भ्राताओं ने समझाया-तो महायशस्वी धर्मराज ने कुछ मानसिक दुःख और सन्ताप को छोड़ा ॥२७-२८॥

श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतग्रन्थविशारदः ।
व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत्पाण्डुनन्दनः ॥२९॥
स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥३०॥
प्रविविक्षुः स धर्मज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणाश्च सहस्रशः ॥३१॥

पाण्डुनन्दन धर्मराज ने वेद के अङ्ग, मीमांसा, नीतिशास्त्र आदि सारे ग्रन्थ पढ़ रखे थे । उन्होंने मन की शान्ति को लक्ष्य में रख कर गमन कर दिया । इस समय राजा युधिष्ठिर, उन लोगों से घिरे हुए नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा के समान प्रतीत हुए । राजा धृतराष्ट्र को आगे करके सब धर्म के ज्ञाता कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर में प्रवेश करना चाहा । इस समय इन्होंने सहस्रों देव और ब्राह्मणों की पूजा की ॥२९-३१॥

ततो नवं रथं शुभ्रं कम्बलाजिनसंवृतम् ।
युक्तं षोडशभिर्गोभिः पाण्डुरैः शुभलक्षणैः ॥३२॥
मन्त्रैरभ्यर्चितं पुण्यैः स्तूयमानश्च बन्दिभिः ।
आरुरोह यथा देवः सोमोऽमृतमयं रथम् ॥३३॥

धर्मराज ने कम्बल और मृगचर्म आदि से परिवेष्टित एक शुभ्र नया रथ मंगाया। उसमें शुभलक्षणधारी सोलह बैल जुड़े हुए थे। उसकी पवित्र मन्त्रों से अर्चना की जा चुकी थी। बन्दी लोग धर्मराज की स्तुति कर रहे थे। धर्मराज रथ पर इस तरह चढ़े-जैसे चन्द्रमा अमृतमय रथ पर चढ़ता है ॥३२-३३॥

जग्राह रश्मीन्कौन्तेयो भीमो भीमपराक्रमः ।
अर्जुनः पाण्डुरं छत्रं धारयामास भानुमत् ॥३४॥

इस रथ की रास भीमपराक्रमी भीमसेन ने ग्रहण की और अर्जुन ने चमकीला श्वेतच्छत्र धारण किया ॥३४॥

ध्रियमाणं च तच्छत्रं पाण्डुरं रथमूर्धनि ।
शुशुभे तारकाकीर्णं सितमभ्रमिवाम्बरे ॥३५॥

रथ के ऊपर धारण किया गया वह छत्र, ऐसा सुशोभित हुआ, जैसे आकाश में तारों से व्याप्त श्वेत बादल सुशोभित होते हैं ॥३५॥

चामरव्यजने त्वस्य वीरौ जगृहतुस्तदा ।
चन्द्ररश्मिप्रभे शुभ्रे माद्रीपुत्रावलंकृते ॥३६॥

धर्मराज के निमित्त अलंकृत चँवर और पंखा, माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव ने ग्रहण किया। उन चँवर और पंखों की कान्ति चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल दिखाई देती थी ॥

ते पञ्च रथमास्थाय भ्रातरः समलंकृताः ।
भूतानीव समस्तानि राजन्ददृशिरे तदा ॥३७॥

हे राजन् ! इस प्रकार पांचों भाई, अलंकृत होकर उस रथ में बैठे। ये पांचों भाई, पंचभूत के समान दिव्य प्रकाशित हो रहे थे ॥३७॥

आस्थाय तु रथं शुभ्रं युक्तमश्वैर्मनोजवैः ।
अन्वयात्पृष्ठतो राजन्युयुत्सुः पाण्डवाग्रजम् ॥३८॥

हे राजन् ! मन के समान वेगशाली अश्वों से युक्त रथ में बैठकर धर्म के पीछे २ धृतराष्ट्र-पुत्र युयुत्सु चल दिए ॥३८॥

रथं हेममयं शुभ्रं शैब्यसुग्रीवयोजितम् ।
सह सात्यकिना कृष्णः समास्थायान्वयात्कुरून् ॥

श्रीकृष्ण भी अपने रथ में शैब्य सुग्रीव नामक अश्वों को जोड़कर सुवर्ण के समान चमकीले शुभ्र रथ में बैठकर सात्यकि के साथ इन कुरुवंशश्रेष्ठ पाण्डवों के पीछे चल दिए ॥३९॥

नरयानेन तु ज्येष्ठः पिता पार्थस्य भारत ।
अग्रतो धर्मराजस्य गान्धारीसहितो ययौ ॥४०॥

हे भारत ! धर्मराज के ज्येष्ठ पिता राजा धृतराष्ट्र भी नरयान (पिंजस) में गान्धारी के सहित बैठ कर धर्मराज के आगे २ चल दिए ॥४०॥

कुरुस्त्रियश्च ताः सर्वाः कुन्ती कृष्णा तथैव च ।
यानैरुच्चावचैर्जग्मुर्विदुरेण पुरस्कृताः ॥४१॥

कुन्ती और द्रौपदी आदि सारी कौरव स्त्रियां उत्तम २ यानों में बैठ कर चल दीं । उनके पीछे २ महात्मा विदुर चल रहे थे ।

ततो रथाश्च बहुला नागाश्च समलंकृताः ।
पादाताश्च हयाश्चैव पृष्ठतः समनुव्रजन् ॥४२॥

इसके अनन्तर बहुत से रथ, अलंकृत हाथी, पैदल और अश्व, धर्मराज के पीछे २ चल दिए॥४०॥

ततो वैतालिकैः सूतैर्मागधैश्च सुभाषितैः ।
स्तूयमानो ययौ राजा नगरं नागसाह्वयम् ॥४३॥

अब वैतालिक, सूत, मागध तथा सुभाषित श्लोक सुनाने वाले विद्वानों से स्तुति को प्राप्त होकर धर्मराज हस्तिनापुर की ओर चल दिए ॥४३॥

तत्प्रयाणं महाबाहोर्बभूवाप्रतिमं भुवि ।
आकुलाकुलमुत्कृष्टं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ॥४४॥

इस समय धर्मराज का गमन पृथिवी पर बहुत ही अद्भुत प्रतीत हुआ । इसमें हृष्ट-पुष्ट लोग, धक्कम धक्का कर रहे थे और भीड़-भड़क्के से बहुत ही कोलाहल मचा हुआ था ॥४४॥

अभियाने तु पार्थस्य नरैर्नगरवासिभिः ।
नगरं राजमार्गाश्च यथावत्समलंकृताः ॥४५॥

जब नगर निवासियों ने धर्मराज का आना सुना-तो उन्होंने नगर और राजमार्ग (सड़क) अच्छीतरह सजा दिया॥४५॥

पाण्डुरेण च माल्येन पताकाभिश्च मेदिनी ।
संस्कृतो राजमार्गोऽभूद्धूपनैश्च प्रधूपितः ॥४६॥

सब ओर श्वेत पुष्पों की माला लटका दी गई । पृथिवी पताकाओं से भर गई । सारे राजमार्ग पर बुहारी लगवा कर छिड़काव करवा दिया गया और सुगन्धित धूप से मार्ग सुगन्धित कर दिया ॥४६॥

अथ चूर्णैश्च गन्धानां नानापुष्पप्रियङ्गुभिः ।
माल्यदामभिरासक्तै राजवेश्माभिसंवृतम् ॥४७॥

सुगन्धित चूर्ण, प्रियंगु आदि अनेक प्रकार के पुष्प, मालाओं की पंक्ति से राजमार्ग बहुत सुन्दर बना दिया गया ॥४७॥

कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः ।
सिताः सुमनसो गौराः स्थापितास्तत्र तत्र ह ॥४८॥

नगर के द्वार पर जल से भर कर नवीन २ दृढ़ कलश रख दिए गए । जहां देखो वहीं पर श्वेत पुष्पों की माला या श्वेत पुष्प बिखरे पड़े थे ॥४८॥

यथा स्वलंकृतं द्वारं नगरं पाण्डुनन्दनः ।
स्तूयमानः शुभैर्वाक्यैः प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥४९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशे सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३७॥

इस प्रकार नगर और उसका द्वार अलंकृत था। धर्मराज सुन्दर वाक्यों से प्रशंसित हुए अपने मित्रों के साथ हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुए ॥४६॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में धर्मराज के भीष्म से उपदेश ग्रहण करने निमित्त हस्तिनापुर गमन का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



अड़तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-प्रवेशने तु पार्थानां जनानां पुरवासिनाम्
दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब पाण्डवों का पुर में प्रवेश होने लगा, तो दर्शनेच्छुक सहस्रों पुरवासी मनुष्यों के झुंड, सहस्रों स्थानों से आने लगे ॥१॥

स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः।
यथा चन्द्रोदये राजन्वर्धमानो महोदधिः ॥२॥

हे राजन्! राजमार्ग के सारे चबूतरे अलंकृत कर दिए, जिससे राजमार्ग इस तरह सुशोभित हो उठा-जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र उछलने लगा हो ॥२॥

गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च।
प्राकम्पन्तीव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥३॥

हे भारत ! सड़कों पर बने हुए रत्न-जटित बड़े २ भवन, स्त्रियों से भरे हुए बोझे से कांप से रहे थे ॥३॥

ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ।
भीमसेनार्जुनौ चैवमाद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥४॥

ये सारी स्त्रियां लज्जा-पूर्वक धीरे २ राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और माद्री-पुत्र नकुल सहदेव की प्रशंसा करती जाती थीं।

धन्या त्वमसि पाञ्चालि या त्वं पुरुषसत्तमान् ।
उपतिष्ठसि कल्याणि महर्षीनिव गौतमी ॥ ५॥

हे पाञ्चालि ! तुम धन्य हो, जो पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवों के आश्रय में रहती हो। हे कल्याणि ! तुम तो महर्षियों की गौतमी की भांति इनकी उपासना में निरत हो ॥५॥

तव कर्माण्यमोघानि व्रतचर्या च भाविनि ।
इति कृष्णां महाराज प्रशशंसुस्तदा स्त्रियः ॥६॥

हे भाविनि ! तुम्हारे कर्म निष्फल नहीं जाने वाले हैं और तुम्हारी व्रतचर्या बड़ी तीव्र है। हे महाराज ! इस प्रकार वे स्त्रियां द्रौपदी की प्रशंसा कर रही थीं ॥६॥

प्रशंसावचनैस्तासां मिथः शब्दैश्च भारत ।
प्रीतिजैश्च तदा शब्दैः पुरमासीत्समाकुलम् ॥७॥

हे भारत ! इन स्त्रियों के प्रशंसा वचन तथा परस्पर की वार्तालाप और प्रीति वचनों से सारा हस्तिनापुर कोलाहल से भर सा गया ॥७॥

तमतीत्य यथा युक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः ।
अलंकृतं शोभमानमुपायाद्राजवेश्म ह ॥८॥

राजा युधिष्ठिर ने अत्यन्त सजाए हुए महासुन्दर पूर्वोक्त राजमार्ग को पार किया और वह फिर राजमहल में पहुंचा ॥८॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तदा ।
ऊचुः कर्णसुखा वाचः समुपेत्य ततस्ततः ॥९॥

हे राजन् ! अब सारी प्रजा, पुर और राष्ट्र से आकर इधर उधर खड़ी हो गई और धर्मराज से कर्णों को सुख देने वाली वाणी बोलने लगी ॥९॥

दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्छत्रुनिषूदन ।
दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥१०॥

हे शत्रुनिषूदन ! राजेन्द्र ! आप विजयी हुए-यह बड़े ही आनन्द की बात है। आपने धर्म और बल के आश्रय से फिर राज्य की प्राप्ति की यह बहुत ही सुन्दर बात हुई ॥१०॥

भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम् ।
प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं तथा ॥११॥

हे महाराज ! अब आप सैंकड़ों वर्ष तक हमारे राजा रहें और स्वर्ग को इन्द्र की तरह धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते रहें ॥११॥

एवं राजकुलद्वारि मङ्गलैरभिपूजितः ।
आशीर्वादान् द्विजैरुक्तान्प्रतिगृह्य समन्ततः ॥१२॥

प्रविश्य भवनं राजा देवराजगृहोपमम् ।
श्रद्धाविजयसंयुक्तं रथात्पश्चादवातरत् ॥१३॥

हे राजन! धर्मराज, राज महल के द्वार पर माङ्गलिक वस्तुओं से अभिपूजित हुए। इन्होंने सब ओर ब्राह्मणों द्वारा दिए हुए बहुत से आशीर्वाद ग्रहण किए। अब राजा युधिष्ठिर इन्द्र के भवन के समान विशाल राजमहल के द्वार पर पहुंचे। धर्मराज श्रद्धा और विजय से सुशोभित थे, इसके बाद वे रथ से नीचे उतरे ॥१२-१३॥

प्रविश्याभ्यन्तरं श्रीमान्दैवतान्यभिगम्य च ।
पूजयामास रत्नैश्च गन्धमाल्यैश्च सर्वशः ॥१४॥

ऐश्वर्यशाली राजा युधिष्ठिर, राजमहल के भीतर गए और वहां इन्होंने देवताओं के समीप जाकर उनकी रत्न, गन्ध और पुष्पमाला आदि से अच्छी तरह पूजा की ॥१४॥

निश्चक्राम ततः श्रीमान्पुनरेव महायशाः ।
ददर्श ब्राह्मणांश्चैव सोऽभिरूपानवस्थितान् ।१५॥
स संवृतस्तदा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः ।
शुशुभे विमलश्चन्द्रस्तारागणवृतो यथा ॥१६॥

महायशस्वी धर्मराज, फिर वहां से चल दिए। उन्होंने सन्मुख अपने २ स्थान पर स्थित हुए बहुत से योग्य ब्राह्मणों को देखा- आशीर्वाद देने के अभिलाषी इन ब्राह्मणों से घिरे हुए धर्मराज नक्षत्रों से आवृत चन्द्रमा की भांति सुशोभित हुए ॥१५-१६॥

तांस्तु वै पूजयामास कौन्तेयो विधिवद्द्विजान् ।
धौम्यं गुरुं पुरस्कृत्य ज्येष्ठं पितरमेव च ॥१७॥

कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने ज्येष्ठ पिता राजा धृतराष्ट्र और अपने गुरु धौम्य को आगे करके उनकी पूजा की ॥१७॥

सुमनोमोदकै रत्नैर्हिरण्येन च भूरिणा ।
गोभिर्वस्त्रैश्च राजेन्द्र विविधैश्च किमिच्छकैः ॥१८॥

हे राजेन्द्र ! धर्मराज ने सारे ब्राह्मणों से यह पूछ २ कर कि तुम को क्या आवश्यकता है, बहुत से वस्त्र, गौ, सुवर्ण और मनोमोहक रत्न आदि दान करके उनकी पूजा की ॥१८॥

ततः पुण्याहघोषोऽभूद्दिवं स्तब्ध्वेव भारत ।
सुहृदां प्रीतिजननः पुण्यः श्रुतिसुखावहः ॥१९॥

हे भारत ! अब पुण्याह-वाचन की ध्वनि आकाश में छा गई, जिसको सुनकर मित्रों को बड़ी प्रीति उत्पन्न हुई, जो बड़ी पवित्र और कानों को सुखदायी थी ॥१९॥

हंसवद्विदुषां राजा द्विजानां तत्र भारतीम् ।
शुश्रुवे वेदविदुषां पुष्कलार्थपदाक्षराम् ॥२०॥

राजा युधिष्ठिर ने हंस की तरह मीठे स्वर में बोलने वाले वेद के ज्ञाता विद्वान् ब्राह्मणों की स्पष्ट अधिक अर्थ, सुन्दर पद और वर्ण वाली वाणी सुनी ॥२०॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषः शङ्खानां च मनोरमः ।
जयं प्रवदतां तत्र स्वनः प्रादुरभून्नृप ॥२१॥

हे नृप ! अब नगाड़ों और शङ्खों की सुन्दर ध्वनि, फैलने लगी तथा जय बोलने वाले मनुष्यों का कोलाहल सर्वत्र छा गया ॥२१॥

निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः ।
राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत्॥२२॥

जब ब्राह्मण लोग चुप हो गए और शान्ति छा गई-तो चार्वाक नामक राक्षस, ब्राह्मण वेष धारण करके राजा युधिष्ठिर से कहने लगा ॥२२॥

तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः ।
साक्षः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः ॥२३॥

यह चार्वाक राजा दुर्योधन का मित्र, संन्यासी रूप में रहता था। इसके हाथ में रुद्राक्ष की माला, मस्तक पर चोटी थी। इसने तीन दण्ड धारण कर रखे थे जिसको कोई घबराहट न थी और जो बड़ा ही उद्धत था ॥२३॥

वृतः सर्वैस्तथा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः ।
परं सहस्रै राजेन्द्र तपोनियमसंवृतैः ॥२४॥
स दुष्टः पापमाशंसुः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अनामन्त्र्यैव तान् विप्रांस्तमुवाच महीपतिम् ॥२५॥

हे राजेन्द्र ! धर्मराज, सहस्रों आशीर्वाद देने वाले तप नियमों परायण ब्राह्मणों से घिरा हुआ था। यह दुष्ट महावीर पाण्डवों का कल्याण नहीं चाहता था। इसने उन ब्राह्मणों से बिना कुछ कहे सुने-राजा युधिष्ठिर से यह वचन कहा ॥२५॥

चार्वाक उवाच-इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि
धिक् भवन्तं कुनृपतिं ज्ञातिघातिनमस्तु वै ॥२६॥

चार्वाक ने कहा—हे राजन्! ये ब्राह्मण, मुझे लक्ष्य करके जो धिक्कार की ध्वनि कर रहे हैं, वह मुझे बीच में डाल कर तुमको धिक्कार दे रहे हैं, कि तुम कुराज हो, क्योंकि तुमने महाघोर जाति वध करवा डाला है ॥२६॥

किं तेन स्याद्धि कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसंक्षयम् ।
घातयित्वा गुरूंश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥२७॥

हे कौन्तेय! इतने बड़े बन्धु-बान्धवों के विनाश से यदि तुमको राज्य की भी प्राप्ति हो गई-तो इससे क्या गौरव है। अपने पूज्य व्यक्तियों के मरवाने से तो स्वयं मरना अच्छा है-जीवन उत्तम नहीं है ॥२७॥

इति ते वै द्विजाः श्रुत्वा तस्य दुष्टस्य रक्षसः ।
विव्यथुश्चुक्रुशुश्चैव तस्य वाक्यप्रधर्षिताः ॥२८॥

उस दुष्ट राक्षस चार्वाक के वचन सुनकर उसके वाक्य से उत्तेजित हुए ब्राह्मण, बड़े दुःखी होकर क्रोध-पूर्वक चिल्लाने लगे।

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे स च राजा युधिष्ठिरः ।
व्रीडिताः परमोद्विग्नास्तूष्णीमासन् विशांपते ॥२९॥

हे विशाम्पते! थोड़ी देर में वे सारे ब्राह्मण और राजा युधिष्ठिर, बड़े लज्जित और उद्विग्न होकर चुप हो गए ॥२९॥

युधिष्ठिर उवाच-प्रसीदन्तु भवन्तो मे प्रणतस्याभियाचतः ।
प्रत्यासन्नव्यसनिनं न मां धिक्कर्तुमर्हथ ॥३०॥

राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्राह्मणो ! मैं प्रणाम-पूर्वक तुम से निवेदन करता हूँ, कि मैंने यह सब कुछ भोग विलास के लिए नहीं किया, किन्तु मैंने तो यह सब कुछ विपत्ति में फंस कर किया है। आप लोगों को मुझे धिक्कार देना नहीं चाहिए ॥३०॥

वैशम्पायन उवाच-ततो राजन् ब्राह्मणास्ते सर्व एव विशांपते ।
ऊचुर्नैतद्वचोऽस्माकं श्रीरस्तु तव पार्थिव ॥३१॥

वैशम्पायन बोले—हे विशाम्पते ! राजन् ! अब वे सारे ब्राह्मण एकदम बोल उठे, कि हे राजन् ! यह वचन हमारा नहीं है। हम तो आपके कल्याण की अभिलाषा करते हैं ॥३१॥

जज्ञुश्चैव महात्मानस्ततस्तं ज्ञानचक्षुषा ।
ब्राह्मणा वेदविद्वांसस्तपोभिर्विमलीकृताः ॥३२॥

उन महात्मा वेद के विद्वान् तप से निर्मल मन वाले उन ब्राह्मणों ने ज्ञान की आंख से देखा-तो समझ लिया, कि यह चार्वाक राक्षस, ब्राह्मण बना हुआ है ॥३२॥

ब्राह्मणा ऊचुः- एष दुर्योधनसखा चार्वाको नाम राक्षसः ।
परिव्राजकरूपेण हितं तस्य चिकीर्षति ॥३३॥

ब्राह्मण बोले—हे राजन् ! यह दुर्योधन का मित्र चार्वाक नामक राक्षस है। यह संन्यासी के रूप में स्थित होकर भी उसकी ही प्रशंसा करना चाहता है ॥३३॥

न वयं ब्रूम धर्मात्मन् व्येतु ते भयमीदृशम् ।
उपतिष्ठतु कल्याणं भवन्तं भ्रातृभिः सह ॥३४॥

हे धर्मात्मन ! हम आप से कुछ नहीं कह रहे हैं । आपका भय दूर हो जाना चाहिए तथा आपको अपने भाइयों के साथ कल्याण की प्राप्ति होवे ॥३४॥

वैशम्पायन उवाच–ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुङ्कारैः क्रोधमूर्छिताः
निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम् ॥३५॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! अब उन सारे क्रोध में भरे हुए पवित्र ब्राह्मणों ने हुङ्कार मारी, उन्होंने भर्त्सना करके उस पापी राक्षस को वहीं मार गिराया ॥३५॥

स पपात विनिर्दग्धस्तेजसा ब्रह्मवादिनाम् ।
महेन्द्राशनिनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ३६॥

हे राजन ! जिस तरह इन्द्र के वज्र बिजली से शाखा पल्लवों से युक्त वृक्ष दग्ध होकर नीचे गिर जाता है, उसी तरह ब्रह्मवादी, ब्राह्मणों के तेज से दग्ध होकर वह पापी राक्षस गिर गया ॥३६॥

पूजिताश्च ययुर्विप्रा राजानमभिनन्द्य यम् ।
राजा च हर्षमापेदे पाण्डवः ससुहृज्जनः ॥३७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवधे अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३८॥

धर्मराज ने उन ब्राह्मणों की बड़ी पूजा की। वे राजा की प्रशंसा करके घर को गए। इस समय अपने मित्रों के सहित पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर, बड़े ही हर्ष को प्राप्त हुए ॥३७॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में चार्वाकवध का अड़तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



उनचालीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच-ततस्तत्र तु राजानं तिष्ठन्तं भ्रातृभिः सह।
उवाच देवकीपुत्रः सर्वदर्शी जनार्दनः ॥१॥

वैशम्पायन बोले— महाराज! इसके अनन्तर अपने भ्राताओं के सहित स्थित धर्मराज से सब कुछ जानने वाले देवकी-पुत्र जनार्दन कृष्ण ने यह वचन कहा ॥१॥

वासुदेव उवाच-ब्राह्मणास्तात लोकेऽस्मिन्नर्चनीयाःसदा मम।
एते भूमिचरा देवा वाग्विषाः सुप्रसादकाः ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले—हे तात! लोक में सर्वदा ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। ये पृथिवी पर घूमने वाले देवता होते हैं। इनकी वाणी कठोर होती है, तो भी ये आनन्ददायी होते हैं ॥२॥

पुरा कृतयुगे राजंश्चार्वाको नाम राक्षसः।
तपस्तेपे महाबाहो बदर्यां बहुवार्षिकम् ॥३॥

हे राजन्! पूर्व-काल में सत्युग में एक चार्वाक नामक राक्षस उत्पन्न हुआ था। हे महाबाहो! उसने बदरिकाश्रम में बहुत वर्षों तक तपस्या की॥३॥

वरेण छन्द्यमानश्च ब्रह्मणा च पुनः पुनः।
अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत ॥४॥

हे भारत! ब्रह्मा जी उसके पास पहुंचे और उन्होंने उससे बार २ वर मांगने को कहा। उसने सारे प्राणियों से भयरहित होने का ब्रह्मा जी से वरदान मांगा ॥४॥

द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद्वरमनुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः ॥५॥

ब्रह्मा जी ने कहा, कि यदि तुम ब्राह्मणों का अपमान नहीं करोगे-तो सर्वदा निर्भय होगे। जगत्पति ब्रह्मा ने इस तरह चार्वाक राक्षस को निर्भय रहने का वरदान दे दिया ॥५॥

स तु लब्धवरः पापो देवानमितविक्रमः।
राक्षसस्तापयामास तीव्रकर्मा महाबलः ॥६॥

जब उस राक्षस को वरदान मिल गया-तो वह अत्यन्त पराक्रमी, पापी तीव्रकर्म करने वाला, महाबली राक्षस, देवों को सन्तापित करने लगा ॥६॥

ततो देवाः समेताश्च ब्रह्माणमिदमब्रुवन्।
वधाय रक्षसस्तस्य बलविप्रकृतास्तदा ॥७॥

उस राक्षस के बल से तिरस्कृत हुए देवों ने इकट्ठे होकर उस राक्षस के वध के निमित्त, ब्रह्मा से प्रार्थना की ॥७॥

तानुवाच ततो देवो विहितस्तत्र वै मया ।
यथाऽस्य भविता मृत्युरचिरेणेति भारत ॥८॥

हे भारत ! उन देवों की प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मा जी ने कहा—हे देवो ! इसकी जिस प्रकार शीघ्र मृत्यु होगी-वह उपाय मैंने निश्चित कर दिया है ॥८॥

राजा दुर्योधनो नाम सखाऽस्य भविता नृपु ।
तस्य स्नेहाववद्धोऽसौ ब्राह्मणानवमंस्यते ॥९॥
तत्रैनं रुपिता विप्रा विप्रकारप्रधर्षिताः ।
धच्यन्ति वाग्बलाः पापं ततो नाशं गमिष्यति ॥१०॥

हे देवो ! मृत्यु लोक में आगे चलकर राजा दुर्योधन उत्पन्न होगा । यह चार्वाक उसका मित्र होगा । उसके स्नेह में डूबकर यह ब्राह्मणों का अपमान करेगा । उसके अपमान से ब्राह्मण प्रज्वलित हो उठेंगे । क्रोध में भरे हुए ब्राह्मण अपने बाणी के वज्र से इसे जला देंगे । इस तरह इस पापी का विनाश हो जावेगा ।

स एष निहतः शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः ।
चार्वाको नृपतिश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ॥११॥

हे नृपतिश्रेष्ठ ! भरतर्षभ ! उसी ब्रह्मदण्ड से आज यह चार्वाक राक्षस मारा जाकर पृथिवी में पड़ा है । तुम इस काण्ड की चिन्ता न करो ॥११॥

हतास्ते क्षत्रधर्मेण ज्ञातयस्तव पार्थिव ।
स्वर्गताश्च महात्मानो वीराः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥१२॥

हे राजन् ! तुम्हारे बन्धु-बान्धव, क्षत्रियधर्म के अनुसार मारे गए हैं। वे सारे महावीर, क्षत्रियपुङ्गव, राजा लोग, स्वर्ग पहुंच चुके हैं ॥१२॥

स त्वमातिष्ठ कार्याणि मा तेऽभूद् ग्लानिरच्युत ।
शत्रून् जहि प्रजा रक्ष द्विजांश्च परिपूजय ॥१३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवरदानादिकथने एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥३६॥

हे अच्युत ! ! अब तुम अपने काम काज को सम्हालो और इस ग्लानि का परित्याग करो। जो शत्रु शेष हों उनका नाश और प्रजा की रक्षा करो तथा इसी तरह ब्राह्मणों की पूजा करते रहो ॥१३॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में चार्वाक के उपाख्यान का उनचालीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



चालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—ततः कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वरः ।
काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यषीदत्परमासने ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इसके बाद, कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर की सारी चिन्ता और शोक नष्ट हो गया। वह अब प्रसन्नता-पूर्वक सुवर्ण के विशाल सिंहासन पर जा बैठा ॥१॥

तमेवाभिमुखौ पीठे प्रदीप्ते काञ्चने शुभे ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च निषीदतुररिन्दमौ ॥२॥

धर्मराज के सन्मुख सुवर्ण के देदीप्यमान सिंहासन पर अरि-मर्दन सात्यकि और श्रीकृष्ण-ये दोनों वीर जा बैठे ॥२॥

मध्ये कृत्वा तु राजानं भीमसेनार्जुनावुभौ ।
निषीदतुर्महात्मानौ श्लक्ष्णयोर्मणिपीठयोः ॥३॥

इसी तरह महाबली भीमसेन और अर्जुन, सुन्दर मणि-जटित सिंहासन पर धर्मराज के अगल बगल में जा विराजे ॥३॥

दान्ते सिंहासने शुभ्रे जाम्बूनदविभूषिते ।
पृथापि सहदेवेन सहास्ते नकुलेन च ॥४॥

एक ओर महादिव्य हाथी दाँत से जड़े हुए चमकीले सुवर्ण मय सिंहासन पर सहदेव और नकुल के साथ कुन्ती जा बैठी ॥४॥

सुधर्मा विदुरो धौम्यो धृतराष्ट्रश्च कौरवः ।
निषेदुर्ज्वलनाकारेष्वासनेषु पृथक् पृथक् ॥५॥

इसी तरह पुरोहित सुधर्मा, विदुर, धौम्य, कुरुवंशश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र, पृथक् २ अग्नि के तुल्य प्रदीप्त सिंहासनों पर जा डटे ॥५॥

युयुत्सुः सञ्जयश्चैव गान्धारी च यशस्विनी।
धृतराष्ट्रो यतो राजा ततः सर्वे समाविशन् ॥६॥

धृतराष्ट्र-पुत्र युयुत्सु, सञ्जय, यशस्विनी गान्धारी भी जिस ओर राजा धृतराष्ट्र थे, उसी ओर जा बैठे ॥६॥

तत्रोपविष्टो धर्मात्मा श्वेताः सुमनसोऽस्पृशत्।
स्वस्तिकानक्षतान्भूमिं सुवर्णं रजतं मणिम् ॥७॥

वहां बैठे हुए धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ने श्वेतपुष्प, स्वस्तिवाचन के अक्षत, भूमि, सुवर्ण, रजत और मणि का स्पर्श किया ॥७॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पुरस्कृत्य पुरोहितम्।
ददृशुर्धर्मराजानमादाय बहुमङ्गलम् ॥८॥

इसके बाद माङ्गलिक वस्तु ग्रहण करके और पुरोहित को आगे करके सारी प्रजा ने धर्मराज के दर्शन किए ॥८॥

पृथिवीं च सुवर्णं च रत्नानि विविधानि च।
आभिषेचनिकं भाण्डं सर्वसंभारसंभृतम् ॥९॥
काञ्चनौदुम्बरास्तत्र राजताः पृथिवीमयाः।
पूर्णकुम्भाः सुमनसो लाजा बर्हींषि गोरसम् ॥१०॥
शमीपिप्पलपालाशसमिधो मधुसर्पिषी।
स्रुव औदुम्बरः शङ्खस्तथा हेमविभूषितः ॥११॥

दाशार्हेणाभ्यनुज्ञातस्तत्र धौम्यः पुरोहितः ।
प्रागुदक्प्रवणे वेदीं लक्षणेनोपलिख्य च ॥१२॥
व्याघ्रचर्मोत्तरे शुक्ले सर्वतोभद्र आसने ।
दृढपादप्रतिष्ठाने हुताशनसमत्विषि ॥१३॥
उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च द्रुपदात्मजाम् ।
जुहाव पावकं धीमान्विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥१४॥

हे भारत ! प्रजा के लोग, मृत्तिका, सुवर्ण, अनेक प्रकार के रत्न तथा सारी सामग्री से परिपूर्ण, अभिषेक के पात्र लेकर उपस्थित हुए । सुवर्ण ताम्र और चांदी के जल से भरे हुए कलश, पुष्प, धान की खील, कुशा, दुग्ध शमी, पीपल, पलाश की समिधा, मधु, घृत, गूलर का स्रुवा, सुवर्ण में मँढ़ा हुआ शङ्ख आदि सारी सामग्री उपस्थित की गई । दशार्हवंशश्रेष्ठ श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार धौम्य पुरोहित ने, पूर्व उत्तर की ओर ढालू वेदी लक्षणानुसार बनाई । उसके ऊपर चमकीला व्याघ्रचर्म बिछाया गया और सर्वतोभद्र राज्यसिंहासन उस पर स्थापित किया गया । उस के पाद बड़े दृढ़ थे तथा उसकी कान्ति अग्नि के समान चमक रही थी । धौम्य पुरोहित ने उस पर महात्मा धर्मराज और द्रुपद-पुत्री कृष्णा को बैठाया । बुद्धिमान धौम्य ने मन्त्रों के साथ अग्नि में आहुति डाली ॥९-१४॥

तत उत्थाय दाशार्हः शङ्खमादायपूजितम् ।
अभ्यषिञ्चत्पतिं पृथ्व्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥१५॥

इसके बाद दशार्हवंशश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने उत्तम शङ्ख उठाया। उन्होंने उसके जल से पृथिवी के पति कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर का अभिसिञ्चन किया ॥१५॥

धृतराष्ट्रश्च राजर्षिः सर्वाः प्रकृतयस्तथा।
अनुज्ञातोऽथ कृष्णेन भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥१६॥
पाञ्चजन्याभिषिक्तश्च राजाऽमृतमुखोऽभवत्।
ततोऽनुवादयामासुः पणवानकदुन्दुभीन् ॥१७॥
धर्मराजोऽपि तत्सर्वं प्रतिजग्राह धर्मतः।
पूजयामास तांश्चापि विधिवद्भूरिदक्षिणः ॥१८॥

राजा धृतराष्ट्र और सारी प्रजा बड़ी सुखी हुई। अपने भाइयों के साथ धर्मराज युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण ने अभिषेक की समाप्ति की सूचना दी। पाञ्चजन्य शङ्ख के जल से अभिषिक्त हुए राजा युधिष्ठिर अमृत से सिञ्चन किए हुए की तरह सुन्दर प्रतीत होने लगे। अब पणव, आनक और दुन्दुभि बजने लगी। धर्मराज ने भी धर्म-पूर्वक विनय के साथ सारे स्वागतों को स्वीकार किया। धर्मराज ने बहुत सी दक्षिणा देकर विधि-पूर्वक उन लोगों की पूजा की ॥१६-१८॥

ततो निष्कसहस्रेण ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयन्।
वेदाध्ययनसंपन्नान्धृतिशीलसमन्वितान् ॥१९॥

राजा युधिष्ठिर ने सहस्रों सुवर्ण मुद्रा दान में देकर वेदाध्ययन से संयुक्त, धृति शील सम्पन्न ब्राह्मणों से से स्वस्तिवाचन करवाया।

ते प्रीता ब्राह्मणा राजन्स्वस्त्यूचुर्जयमेव च।

हंसा इव च नर्दन्तः प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ॥२०॥

हे राजन्! प्रसन्न हुए ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन और जय शब्द का उच्चारण किया। वे हंस की तरह मधुर स्वर में बोल कर राजा युधिष्ठिर की प्रशंसा करने लगे ॥२०॥

युधिष्ठिर महाबाहो दिष्ट्या जयसि पाण्डव।

दिष्ट्या स्वधर्मं प्राप्तोऽसि विक्रमेण महाद्युते ॥२१॥

हे महाबाहो! पाण्डु-पुत्र! राजन्! युधिष्ठिर! आप विजयी हुए-यह बड़े आनन्द की बात है। हे महाद्युते! तुमने पराक्रम द्वारा क्षत्रिय धर्म की प्राप्ति की-इसका हमको बड़ा हर्ष है ॥२१॥

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः।

त्वं चापि कुशली राजन्माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥२२॥

हे राजन्! इस युद्ध में गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डु-पुत्र भीमसेन, माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव तथा आप कुशल-पूर्वक बच रहे-यह सबसे अधिक आनन्द की बात है ॥२२॥

मुक्ता वीरक्षयात्तस्मात्संग्रामाद्विजितद्विपः।

क्षिप्रमुत्तरकार्याणि कुरु सर्वाणि भारत ॥२३॥

हे भारत! इस घोर युद्ध में अनेक वीरों का विनाश हुआ। शत्रुओं को पराजित किया गया। अब इसके आगे जो शीघ्र कार्य करना है, उसे करके दिखाओ ॥२३॥

ततः प्रत्यर्चितः सद्भिर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
प्रतिपेदे महद्राज्यं सुहृद्भिः सह भारत ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराभिषेके चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४०॥

हे भारत ! इस प्रकार सज्जनों द्वारा पूजित हुए, धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने सुहृद् सम्बन्धियों के साथ उस विशाल राज्य को ग्रहण किया ॥२४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में राजा युधिष्ठिर के अभिषेक का चालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।



इकतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच–प्रकृतीनां च तद्वाक्यं देशंकालोपबृंहितम् ।
श्रुत्वा युधिष्ठिरो राजा सोन्तरं प्रत्यभाषत ॥१॥
धन्याः पाण्डुसुता नूनं येषां ब्राह्मणपुङ्गवाः ।
तथ्यान्वाप्यथवाऽतथ्यान् गुणानाहुः समागताः ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! देशकाल के अनुसार प्रजा के उचित वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर मन ही मन फिर यह वचन

बोले, कि पाण्डु-पुत्र हम लोग आज धन्य हो गए-जो ब्राह्मण श्रेष्ठ, यहां आकर हमारी प्रशंसा कर रहे हैं। हम लोगों में चाहे ये गुण हों या न होवे ॥१-२॥

अनुग्राह्या वयं नूनं भवतामिति मे मतिः ।
यदेवं गुणसम्पन्नानस्मान्ब्रूथ विमत्सराः ॥३॥

हे ब्राह्मणो ! आज आपने हमारे ऊपर बड़ी कृपा की जो किसी का भी पक्षपात न रखने वाले तुम लोगों ने हमको इतना गुणसम्पन्न बताया है ॥३॥

धृतराष्ट्रो महाराजः पिता मे दैवतं परम् ।
शासनेऽस्य प्रिये चैव स्थेयं मत्प्रियकांक्षिभिः ॥४॥

महाराज धृतराष्ट्र मेरे पिता और पूज्य देवता हैं । जो मेरा प्रिय करना चाहे, वह इनकी आज्ञा में चले ॥४॥

एतदर्थं हि जीवामि कृत्वा ज्ञातिवधं महत् ।
अस्य शुश्रूषणं कार्यं मया नित्यमतन्द्रिणा ॥५॥

यद्यपि मैंने ज्ञातिवध रूपी महान अकार्य कर डाला है, तो भी मैं राजा धृतराष्ट्र की सेवा के निमित्त ही प्राण धारण कर रहा हूं। मैं बड़ी सावधानी से इनकी सेवा में तत्पर रहा करूंगा।

यदि चाहमनुग्राह्यो भवतां सुहृदां तथा ।
धृतराष्ट्रे यथापूर्वं वृत्तिं वर्तितुमर्हथ ॥६॥

यदि आप लोग या मेरे मित्र गण, मेरे ऊपर पूर्ववत् अनुग्रह करना चाहते हैं, तो राजा धृतराष्ट्र के विषय में वे पूर्व की तरह ही आचरण करते रहें ॥६॥

एष नाथो हि जगतो भवतां च मया सह ।
अस्यैव पृथिवी कृत्स्ना पाण्डवाः सर्व एव च ॥७॥

राजा धृतराष्ट्र मेरे आपके तथा सारी पृथिवी के स्वामी हैं। इनकी ही सारी पृथिवी है और सारे पाण्डव इनके ही दास हैं ॥७॥

एतन्मनसि कर्तव्यं भवद्भिर्वचनं मम ।
अनुज्ञाप्याथ तान् राजा यथेष्टं गम्यतामिति ॥८॥

मेरे इस वचन को आप लोग मन में धारण कर लो। राजा युधिष्ठिर ने इस तरह उनको जता कर उनको जाने की अनुमति (इजाजत) प्रदान की ॥८॥

पौरजानपदान्सर्वान्विसृज्य कुरुनन्दनः ।
यौवराज्येन कौन्तेयं भीमसेनमयोजयत् ॥९॥

कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर ने सारे पुर और राष्ट्र के लोगों को विदा किया और युवराज पद पर कुन्ती-पुत्र भीमसेन को नियुक्त किया ॥९॥

मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च चिन्तने ।
विदुरं बुद्धिसंपन्नं प्रीतिमान्स समादिशत् ॥१०॥

अब प्रीतियुक्त होकर धर्मराज ने मन्त्रणा, किसी विषय के निश्चय तथा सन्धि विग्रह आदि के विचार में बुद्धिमान् महात्मा विदुर को स्थापित किया ॥१०॥

कृताकृतपरिज्ञाने तथाऽऽयव्ययचिन्तने ।
सञ्जयं योजयायास वृद्धं सर्वगुणैर्युतम् ॥११॥

धर्मराज ने किये गए या शेष कार्य की पड़ताल तथा आय-व्यय के चिन्तन में सर्वगुण-सम्पन्न वृद्ध सञ्जय को नियुक्त किया ॥११॥

बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा ।
नकुलं व्यादिशद्राजा कर्मणा चान्ववेक्षणे ॥१२॥

राजा युधिष्ठिर ने सेना के परिमाण, भत्ता और वेतन एवं उनके कामों की पड़ताल के लिए माद्रीपुत्र नकुल को नियुक्त किया ॥१२॥

परचक्रोपरोधे च दुष्टानां चावमर्दने ।
युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादिदेश ह ॥१३॥

हे महाराज ! शत्रु सेना के रोकने और दुष्टों के मर्दन के अधिकार पर राजा युधिष्ठिर ने अर्जुन को स्थापित किया ॥१३॥

द्विजानां देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह ।
धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥१४॥

धर्मराज ने ब्राह्मणों के कार्य, देवकार्य तथा अन्य पुण्यकार्य के चलाने को पुरोहित धौम्य को आज्ञा दी ॥१४॥

सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत् ।
तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशाम्पते ॥१५॥

हे विशाम्पते ! राजा युधिष्ठिर ने सहदेव को सर्वदा अपने पास रहने की आज्ञा दी । राजा युधिष्ठिर की सारी अवस्थाओं में रक्षा करने के यही योग्य था ॥१५॥

यान्यानमन्यद्योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु ।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ॥१६॥

राजा युधिष्ठिर ने जिस वीर को जिस २ स्थान के योग्य समझा—उसी को बड़े प्रेम के साथ उस स्थान पर नियुक्त किया ।

विदुरं सञ्जयं चैव युयुत्सुं च महामतिम् ।
अब्रवीत्परवीरघ्नो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥१७॥

शत्रुनाशक, धर्मात्मा धर्मरक्षक धर्मराज ने महामति विदुर, सञ्जय और युयुत्सु से यह वचन कहा ॥१७॥

उत्थायोत्थाय यत्कार्यमस्य राज्ञः पितुर्मम ।
सर्वं भवद्भिः कर्त्तव्यमप्रमत्तैर्यथायथम् ॥१८॥

हे महाभागो ! तुम लोग प्रतिदिन हमारे ज्येष्ठ पिता राजा धृतराष्ट्र के कार्य को प्रातःकाल उठते ही सावधानी से ठीक २ पूरा कर दिया करो—यही तुम लोगों को आज्ञा दी जाती है ॥१८

पौरजानपदानां च यानि कार्याणि सर्वशः ।
राजानं समनुज्ञाप्य तानि कर्माणि भागशः ॥१९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि
राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमादिकर्मनियोगे
एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४१॥

इसके सिवा पुर और राष्ट्र का जो कार्य तुम्हारे भाग में आया हो उसको राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर पूरे करते रहना ॥१६॥

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में भीम आदि
को अपने २ अधिकार पर नियुक्त करने के वर्णन का
इकतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।



बयालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—ततो युधिष्ठिरो राजा ज्ञातीनां ये हता युधि
श्राद्धानि कारयामास तेषां पृथगुदारधीः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजसत्तम ! इसके अनन्तर महा बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर ने जो बन्धु-बान्धव युद्ध में मरे थे उनके पृथक् २ श्राद्ध सम्पादित किये ॥१॥

धृतराष्ट्रो ददौ राजा पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम् ।
सर्वकामगुणोपेतमन्नं गाश्च धनानि च ॥२॥

राजा धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों के निमित्त परलोक में सुखकारी, सब गुणों से सम्पन्न, अन्न, धेनु और धन-दान दिया।

रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः ।
युधिष्ठिरस्तु द्रोणस्य कर्णस्य च महात्मनः ॥३॥
धृष्टद्युम्नाभिमन्युभ्यां हैडिम्बस्य च रक्षसः ।
विराटप्रभृतीनां च सुहृदामुपकारिणाम् ॥४॥
द्रुपदद्रौपदेयानां द्रौपद्या सहितो ददौ ।
ब्राह्मणानां सहस्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन् ॥५॥
धनैरत्नैश्च गोभिश्च वस्त्रैश्च समतर्पयत् ।

महायशस्वी राजा युधिष्ठिर ने द्रौपदी को साथ में लेकर द्रोणाचार्य, महारथी कर्ण, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, हिडिम्बापुत्र घटोत्कच, विराट आदि सुहृद्गण, द्रुपद, द्रौपदीपुत्र आदि के निमित्त, बड़े अमूल्य रत्न दान में दिए । इन सबके पृथक् २ उद्देश्य से सहस्रों ब्राह्मणों को धन, रत्न, गौ और वस्त्रों से सन्तुष्ट किया गया ॥३-५॥

ये चान्ये पृथिवीपाला येषां नास्ति सुहृज्जनः ॥६॥
उद्दिश्योद्दिश्य तेषां च चक्रे राजौर्ध्वदेहिकम् ।

जो अन्य राजा थे और जिनके कोई सम्बन्धी नहीं बचे थे, उन सबको लक्ष्य करके राजा युधिष्ठिर ने उनके निमित्त परलोक हितकारी श्राद्धादि कर्म किया ॥६॥

सभाः प्रपाश्च विविधास्तटाकानि च पाण्डवः ॥७॥
सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्वदेहिकम् ।

पाण्डुपुत्र धर्मराज ने धर्मशाला, प्याऊ अनेक सरोवर आदि खुदवाकर अपने सुहृद् राजाओं की परलोक सम्बन्धी क्रिया की ।

स तेषामनृणो भूत्वा गत्वा लोकेष्ववाच्यताम् ॥८॥
कृतकृत्योऽभवद्राजा प्रजा धर्मेण पालयन् ।

राजा युधिष्ठिर अपने सम्बन्धियों से इस तरह अनृण हो गया और इससे उसकी लोक में बड़ी प्रशंसा हुई । इस तरह राजा धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करता हुआ कृतार्थ हो गया ॥८॥

धृतराष्ट्रं यथा पूर्वं गान्धारीं विदुरं तथा ॥९॥
सर्वांश्च कौरवान्मान्यान्भृत्यांश्च समपूजयत् ।

धर्मराज, राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी, महात्मा विदुर तथा सारे मान्य अन्य कौरव और सेवकों की पूर्व की भांति सेवा शुश्रूषा करते रहे ॥९॥

याश्च तत्र स्त्रियः काश्चिद्धतवीरा हतात्मजाः ॥१०॥
सर्वास्ताः कौरवो राजा संपूज्यापालयद्घृणी ।

उस समय वहां जो ऐसी स्त्री दिखाई दी जिसके पुत्र और पति सब मारे गए-तो दयालु कुरुवंशश्रेष्ठ, राजा युधिष्ठिर ने उन सबकी बड़े आदर से पालना की ॥१०॥

दीनान्धकृपणानां च गृहाच्छादनभोजनैः ॥११॥
आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः ।

जो राज्य में दीन, अन्धा या दरिद्री था, घर वस्त्र या भोजन आदि के द्वारा शक्तिशाली उदार धर्मराज ने उन सबकी रक्षा का उपाय कर दिया ॥११॥

स विजित्य महीं कृत्स्नामानृण्यं प्राप्य वैरिषु ।
निःसपत्नः सुखी राजा विजहार युधिष्ठिरः ॥१२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्राद्धक्रियायां द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४२॥

राजा युधिष्ठिर ने सारी पृथिवी जीत ली और वैरियों की श्राद्धादि क्रिया करके या करा कर वे सब तरह से उऋण हो गए। अब शत्रु-हीन हुए धर्मराज, सुख के साथ हस्तिनापुर में निवास करने लगे ॥१२॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में धर्मराज के श्राद्धक्रिया करने के वर्णन का बयालीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



तेतालीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—अभिषिक्तो महाप्राज्ञो राज्यं प्राप्य युधिष्ठिर
दाशार्हं पुण्डरीकाक्षमुवाच प्राञ्जलिः शुचिः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजेन्द्र ! जब महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर का हस्तिनापुर के सिंहासन पर अभिषेक कर दिया गया तो-फिर पवित्र मन वाले धर्मराज हाथ जोड़कर दशार्हवंशश्रेष्ठ, पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्ण से यह वचन कहने लगे ॥१॥

तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च ।
बुद्ध्या च यदुशार्दूल तथा विक्रमणेन च ॥२॥
पुनः प्राप्तमिदं राज्यं पितृपैतामहं मया
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिन्दम ॥३॥

हे यदुवंशश्रेष्ठ ! कृष्ण ! आपकी कृपा, नीति, बल, बुद्धि और पराक्रम से हमने यह पिता और पितामह का राज्य फिर प्राप्त किया है । हे अरिमर्दन ! कमललोचन ! आपको बार २ नमस्कार है ॥२-३॥

त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामाहुः सात्वतां पतिम् ।
नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः ॥४॥

हे कृष्ण ! तुमको मुनि लोग आदि पुरुष बताते हैं, तुम ही यदुवंश के पति हो । अनेक ब्राह्मण बड़ी सावधानी से अनेक नामों द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं ॥४॥

विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसम्भव ।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥५॥
अदित्याः सप्तधा त्वं तु पुराणो गर्भतां गतः ।
पृश्निगर्भस्त्वमेवैकस्त्रियुगं त्वां वदन्त्यपि ॥६॥
शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्चिर्हंस उच्यते ।
त्रिचक्षुः शम्भुरेकस्त्वं विभुर्दामोदरोऽपि च ॥७॥
वराहोऽग्निर्बृहद्भानुर्वृषभस्तार्क्ष्यलक्षणः ।
अनीकसाहः पुरुषः शिपिविष्ट उरुक्रमः ॥८॥

वरिष्ट उग्रसेनानीः सत्यो वाजसनिर्गुहः ।
अच्युतश्च्यावनोऽरीणां संस्कृतो विकृतिर्वृषः ॥९॥
कृष्णधर्मस्त्वमेवादिर्वृषदर्भो वृषाकपिः ।
सिन्धुर्विधर्मस्त्रिककुप् त्रिधामा त्रिदिवाच्च्युतः ॥१०॥

हे विश्वकर्मन् ! आपको नमस्कार है। आप विश्व के आत्मा और विश्व के कारण हैं। हे विष्णो ! हे जिष्णो ! हे हरे ! हे वैकुण्ठ ! हे पुरुषोत्तम ! कृष्ण ! तुम पुराण पुरुष हो और सात प्रकार से अदिति के गर्भ में प्राप्त होते रहे हो। तुम ही को मुनि लोग पृश्निगर्भ और तुमको ही त्रियुगीनारायण कहते हैं। इसी तरह शुचिश्रवा, हृषीकेश, घृतार्चि और हंस-ये भी आप के ही नाम हैं। तीन चक्षु धारी शम्भु भी तुम ही हो। तुम अकेले शक्तिशाली दामोदर हो। वराह अग्नि, बृहद्भानु, वृषभ, गरुड, अनीकसाह, पुरुषोत्तम, शिपिविष्ट, उरुक्रम, वरिष्ठ, उग्रसेनानी, सत्य, वाजसनि, ग्रह, अच्युत, शत्रु-नाशक, संस्कृत, विकृति, वृष, कृष्ण, धर्म-ये तुम्हारे ही तो नाम हैं। तुम सबके आदिभूत हो। तुम ही वृषदर्भा, वृषाकपि, सिन्धु, विधर्म त्रिककुप्, त्रिधामा, त्रिदिवाच्युत मूर्ति हो ॥५-१०॥

सम्राड् विराट् स्वराट् चैव सुरराजो भवोद्भवः ।
विभुर्भूरतिभूः कृष्णः कृष्णवर्त्मा त्वमेव च ॥११॥
स्विष्टकृद्भिपजावर्तः कपिलस्त्वं च वामनः ।
यज्ञो ध्रुवः पतङ्गश्च यज्ञसेनस्त्वमुच्यसे ॥१२॥

शिखण्डी नहुषो बभ्रुर्दिवस्पृक् त्वं पुनर्वसुः ।
सुबभ्रू रुक्मयज्ञश्च सुषेणो दुन्दुभिस्तथा ॥१३॥
गभस्तिनेमिः श्रीपद्मः पुष्करः पुष्पधारणः ।
ऋभुर्विभुः सर्वसूक्ष्मश्चारित्रं चैव पठ्यसे ॥१४॥
अम्भोनिधिस्त्वं ब्रह्मा त्वं पवित्रं धाम धामवित् ।
हिरण्यगर्भं त्वामाहुः स्वधा स्वाहा च केशव ॥१५॥

हे भगवन्! सम्राट्, विराट्, स्वराट्, सुरराज, भवोद्भव, विभु, भू, अतिभू, कृष्ण, कृष्णवर्त्मा, स्विष्टकृत्, भिषजावर्त, कपिल, वामन, यज्ञ, ध्रुव, पतङ्ग, यज्ञसेन, शिखण्डी, नहुष, बभ्रु, दिवस्पृक्, पुनर्वसु, सुवभ्रु, रुक्मयज्ञ, सुषेण, दुन्दुभि, गभस्तिनेमि, श्रीपद्म, पुष्कर, पुष्पधारण, ऋभु, विभु, सर्वसूक्ष्म आदि सब कुछ तुम ही हो। तुम्हारे ही चरितों को वेद नित्य गाता रहता है। हे केशव! तुम ही अम्भोनिधि, ब्रह्मा, पवित्र धाम, धामवित, हिरण्यगर्भ, स्वधा और स्वाहा रूप हो ॥११-१५॥

योनिस्त्वमस्य जगतः प्रलयश्च कृष्ण त्वमेवेदं सृजसि विश्वमग्रे
विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने नमोऽस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे ॥

हे कृष्ण! तुम इस जगत् के कारण और प्रलय रूप हो। हे विश्वयोने! यह सारा विश्व तुम्हारे ही तो अधीन है। हे शार्ङ्गधनुष सुदर्शन चक्र और खड्ग धारण करने वाले! आप को नमस्कार है ॥१६॥

एवं स्तुतो धर्मराजेन कृष्णः सभामध्ये प्रीतिमान्पुष्कराक्षः ।
तमभ्यनन्दद्भारतं पुष्कलाभिर्वाग्भिर्ज्येष्ठंपाण्डवं यादवाग्र्यः

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवस्तुतौ
त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४३॥

हे राजन्! जब धर्मराज ने सभा के मध्य में इस प्रकार श्रीकृष्ण की स्तुति की—तो वे कमल समान नेत्रधारी भगवान् कृष्ण प्रसन्न हो गए। अब यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण ने भी पाण्डु के ज्येष्ठ-पुत्र राजा युधिष्ठिर की बहुत सी उत्तम वाणियों से प्रशंसा की, जिससे धर्मराज भी बहुत आनन्दित हुए ॥१७॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में श्रीकृष्ण और
युधिष्ठिर सम्वाद का तेतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ



चवालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—ततो विसर्जयामास सर्वाः प्रकृतयो नृपः ।
विविशुश्चाभ्यनुज्ञाता यथा स्वानि गृहाणि ते ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! अब राजा युधिष्ठिर ने प्रजा के सब लोगों को विदा किया। वे लोग भी आज्ञा पाकर अपने २ स्थानों को चले गए ॥१॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमं भीमपराक्रमम् ।
सान्त्वयन्नब्रवीच्छ्रीमानर्जुनं यमजौ तथा ॥२॥

इसके अनन्तर श्रीमान् राजा युधिष्ठिर ने भीमपराक्रमी भीमसेन, अर्जुन और नकुल सहदेव को सान्त्वना देते हुए यह वचन कहा ॥२॥

शत्रुभिर्विविधैः शस्त्रैः क्षतदेहा महारणे ।
श्रान्ता भवन्तः सुभृशं तापिताः शोकमन्युभिः ॥३॥
अरण्ये दुःखवसतीर्मत्कृते भरतर्षभाः ।
भवद्भिरनुभूता हि यथा कुपुरुषैस्तथा ॥४॥
यथा सुखं यथाजोषं जयोऽयमनुभूयताम् ।
विश्रान्ताँल्लब्धविज्ञानान् श्वः समेताऽस्मि वः पुनः ॥५॥

हे भरतर्षभो ! इस घोरयुद्ध में शत्रुओं द्वारा व्यवहार में लाए हुए शस्त्रों से तुम्हारे शरीर क्षत-विक्षत हो रहे हो । तुम लोग बहुत थक चुके हो और शोक क्रोध से सन्तापित हो । तुम लोगों ने भाग्यहीन पुरुष की तरह वन में मेरे निमित्त बहुत दिन वास करके अनेक कष्ट उठाए । अब तुम अपनी इच्छा और सुखोपभोग के साथ इस विजय का आनन्द उठाओ । जब तुम विश्राम लेकर अपनी थकान उतार कर चेतन हो जाओगे, तब कल तुम से मैं बातचीत करूंगा ॥३-५॥

ततो दुर्योधनगृहं प्रासादैरुपशोभितम् ।
बहुरत्नसमाकीर्णं दासीदाससमाकुलम् ॥६॥

धृतराष्ट्रस्यनुज्ञातं भ्रात्रा दत्तं वृकोदरः ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्मन्दिरं मघवानिव ॥७॥

इसके बाद महाबाहु, भीमसेन, धर्मराज से आज्ञा पाकर, राजा धृतराष्ट्र की अनुमति लेकर बहुत से रत्नों से व्याप्त, दासी दासों से परिपूर्ण, उत्तम २ कमरों से सुशोभित राजा दुर्योधन के भवन में अपने महल में इन्द्र के समान प्रविष्ट हुए ॥६-७॥

यथा दुर्योधनगृहं तथा दुःशासनस्य तु ।
प्रासादमालासंयुक्तं हेमतोरणभूषितम् ॥८॥
दासीदाससुसंपूर्णं प्रभूतधनधान्यवत् ।
प्रतिपेदे महाबाहुरर्जुनो राजशासनात् ॥९॥

राजा दुर्योधन के गृह के सदृश ही दुःशासन का भवन था। उसमें भी कमरों की पंक्ति सुशोभित थी, सुवर्ण के तोरण सुशोभित थे। दासी दास उसमें भी भरे पड़े थे। वह बहुत से धन धान्य से परिपूर्ण था। राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से महाबाहु अर्जुन उसमें प्रविष्ट हुए ॥८-९॥

दुर्मर्षणस्य भवनं दुःशासनगृहाद्वरम् ।
कुबेरभवनप्रख्यं मणिहेमविभूषितम् ॥१०॥
नकुलाय वरार्हाय कर्शिताय महावने ।
ददौ प्रीतो महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥११॥

हे महाराज ! दुःशासन के घर से भी अधिक सुन्दर कुबेर के सदृश उज्ज्वल, सुवर्ण और मणियों से जटित, दुर्मर्षण का

भवन था। धर्मराज युधिष्ठिर ने ऐसे ही उत्तम भवन के योग्य, वन के क्लेशों से कर्शित नकुल के लिए उस भवन में रहने की आज्ञा दी ॥१०-११॥

दुर्मुखस्य च वेश्माग्र्यं श्रीमत्कनकभूषणम् ।
पूर्णपद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥१२॥
प्रददौ सहदेवाय सन्ततं प्रियकारिणे ।
मुमुदे तच्च लब्ध्वाऽसौ कैलासं धनदो यथा ॥१३॥

धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्मुख का भवन सुवर्ण भूषित, बड़ा ही कान्ति-शाली था। उसमें खिले हुए कमल के समान नेत्रों वाली स्त्रियों के शयन भरे पड़े थे। सर्वदा प्रिय करने में तत्पर सहदेव के लिए वह भवन धर्मराज ने प्रदान किया। वह उस भवन को पाकर इतना हर्षित हुआ जैसे कैलास को पाकर कुबेर प्रसन्न हुआ था।

युयुत्सुर्विदुरश्चैव सञ्जयश्च विशांपते ।
सुधर्मा चैव धौम्यश्च यथा स्वान् जग्मुरालयान्॥१४॥

हे विशाम्पते ! इसी तरह युयुत्सु, विदुर, सञ्जय, सुधर्मा, और धौम्य भी अपने अपने भवनों को धर्मराज की आज्ञा से पधारे ॥१४॥

सह सात्यकिना शौरिरर्जुनस्य निवेशनम् ।
विवेश पुरुषव्याघ्रो सिंहो गिरिगुहामिव ॥१५॥

पुरुषव्याघ्र, श्रीकृष्ण भी सात्यकि को लेकर पर्वत की कन्दरा में सिंह की भांति अर्जुन के भवन में प्रविष्ट हुए ॥१५॥

तत्र भक्ष्यान्नपानैस्ते मुदिताः सुसुखोषिताः ।
सुखप्रबुद्धा राजानमुपतस्थुर्युधिष्ठिरम् ॥१६॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गृहविभागे चतुश्चत्वरिंशत्तमोऽध्यायः ॥४४॥

हे राजन ! अपने २ भवनों में पहुंच कर सब ने उत्तम २ अन्न पान ग्रहण किया। वे प्रसन्नता से वहां रहे और सुख से शयन किया। प्रातःकाल उठ २ करके सब राजा युधिष्ठिर के पास पहुंचे ॥१६॥

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में गृहविभाग का चवालीसवां अध्याय समाप्त हुआ



पैंतालीसवां अध्याय

जनमेजयउवाच-प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यदन्यदकरोद्विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥१॥

जनमेजय बोले—हे विप्रेन्द्र ! धर्मराज महाबाहु राजा युधिष्ठिर ने जब राज्यसिंहासन प्राप्त कर लिया तो उसके पीछे क्या किया, अब मुझे यह बताओ ॥१॥

भगवान्वा हृषीकेशस्त्रैलोक्यस्य परो गुरुः ।
ऋषे यदकरोद्वीरस्तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥२॥

हे ऋषे! त्रिलोकी में पूज्य, भगवान् नरश्रेष्ठ, श्रीकृष्ण ने क्या किया—यह भी विस्तार से बताओ ॥२॥

वैशम्पायन उवाच—शृणु तत्त्वेन राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ।
वासुदेवं पुरस्कृत्य यदकुर्वत पाण्डवाः ॥३॥

वैशम्पायन बोले—हे सर्वगुणसम्पन्न! राजेन्द्र! मैं तुमको वह सारा वृत्तान्त सुनाता हूं-जो भगवान् कृष्ण को साथ लेकर पाण्डवों ने किया ॥३॥

प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत् ॥४॥

हे महाराज! कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने जब राज्य सिंहासन प्राप्त कर लिया तो उन्होंने चारों वर्णों को यथायोग्य अपने २ स्थान पर सुरक्षित किया ॥४॥

ब्राह्मणानां सहस्रं च स्नातकानां महात्मनाम्।
सहस्रं निष्कमेकैकं दापयामास पाण्डवः ॥५॥

पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने महात्मा, विद्या-व्रत-स्नात सहस्रों ब्राह्मणों को एक २ सहस्र सुवर्ण मुद्रा प्रदान की ॥५॥

तथाऽनुजीविनो भृत्यान्संश्रितानतिथीनपि।
कामैः सन्तर्पयामास कृपणांस्तर्ककानपि ॥६॥

इसी तरह धर्मराज ने अनुजीवी सेवक, आश्रित जन, अतिथि दरिद्री और कुशल प्रश्न आदि पूछने वाले व्यक्तियों को उनकी कामना प्रदान करके उनको सन्तुष्ट किया ॥६॥

तत्र भक्ष्यान्नपानैस्ते मुदिताः सुसुखोषिताः ।
सुखप्रबुद्धा राजानमुपतस्थुर्युधिष्ठिरम् ॥१६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गृहविभागे चतुश्चत्वरिंशत्तमोऽध्यायः ॥४४॥

हे राजन् ! अपने २ भवनों में पहुंच कर सब ने उत्तम २ अन्न पान ग्रहण किया। वे प्रसन्नता से वहां रहे और सुख से शयन किया। प्रातःकाल उठ २ करके सब राजा युधिष्ठिर के पास पहुंचे ॥१६॥

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में गृहविभाग का चवालीसवां अध्याय समाप्त हुआ



पैंतालीसवां अध्याय

जनमेजयउवाच-प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यदन्यदकरोद्विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥१॥

जनमेजय बोले—हे विप्रेन्द्र ! धर्मराज महाबाहु राजा युधिष्ठिर ने जब राज्यसिंहासन प्राप्त कर लिया तो उसके पीछे क्या किया, अब मुझे यह बताओ ॥१॥

भगवान्वा हृषीकेशस्त्रैलोक्यस्य परो गुरुः ।
ऋषे यदकरोद्वीरस्तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥२॥

धृतराष्ट्राय तद्राज्यं गान्धार्यै विदुराय च ।
निवेद्य सुस्थवद्राजा सुखमास्ते युधिष्ठिरः ॥११॥

राजा युधिष्ठिर, राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और महात्मा विदुर को सारा राज्य का अधिकार सौंप कर निरोग होने की तरह सुखी हो गए ॥११॥

तथा सर्वं सनगरं प्रसाद्य भरतर्षभ ।
वासुदेवं महात्मानमभ्यगच्छत्कृताञ्जलिः ॥१२॥

हे भरतर्षभ ! धर्मराज युधिष्ठिर, सारे नगर को प्रसन्न करके फिर वे हाथ जोड़कर महात्मा कृष्ण के पास पहुँचे ॥१२॥

ततो महति पर्यङ्के मणिकाञ्चनभूषिते ।
ददर्श कृष्णमासीनं नीलमेघसमद्युतिम् ॥१३॥
जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम् ।
पीतकौशेयवसनं हेम्नेवोपगतं मणिम् ॥१४॥
कौस्तुभेनोरसिस्थेन मणिनाभिविराजितम् ।
उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाभिविराजितम् ॥१५॥
नौपम्यं विद्यते तस्य त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

वहां पर उन्होंने मेघ के समान कान्ति धारी, तेजोयुक्त शरीर से देदीप्यमान, दिव्य आभूषणों से विभूषित, पीले रेशमी वस्त्र धारण किए हुए श्रीकृष्ण बैठे हुए देखे, जो सुवर्ण में जड़ी हुई मणि के समान सुन्दर प्रतीत होते थे। इनके वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि पड़ी थीं, जिससे ऐसे सुन्दर प्रतीत होते थे, जैसे उदय होता हुआ

सूर्य, उदयाचल पर सुशोभित होता है। उनकी इस समय त्रिलोकी में कोई ढूंढने पर भी उपमा नहीं मिल सकती थी ॥१३-१५॥

सोभिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम् ॥
उवाच मधुरं राजा स्मितपूर्वमिदं तदा ।

राजा युधिष्ठिर पुरुष शरीर धारी, महात्मा कृष्ण के पास पहुंच कर मुसकुराकर यह मधुर वचन बोले ॥१६॥

सुखेन ते निशा कच्चिद्व्युष्टा बुद्धिमतां वर ॥१७॥
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत ।

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! अच्युत ! आपकी रात सुख से तो व्यतीत हुई। हे भगवन् ! आप की सारी ज्ञानेन्द्रियां तो प्रसन्न हैं।

तथैवोपश्रिता देवी बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥१८॥
वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता ।

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! आपके भीतर वह दिव्य बुद्धि स्थित है, जिसके कारण से हमको यह सारा राज्य प्राप्त हुआ है और यह सारी पृथिवी वश में स्थित हो गई है ॥१८॥

तव प्रसादाद्भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम ॥१९॥
जयं प्राप्ता यशश्चाग्र्यं न च धर्मच्युता वयम् ।

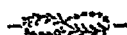
हे त्रिलोक में विक्रम कर जाने वाले ! भगवन् कृष्ण ! हमने आप के अनुग्रह से सारी विजय और उत्तम यश की प्राप्ति की है तथा हम किसी प्रकार से धर्म से च्युत नहीं हो पाए हैं ॥१९॥

तं तथा भाषमाणं तु धर्मराजमरिन्दमम् ।
नोवाच भगवान्किञ्चिद्ध्यानमेवान्वपद्यत ॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णं प्रति युधिष्ठिरवाक्ये पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४५॥

हे राजन् ! अरिमर्दन ! जब राजा युधिष्ठिर, इस तरह कह रहे थे, तो उस समय उनसे भगवान् कृष्ण ने कुछ नहीं कहा और वे ध्यान मग्न ही बैठे रहे ॥२०॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्म पर्व में कृष्ण युधिष्ठिर सम्मिलन का पैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ



छियालीसवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—किमिदं परमाश्चर्यं ध्यानस्यामितविक्रम ।
कच्चिल्लोकत्रयस्यास्य स्वस्ति लोकपरायण ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे अमितविक्रम ! तुम आज परम आश्चर्यजनक किस ध्यान में मग्न हो । हे लोकपरायण ! इस त्रिलोकी का कल्याण तो है ॥१॥

चतुर्थं ध्यानमार्गं त्वमालम्ब्य पुरुषर्षभ ।
अपक्रान्तो यतो देवस्तेन मे विस्मितं मनः ॥२॥

हे केशव ! चारों आश्रमों के धर्म भी मेरे हृदय में स्थित हैं। हे केशव ! मैं सारे राजधर्मों को भी अच्छी तरह जानता हूं।

यच्च यत्र च वक्तव्यं तद्वक्ष्यामि जनार्दन।
तव प्रसादाद्धि शुभा मनो मे बुद्धिराविशत् ॥२२॥

हे जनार्दन ! अब जिस स्थल पर जो कुछ कहना चाहिए-मैं वही कहूंगा। आपके अनुग्रह से मेरी शुद्ध बुद्धि मन के साथ एकाग्र हो गई है ॥२२॥

युवेवास्मि समावृत्तस्त्वदनुध्यानबृंहितः।
वक्तुं श्रेयः समर्थोऽस्मि त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥२३॥

हे जनार्दन ! आपके ध्यान से मुझे इतनी चेतना प्राप्त होगई, कि मैं युवावस्था सी अनुभव करता हूँ। अब आपकी कृपा से मैं सब कुछ कल्याणकारी वस्तु के कहने में समर्थ हो सकूंगा ॥२३॥

स्वयं किमर्थं तु भवान् श्रेयो न प्राह पाण्डवम्।
किं ते विवक्षितं चात्र तदाशु वद माधव ॥२४॥

हे माधव ! आपने ही पाण्डु-पुत्र धर्मराज को तत्व वस्तु का क्यों नहीं उपदेश कर दिया। अब आप क्या कहना चाहते हैं-यह मुझे शीघ्र बताओ ॥२४॥

वासुदेव उवाच-यशसः श्रेयसश्चैव मूलं मां विद्धि कौरव।
मत्तः सर्वेऽभिनिर्वृत्ता भावाः सदसदात्मकाः ॥२५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे कौरव ! मुझे तुम यश और कल्याण मार्ग का मूल समझो। ये सारे सत् असत् रूप भाव मुझ से ही प्रवृत्त होते हैं ॥२५॥

जिस तरह दीपक, निर्वात स्थान में बिना कांपते हुए जलता रहता है। हे भगवन्! कृष्ण! आप आज तो उसी तरह हो रहे हो, मानो पत्थर की तरह निश्चल हो ॥६॥

यदि श्रोतुमिहार्हामि न रहस्यं च ते यदि ।
छिन्धि मे संशयं देव प्रपन्नायाभियाचते ॥७॥

यदि मैं इस रहस्य को सुन सकता हूं, मुझसे छुपाने के योग्य नहीं है, तो हे देव! मैं आपकी शरण में आकर याचना कर रहा हूं कि आप मेरे संशय का छेदन करें ॥७॥

त्वं हि कर्ता विकर्ता च क्षरं चैवाक्षरं च हि ।
अनादिनिधनश्चाद्यस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥८॥

हे पुरुषोत्तम! तुमही सृष्टिकर्ता और प्रलयकर्ता हो। क्षर और अक्षर आप ही तो हो। हे कृष्ण! आप ही तो अनादि और अनन्त, आदिपुरुष माने गए हो ॥८॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय शिरसा प्रणताय च ।
ध्यानस्यास्य यथा तत्त्वं ब्रूहि धर्मभृतांवर ॥९॥

हे धर्मात्मन्! तुम्हारी शरण में आये हुए, शिर झुकाकर प्रणाम करते हुए, तुम्हारे भक्त इस युधिष्ठिर को इस ध्यान के तत्व का वर्णन करो ॥९॥

ततः स्वे गोचरे न्यस्य मनोबुद्धीन्द्रियाणि सः ।
स्मितपूर्वमुवाचेदं भगवान्वासवानुजः ॥१०॥

इसके अनन्तर अपने २ स्थान पर मन, बुद्धि और इन्द्रियों को स्थापित करके भगवान् कृष्ण, मुसकुराकर यह वचन कहने लगे ॥१०॥

वासुदेव उवाच-शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः ।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥११॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन ! बुझते हुए अग्नि की भाँति पुरुष श्रेष्ठ भीष्म शर-शय्या पर पड़े हुए मेरा ध्यान कर रहे हैं, इससे मेरा मन भी वहीं चला गया था ॥११॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न सेहे देवराजोऽपि तमस्मि मनसा गतः ॥१२॥

जिस भीष्म के धनुष की टङ्कार इन्द्र के वज्र के तुल्य भीषण थी। जिसको देवराज इन्द्र भी नहीं सह सकता था, मैं उन ही भीष्म का मन से चिन्तन कर रहा था ॥१२॥

येनाभिजित्य तरसा समस्तं राजमण्डलम् ।
ऊढास्तिस्रस्तु ताः कन्यास्तमस्मि मनसा गतः ॥१३॥

जिसने अपने बल पराक्रम से सारे राजमण्डल को पराजित करके, अम्बा आदि तीन कन्या अपने भ्राता को विवाही, मैं उनकी भीष्म के विषय में कुछ सोच रहा हूं ॥१३॥

त्रयोविंशतिरात्रं यो योधयामास भार्गवम् ।
न च रामेण निस्तीर्णस्तमस्मि मनसा गतः ॥१४॥

यही भीष्म, तेईस रात दिन तक भृगुवंशोत्पन्न परशुराम से युद्ध करते रहे। इतने लम्बे समय में भी परशुराम जिस को नहीं जीत सके, मैं उनही का ध्यान कर रहा था ॥१४॥

एकीकृत्येन्द्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया।
शरणं मामुपागच्छत्ततो मे तद्गतं मनः ॥१५॥

भीष्म ने सारी इन्द्रियां इकट्ठी कर ली। अपनी बुद्धि द्वारा मन का संयमन कर लिया। इस तरह वह मेरी शरण में पहुंच गया है, इससे मेरा भी मन उनकी ओर खिच गया ॥१५॥

यं गङ्गा गर्भविधिना धारयामास पार्थिव ।
वसिष्ठशिक्षितं तात तमस्मि मनसा गतः ॥१६॥

हे तात! जिस भीष्म को गङ्गा देवी ने, गर्भ की विधि से उदर में धारण किया। जिसको महर्षि वसिष्ठ ने शिक्षा प्रदान की–मैं अब मन के द्वारा उनके ही ध्यान में निमग्न था ॥१६॥

दिव्यास्त्राणि महातेजा यो धारयति बुद्धिमान् ।
साङ्गांश्च चतुरो वेदांस्तमस्मि मनसा गतः ॥१७॥

इस महातेजस्वी बुद्धिमान भीष्म ने दिव्य अस्त्र और अङ्ग सहित वेदों का धारण किया-मैं मन के द्वारा उनका ही चिन्तन कर रहा था ॥१७॥

रामस्य दयितं शिष्यं जामदग्न्यस्य पाण्डव ।
आधारं सर्वविद्यानां तमस्मि मनसा गतः ॥१८॥

हे पाण्डव ! भीष्म पितामह, जमदग्नि-पुत्र परशुराम का शिष्य था तथा सारी विद्याओं का आश्रय था-मैं भी मन से उनका ही चिन्तन कर रहा था ॥१८॥

स हि भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
वेत्ति धर्मविदां श्रेष्ठं तमस्मि मनसा गतः ॥१९॥

हे भरतर्षभ ! भीष्म पितामह, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान को प्रत्यक्ष की तरह जानते थे । मैं उन धर्मात्माओं में श्रेष्ठ भीष्म का मन से चिन्तन कर रहा था ॥१९॥

तस्मिन्हि पुरुषव्याघ्रे कर्मभिः स्वैर्दिवं गते ।
भविष्यति मही पार्थ नष्टचन्द्रेव शर्वरी ॥२०॥

हे पार्थ ! जब पुरुषश्रेष्ठ भीष्म, अपने दिव्य कर्मों से स्वर्ग चले जावेंगे-तो चन्द्रमा से हीन रात्रि की भांति, यह सारी पृथिवी अशोभित हो जावेगी ॥२०॥

तद्युधिष्ठिर गाङ्गेयं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य पृच्छ यत्ते मनोगतम् ॥२१॥

हे युधिष्ठिर ! अब तुम प्रथम गङ्गापुत्र भीमपराक्रमी भीष्म के पास पहुंचो और प्रणामपूर्वक शिष्यभाव से उनसे जो पूछना है-वह पूछो ॥२१॥

चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च ।
राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते ॥२२॥

हे पृथिवीपते ! धर्म, अर्थ, काम मोक्ष, यज्ञादि कर्म, चारों आश्रम ब्रह्मचर्यादि के विषय एवं सारे राजधर्म-इनमें जो तुमको पूछना हो-वह शीघ्र पूछ लो ॥२२॥

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे ।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात्त्वां चोदयाम्यहम् ॥२३॥

जब कौरववंशश्रेष्ठ भीष्म पितामह, संसार से चल देंगे-तो उनके साथ ही सारा ज्ञान अस्त हो जावेगा-मैं इसी कारण से तुमको प्रेरणा कर रहा हूँ ॥२३॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
साश्रुकण्ठः स धर्मज्ञो जनार्दनमुवाच ह ॥२४॥

हे राजन् ! वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण के ये सत्य वचन सुनकर अश्रु से परिपूर्ण कण्ठ वाला राजा युधिष्ठिर, जनार्दन कृष्ण से यह वचन कहने लगा ॥२४॥

यद्भवानाह भीष्मस्य प्रभावं प्रति माधव ।
तथा तन्नात्र संदेहो विद्यते मम माधव ॥२५॥

हे माधव ! आपने जो भीष्म पितामह के प्रभाव के विषय में कहा है, वह ज्यों का त्यों सत्य है इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२५॥

महाभाग्यं च भीष्मस्य प्रभावश्च महाद्युते ।
श्रुतं मया कथयतां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥२६॥

हे महाद्युते ! भीष्म का माहात्म्य और प्रभाव, बड़े २ महात्मा ब्राह्मण कहते रहते हैं, जो मैंने स्वयं सुन रखा है ॥२६॥

भवांश्च कर्ता लोकानां यद्ब्रवीत्यरिसूदन ।
तथा तदनभिध्येयं वाक्यं यादवनन्दन ॥२७॥

हे अरिसूदन ! आप तो लोकों के कर्ता हैं । आप जो इस विषय में कह रहे हैं-हे यादवनन्दन ! उस पर भी हमको ज्यों की त्यों श्रद्धा करनी चाहिए ॥२७॥

यदि त्वनुग्रहवती बुद्धिस्ते मयि माधव ।
त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं यास्यामहे वयम् ॥२८॥

हे माधव ! यदि आपकी बुद्धि, हम पर अनुग्रह से परिपूर्ण है-तो हम लोग आपको आगे करके भीष्म के समीप चलना चाहते हैं ॥२८॥

आवृत्ते भगवत्यर्के स हि लोकान् गमिष्यति ।
त्वद्दर्शनं महाबाहो तस्मादर्हति कौरवः ॥२६॥

हे महाबाहो ! भगवान् सूर्य के उत्तरायण होते ही कुरुवंशश्रेष्ठ भीष्म परलोक में गमन कर जावेंगे । इस समय भीष्म को आप के दर्शन अवश्य होने चाहिए ॥२६॥

तव चाद्यस्य देवस्य क्षरस्यैवाक्षरस्य च ।
दर्शनं त्वस्य लाभः स्यात्त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः ॥३०॥

आप भी आदिदेव और क्षर तथा अक्षर रूप हैं । तुम ब्रह्म मय एक निधि हो, आप के दर्शनों से भी भीष्म पितामह को बड़ा लाभ होगा ॥३०॥

वैशम्पायन उवाच-श्रुत्वैवं धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः।
पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ॥२१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन! धर्मराज के ये वचन सुनकर मधुसूदन कृष्ण ने अपने समीप में स्थित सात्यकि से कहा, कि तुम मेरा रथ जोड़कर शीघ्र मंगवाओ ॥२१॥

सात्यकिस्त्वाशु निष्क्रम्य केशवस्य समीपतः।
दारुकं प्राह कृष्णस्य युज्यतां रथ इत्युत ॥२२॥

सात्यकि भी आज्ञा पाते ही श्रीकृष्ण के समीप से चल दिए और दारुक नामक सारथि से बोले कि तुम, श्रीकृष्ण का रथ जोड़कर शीघ्र ले आओ ॥२२॥

स सात्यकेराशु वचो निशम्य रथोत्तमं काञ्चनभूषिताङ्गम्।
मसारगल्वर्कमयैर्विभङ्गैर्विभूषितं हेमनिबद्धचक्रम् ॥२३॥
दिवाकरांशुप्रभमाशुगामिनं विचित्रनानामणिभूषितान्तरम्।
नवोदितं सूर्यमिव प्रतापिनं विचित्रतार्क्ष्यध्वजिनं पताकिनम्
सुग्रीवशैब्यप्रमुखैर्वराश्वैर्मनोजवैः काञ्चनभूषिताङ्गैः।
संयुक्तमावेदयदच्युताय कृताञ्जलिर्दारुको राजसिंह ॥२५॥

इति श्री महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि महापुरुषस्तवे षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४६॥

हे राजसिंह! दारुक सारथि ने भी, सात्यकि के वचन सुनकर सुवर्ण से विभूषित, मरकत मणि, चन्द्रकान्त मणि, सूर्यकान्त

मणि, आदि से जटित, सुवर्ण से विभूषित चक्रों से युक्त, सूर्य के समान जाज्वल्यमान, शीघ्रगामी, अनेक प्रकार की मणियों से भीतर से जड़े हुए, नवीन उदय को प्राप्त हुए सूर्य के तुल्य तेजस्वी, विचित्र गरुड़ की ध्वजा से सुशोभित, पताकाओं से युक्त, सुग्रीव, शैव्य आदि मन के समान वेगशाली चारों अश्वों के युक्त, सुवर्ण से जटित अन्य अङ्गों से देदीप्यमान, रथ को लाकर खड़ा कर दिया और हाथ जोड़ कर श्रीकृष्ण को रथ के आने की सूचना दी ॥३३-२४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में महापुरुष श्रीकृष्ण की स्तुति का छियालीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



सैंतालीसवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच-शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः।
कथमुत्सृष्टवान्देहं कं च योगमधारयत् ॥१॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन्! भरतवंश के पितामह भीष्म, शर-शय्या पर सो रहे थे। उन्होंने किस प्रकार देह को छोड़ा और किस योग की धारणा की ॥१॥

वैशम्पायन उवाच—शृणुष्वावहितोराजञ्शुचिर्भूत्वासमाहितः।
भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे कुरुवंशशार्दूल ! राजन ! आप मन को पवित्र करके सावधान हो जाओ और ध्यान पूर्वक महात्मा भीष्म के देह छोड़ने की कथा सुनो ॥२॥

निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः ॥३॥

हे महाराज ! जब दक्षिणायन की निवृत्ति हुई और सूर्य उत्तरायण हुए-उस समय भीष्म पितामह ने बड़ी सावधानी से अपनी आत्मा में मन को समाविष्ट किया ॥३॥

विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः।
शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः ॥४॥

भीष्म, अनेकों बाणों से व्याप्त हुए किरणजाल से व्याप्त सूर्य की भांति दिखाई देते थे, इनके पास अनेक उत्तम ब्राह्मण बैठे थे। ये बड़ी बीर कान्ति से सुशोभित दिखाई देते थे ॥४॥

व्यासेन वेदविदुषा नारदेन सुरर्षिणा।
देवस्थानेन वात्स्येन तथाऽश्मकसुमन्तुना ॥५॥
तथाजैमिनिना चैव पैलेन च महात्मना।
शाण्डिल्यदेवलाभ्यां च मैत्रेयेण च धीमता ॥६॥
असितेन वसिष्ठेन कौशिकेन महात्मना।
हारीतलोमशाभ्यां च तथाऽऽत्रेयेण धीमता ॥७॥

इस समय वेद के ज्ञाता महर्षि व्यास, देवर्षि नारद, देवस्थान वात्स्य, अश्मक, सुमन्तु, जैमिनि, महात्मा पैल, शाण्डिल्य,

देवल, बुद्धिमान् मैत्रेय, असित, वसिष्ठ, महात्मा कौशिक, हारीत लोमश, विद्वान् आत्रेय आदि मुनियों से भीष्म घिरे हुए थे ॥७॥

बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनिः ।
सनत्कुमारः कपिलो वाल्मीकिस्तुम्बुरुः कुरुः ॥८॥
मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृणबिन्दुर्महामुनिः ।
पिप्पलादोऽथ वायुश्च संवर्तः पुलहः कचः ॥९॥
काश्यपश्च पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्षः पराशरः ।
मरीचिरङ्गिराः काश्यो गौतमो गालवो मुनिः ॥१०॥
धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णानुभौतिकः ।
उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः ॥११॥
भास्करिः पूरणः कृष्णः सूतः परमधार्मिकः ।
एतैश्चान्यैर्मुनिगणैर्महाभागैर्महात्मभिः ॥१२॥
श्रद्धादमशमोपेतैर्वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ।

बृहस्पति, शुक्र, महामुनि च्यवन, सनत्कुमार कपिल, वाल्मीकि तुम्बरु, कुरु, मौद्गल्य, भृगुवंशश्रेष्ठ परशुराम, महामुनि तृणबिन्दु, पिप्पलाद, वायु, संवर्त, पुलह, कच, काश्यप, पुलस्त्य, क्रतु, दक्ष, पराशर, मरीचि, अङ्गिरा, काश्य, गौतम, महामुनि गालव, धौम्य, विभाण्ड, माण्डव्य, धौम्य, कृष्णानुभौतिक उलूक, परम, विप्र, महर्षि मार्कण्डेय, भास्करि, पूरण, कृष्ण, परम धार्मिक सूत, ये तथा अन्य महात्मा महाभाग मुनिगण, श्रद्धा, दम और शम से युक्त थे। इन सब से भीष्म पितामह इस तरह घिरे हुए थे, जैसे ग्रहों से चन्द्रमा घिर रहे हों ॥८-१२॥

भीमस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा ॥१३॥
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचिः ।
स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम् ॥१४॥
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः ।
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत् ॥१५॥

पुरुषव्याघ्र परम धर्मात्मा भीष्म पितामह भी बड़ी पवित्रता से हाथ जोड़कर शर-शय्या पर पड़े हुए कर्म, मन और वाणी से एकाग्र होकर भगवान् कृष्ण का ध्यान कर रहे थे। वे अपने हृष्ट और पुष्ट स्वर से मधुसूदन, योगेश्वर, पद्मनाभ, जिष्णु, जगत्पति आदि नामों से भगवान् कृष्ण की स्तुति कर रहे थे ॥१३-१५॥

भीष्म उवाच- आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामि याम्
तया व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः ॥१६॥

भीष्म कहने लगे—मैं कृष्ण की आराधना में परायण होकर जिस वाणी का प्रयोग करना चाहता हूँ, उस विस्तृत और संक्षिप्त वाणी से पुरुषोत्तम कृष्ण, प्रसन्न हो जावें ॥१६॥

शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् ।
युक्त्वा सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥१७॥

भगवान कृष्ण बड़े पवित्र हैं। उनका स्थान भी बड़ा शुचि है। वे हंस ब्रह्म और परमेष्ठी स्वरूप से सुशोभित हैं। अब मैं सब तरह संसार का ध्यान छोड़कर प्रजापति कृष्ण का ध्यान करता हूँ ॥१७॥

अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ।
एकोऽयं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः ॥१८॥
नारायणादृषिगणास्तथा सिद्धमहोरगाः ।
देवा देवर्षयश्चैव यं विदुः परमव्ययम् ॥१९॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
यं न जानन्ति को ह्येष कुतो वा भगवानिति॥२०॥

भगवान् श्रीकृष्ण अनादि और अनन्त हैं। उनको देव और ऋषि भी नहीं समझ पाते हैं। केवल एक विधाता, नारायण हरि ही आदि स्वरूप को जानते हैं, उन्हीं नारायण से ऋषिगण, सिद्ध तथा उरग देवों ने जाना है। इसके बाद देव और देवर्षियों ने उन परम अव्यय स्वरूप भगवान् का रूप जान पाया है। देव दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस पन्नगों में से बहुत से लोग जिसको अभी तक नहीं जानते हैं, कि यह कौन है, और किस धाम से आए हैं ॥१८--२०॥

यस्मिन्विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च ।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥२१॥

जिसमें सारे भूत, स्थित और लय हो जाते हैं। सारे गुण और पञ्चभूत भी उन भूतेश कृष्ण में संलग्न हैं, जैसे सूत में मणिगण पोए होते हैं ॥२१॥

यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ॥२२॥

विश्वात्मा, विश्वकर्मा कृष्ण, नित्य दृढ़तन्तु की तरह फैला हुआ है, उसी में सत् असत् रूप सारा जगत् ग्रथित हो रहा है॥

हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम्।
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ॥२३॥
प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम्।
अणीयसमणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ॥२४॥
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि।

भगवान् कृष्ण सहस्रों शिर, सहस्रों चरण और नेत्र, सहस्रों बाहु, सहस्रों मुकुट और सहस्रों मुख वाले विराट रूप हैं, इन्हीं भगवान् नारायण देव को संसार का रक्षक वर्णन करते हैं। यह अणु से भी अणु महान् से भी महान् भारी से भारी और श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठ हैं॥२३-२५

यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥२६॥

सत्यकर्मा सत्यरूप श्रीकृष्ण की वेद के खण्ड, वाक, अनुवाक, निषद्, उपनिषद् और सत्य सामगान में स्तुति की गई है॥२६॥

चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्त्वस्थं सात्वतां पतिम्।
यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः ॥२७॥

इन्होंने अपने आपको चार रूपों में विभक्त किया है अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनुरुद्ध ये चारों रूप धारण किये हैं। ये सात्वतवंश के पति और बुद्धिरूपी गुहा में स्थित हैं। इन्हीं भगवान् कृष्ण की अत्यन्त गुह्य दिव्य नामों से महर्षिगण स्तुति करते हैं॥२६॥

यस्मिन्नित्यं तपस्तप्तं यदङ्गेष्वनुतिष्ठति ।
सर्वात्मा सर्ववित्सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥२८॥

उनके निमित्त किया हुआ तप उनके शरीर में स्थित होता है। ये सर्वात्मा, सर्ववित, सर्व, सर्वज्ञ और सर्वभावन हैं ॥२८॥

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः ॥२९॥

इन्हीं भगवान कृष्ण को वसुदेव से देवकी ने उत्पन्न किया है। वेद की रक्षा के लिए अरणि में स्थित अग्नि की भाँति जो पृथिवी पर प्रकट होते रहते हैं ॥२९॥

यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम् ।
दृष्ट्वाऽऽनन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥

वासना से हीन पुरुष अनन्यभाव से इस वीतराग मूर्ति का ही ध्यान करते हैं। वे अपनी दिव्यदृष्टि से अपनी आत्मा के भीतर भगवान कृष्ण के दर्शन करते हैं।

अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम् ।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥३१॥

भगवान कृष्ण के कर्म, वायु, इन्द्र और सूर्य से भी दिव्य हैं। बुद्धि, इन्द्रिय, और मन से भी दुर्गम उन प्रजापति कृष्ण की मैं शरण होता हूं ॥३१॥

पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु ।
क्षये सङ्कर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्महे ॥३२॥

पुराणों में जिनको परम पुरुष और युगों में जिसे ब्रह्म कहा गया है। प्रलय में जिसका संकर्षण रूप है, मैं उन्हीं उपास्य देव की उपासना करता हूं ॥२२॥

यमेकं बहुधाऽऽत्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम् ।
नान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम् ॥२३॥

ये भगवान् कृष्ण, एक होकर अनेक रूप में स्थित हैं। इन्हीं सर्वकामदाता अधोक्षज कृष्ण की अन्य देवों के क्रियाशील भक्त भी उपासना नहीं कर सकते हैं ॥२३॥

यमाहुर्जगतः कोशं यस्मिन्सन्निहिताः प्रजाः ।
यस्मिंल्लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा ॥२४॥
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म यत्तत्सदसतोः परम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ।
यं सुरासुरगन्धर्वाः सिद्धा ऋषिमहोरगाः ॥२५॥
प्रयता नित्यमर्चन्ति परमं दुःखभेषजम् ।
अनादिनिधनं देवमात्मयोनिं सनातनम् ॥२६॥
अप्रेक्ष्यमनभिज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम् ।
यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम् ।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥२७॥

श्रीकृष्ण जगत के कोश हैं। इनमें सारी प्रजा सन्निविष्ट है। जल पर पक्षियों की तरह उनमें ये सारे लोक विकसित होते रहते हैं। ये सत्य एकाक्षर ब्रह्म है और सत् असत् से

परे है। इनके आदि मध्य और अन्त को देव तथा ऋषि कोई भी नहीं जानते। सुर, असुर, गन्धर्व, सिद्ध ऋषि और महोरग, बड़े प्रयत्न से दुःख की परम औषध रूप श्रीकृष्ण की नित्य पूजा करते रहते हैं। इनका आदि और विनाश नहीं है। ये आत्मयोनि सनातन देव हैं। हरि नारायण प्रभु को कोई न तो देख सकता है और न ठीक २ जान ही सकता है। ये विश्व के कर्ता और जगत के शासक हैं। इनको जगत का अध्यक्ष अक्षर और परम पद कहते हैं ॥२४-३७॥

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितेर्दैत्यनाशनम् ।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥३८॥

जो अदिति के गर्भ में हिरण्यवर्ण रूप से उत्पन्न होता है और दैत्यों का नाशक है, जो एक होकर भी बारहरूप में परिणत हो जाता है, उसी सूर्यात्मा कृष्ण को नमस्कार है ॥३८॥

शुक्ले देवान्पितृन्कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः ।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥३९॥

जो शुक्ल पक्ष में देव और कृष्ण पक्ष में अपने अमृत से पितरों को तृप्त करते हैं। उस सोमरूप धारी श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥३९॥

महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ।

महान्धकार से अतीत, अत्यन्त तेजस्वी, पुरुष ज्ञेयरूप श्री कृष्ण को नमस्कार है, जिसको जानकर मनुष्य मृत्यु से पार हो जाता है ॥४०॥

यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे ।
यं विप्रसङ्घा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥४१॥

महायज्ञ के मध्य में जिसकी बृहत् उक्थ में बह्वृचा संज्ञक ऋत्विक्, अग्नि चयन में अध्वर्यु संज्ञक ब्राह्मणों का समूह, स्तुति करता रहता है, उसी वेद स्वरूप श्रीकृष्ण को नमस्कार है॥४१॥

ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविरात्मकम् ।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥४२॥

जो ऋक्‌यजु और सामवेद का धाम है तथा जो करम्भ आदि पांच हवियों का ग्रहण करने वाला है। जिसके लिये यज्ञ का आरम्भ किया जाता है, उस यज्ञात्म रूप श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥४२॥

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः ॥४३॥

जिसकी चार अक्षर "अस्तु श्रौषट्" मन्त्र, दो अक्षर का मन्त्र एवं पञ्चाक्षरी मन्त्र तथा फिर दो अक्षर के वषट् आदि मन्त्रों से पूजा की जाती है-इस सत्रह अक्षर के मन्त्रों से पूज्य होमात्मा कृष्ण को नमस्कार है ॥४३॥

य: सुपर्णो यजुर्नाम छन्दो गात्रस्त्रिवृच्छिरा: ।
रथन्तरं बृहत्साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥४४॥

जो वेद पुरुष है । जिसका यजुः यह नाम है । गायत्री आदि छन्द जिसका शरीर है, यज्ञ जिसका शिर है । रथन्तर तथा बृहत्साम भी शिरोभूत है-उसी स्तोत्रात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः ।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥४५॥

सहस्र वर्ष पर्यन्त चलने वाले, विश्वसृक् ब्रह्मादि के यज्ञ में सुवर्ण पक्षधारी हंस होकर जो उत्पन्न हुआ-उसी हंसात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥४५॥

पादाङ्गं सन्धिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम् ।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः ॥४६॥

मन्त्र के पाद ही जिसका अङ्ग है । सन्धि जिसकी पर्व है । स्वर व्यञ्जन भूषण है । जो दिव्य अक्षर कहाता है-उस वाणीरूप श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥४६॥

यज्ञाङ्गो यो वराहो वै भूत्वा गामुज्जहार ह ।
लोकत्रयहितार्थाय तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥४७॥

यज्ञ का अङ्ग वराह बन कर जिसने पृथिवी तथा तीनों लोकों का उद्धार किया-उस वीर्यात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार होवे ॥४७॥

यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते ।
फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः ॥४८॥

जो योगविद्या का आश्रयण करके सहस्रों फण वाले शेषनाग पर शयन करते हैं। उस निद्रात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥४८॥

यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना ।
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः ॥४९॥

जो सज्जनों के उद्धार के निमित्त योगमार्ग को वेदोक्त उपाय तथा मोक्ष के हेतुओं से रचते रहते हैं एवं धर्म, अर्थ और व्यवहार के उपयोगी वाणी आदि के स्पन्दन को करते हैं-उन सत्यात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार होवे ॥४९॥

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥५०॥

जिसको पृथक् २ धर्म अनुयायी, पृथक् २ धर्म फल के अभिलाषी, पृथक् २ धर्मों से पूजते हैं, उस धर्म-स्वरूप श्रीकृष्ण को नमस्कार होवे ॥५०॥

यतः सर्वे प्रसूयन्ते ह्यनङ्गात्माङ्गदेहिनः ।
उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै कामात्मने नमः ॥५१॥

मनुष्य का शरीर कामनाओं से परिपूर्ण है । वे कामनाएं जिसके कारण से उत्पन्न होती हैं तथा जो सारे प्राणियों का उन्मादक है-उस कामात्मा कृष्ण को नमस्कार है ॥५१॥

यं च व्यक्तस्थलव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥५२॥

महर्षि लोग, देह स्थित, अव्यक्त को खोजते रहते हैं। वह क्षेत्रज्ञ, बुद्धि में स्थित है, उसी क्षेत्रात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

यं त्रिधात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥५३॥

नित्य चेतन, अपने स्वरूप में स्थित, एकादश इन्द्रिय और पञ्चभूत रूप सोलह गुणों से युक्त, जिस सत्रहवें तत्व को सांख्य मुनि लोग ध्यान में लाते हैं, उसी सांख्यात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥५४॥

जिस ज्योति को निद्रारहित, प्राणायाम—परायण, सत्वस्थ, जितेन्द्रिय योगी पुरुष देखते रहते हैं; उसी योगात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥५४॥

अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥

पुण्य पाप के बन्धन से शून्यस्थान में पुनर्भव से निर्भय शान्त संन्यासी, जिसका ध्यान करते हैं, उनही मोक्षात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥५५॥

योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः।
संभक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः ॥५६॥

जब सहस्रों युग व्यतीत हो जावेंगे। अग्नि की लपटें जल उठेंगी और वे भूतों को ग्रसने लगेगी-यह सब उनका ही रूप होगा। इस प्रकार के घोर रूप धारी भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥५६॥

संभक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत्।
बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः॥५७॥

सारे भूतों को ग्रस कर सारे संसार को एक समुद्रमय बना देंगे और फिर बालक रूप धारण करके उसमें शयन करेंगे-उसी मायात्मक श्रीकृष्ण को नमस्कार होवे ॥५७॥

तद्यस्य नाभ्यां संभूतं यस्मिन्विश्वं प्रतिष्ठितम्।
पुष्करे पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः।

जिस कमल नयन भगवान की नाभि में एक पुष्कर (कमल) उत्पन्न होता है जिसमें सारा विश्व स्थित है-उसी पद्मात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार हो ॥५८॥

सहस्रशिरसे चैव पुरुषायामितात्मने।
चतुःसमुद्रपर्याययोगनिद्रात्मने नमः ॥५९॥

अमिततेजस्वी, सहस्र शिर धारी, चारों समुद्रों में योगनिद्रा से शयन करने वाले अथवा चारों प्रकार की कामनाओं को ग्रस जाने वाले योगनिद्रा रूप श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥५९॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥६०

जिसके केशों में मेघ, सारी अङ्ग सन्धियों में नदियां कुक्षि प्रदेश में चारों समुद्र है, उसी योगात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।

यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥६१॥

जिससे सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और जिसमें विलीन हो जाती है। जो सर्ग स्थिति और प्रलय के हेतु हैं-उनही हेत्वात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥६१॥

यो निषण्णो भवेद्रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः।

इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै कार्यात्मने नमः ॥६२॥

जो रात्रिभूत सुषुप्ति में केवल द्रष्टा और दिन में कर्ता रूप होता है तथा इष्ट और अनिष्ट का द्रष्टा है। उसी द्रष्टात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार हो ॥६२॥

अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्थमुद्यतम्।

वैकुण्ठस्य च तद्रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः ॥६३॥

जिसकी शक्ति किसी भी कार्य में नहीं रुकती है। धर्म कार्य के लिए जो सर्वदा उद्यत है, और जो भगवान् विष्णु का रूपधारी है-उसी कार्यात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥६३॥

त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मव्युत्क्रान्तगौरवम्।

क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः ॥६४॥

जिन क्षत्रियों ने धर्म का गौरव छोड़ दिया था, उनको क्रुद्ध होकर जिसने इक्कीस वार रण में नष्ट किया, उस क्रौर्यात्मा परशुराम रूप श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥६४॥

विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः ।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ।

जो पांच रूप में विमल होकर सारे शरीर में सञ्चार करता है तथा सारे शरीर के भीतर की चेष्टा कराता है-उस वायु रूप श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥६५॥

युगेष्वावर्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनैः ।
सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥६६॥

जो प्रत्येक युग में अपनी योगमाया से उत्पन्न होता है। मास, ऋतु, अयन और संवत्सर रूप से सृष्टि और प्रलय का कर्ता है, उसी कालात्मा कृष्ण को नमस्कार है ॥६६॥

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥६६॥

जिसके ब्राह्मण मुख, भुजा क्षत्रिय, जंघा से उदर तक वैश्य और पाद शूद्र है, उसी वर्णात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥६७॥

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मैः लोकात्मने नमः ॥६७॥

जिसका अग्नि मुख, द्यौ मस्तक, आकाश नाभि, चरण भूमि, सूर्य नेत्र, दिशा कर्ण हैं उसी लोकात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

परः कालात्परो यज्ञात्परात्परतरश्च यः।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥६९॥

जो काल से परे है, यज्ञ से भी पर है तथा पर वस्तु से भी जो उत्कृष्ट है। जो स्वयं अनादि और विश्व का आदि कारण है उसी विश्वात्मा को नमस्कार है ॥६९॥

विषये वर्तमानाना यं तं वैशेषिकैर्गुणैः।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मैः गोप्त्रात्मने नमः ॥७०॥

जो अपने विशिष्ट गुणों से शब्दादि विषयों के भीतर प्रविष्ट है-जिससे उसे विषय-गोप्ता कहते हैं, उस गोप्तात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥७०॥

अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धनः।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥७१॥

जो अन्न, पान और इन्धन रूप होकर रस और प्राणों का वर्द्धक है तथा जो भूतो को धारण करता है-उस प्राणात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥७१॥

प्राणानां धारणार्थाय योऽन्नं भुंक्ते चतुर्विधम्।
अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः ॥७२॥

जो प्राणों के धारण करने के निमित्त, लेह्य चोष्य आदि चारों प्रकार के भक्ष्य का भोजन करता है तथा जो शरीर के भीतर अग्नि रूप से पकाता है, उसी पाकात्मा कृष्ण को नमस्कार है।

पिङ्गेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम् ।

दानवेन्द्रान्तकरणं तस्मै दृप्तात्मने नमः ॥७३॥

पीली आंख और जटाधारी दंष्ट्रा नख के आयुध वाले हिरण्य-कशिपु के नाशक नृसिंहरूपधारी श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः ।

तत्त्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः ॥७४॥

जिसको देव, गन्धर्व, दैत्य या दानव, ठीक २ नहीं जान पाते हैं, उसी सूक्ष्मात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥७४॥

रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान्विभुः ।

जगद्धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥७५॥

जो रसातल के नीचे पहुंच कर भगवान् शेष का रूप धारण करके सारे जगत् का धारण करते हैं। उनही वीर्यात्मा महाबली श्रीकृष्ण को नमस्कार हो ॥७५॥

यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः ।

सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः ॥७६॥

जो सृष्टि की रक्षा के निमित्त स्नेह-पाश के बन्धन से सारे प्राणियों को मोहित करके बांधे रखता है, उस मोहात्मा कृष्ण को नमस्कार है ॥७६॥

आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम् ।

यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥७७॥

पञ्चतत्वों में अवस्थित, जो विषय ज्ञान है, उसको आत्म-रूप जानता है तथा जिसको ज्ञान के साधनों से जाना जाता है, उसी ज्ञानात्मा प्रभु कृष्ण को नमस्कार है ॥७७॥

अप्रमेयशरीराय सर्वतो बुद्धिचक्षुपे ।
अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥७८॥

जिसके स्वरूप को कोई नहीं जान सकता है। जिसको बुद्धि-रूपी आंख से देखा जा सकता है। जिसका आदि अन्त नहीं जाना जा सकता-उस दिव्यात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥७८॥

जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे ।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥७९॥

जटा, दण्ड और लम्बोदर शरीर धर्ता तथा कमण्डलु को ही निषङ्ग रूप में व्यवहार में लाने वाले ब्रह्मा के रूपधारी श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥७९॥

शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने ।
भस्मदिग्धोर्ध्वलिङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥८०॥

शूलधारी, देवों के पति, त्र्यम्बक, भस्मलिप्त, ऊपर आकाश की ओर को गमन करने वाले लिङ्ग शरीर धारी, महात्मा रुद्र के रूप धर्ता श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥८०॥

चन्द्रार्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने ।
पिनाकशूलहस्ताय तस्मै उग्रात्मने नमः ॥८१॥

चन्द्रमा जिन के मस्तक पर हैं, व्यालों के यज्ञोपवीत है। पिनाक और शूल जिनके हाथ में हैं, उन उग्र (शङ्कर) रूपधारी श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥८१॥

सर्वभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः ॥८२॥

जो प्राणियों का आत्मभूत है। सारे भूतों का आदि और अन्त है तथा क्रोध, द्रोह और मोह से परे है-उसी शान्तात्मा रूपधारी श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥८२॥

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मैः सर्वात्मने नमः ॥८३॥

जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है। जो सब में सब ओर से व्याप्त है। जो सर्वगत है—उसी सर्वात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥८३॥

विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसम्भव।
अपवर्गस्थभूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥८४॥

हे विश्वकर्मन्! आपको नमस्कार है-आप विश्वात्मा और विश्वयोनि है। तुम मुक्त जीव और पञ्च तत्वों से परे हो अर्थात नित्य मुक्त हो ॥८४॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु।
नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं हि सर्वमयो निधिः ॥८५॥

हे कृष्ण ! आप त्रिलोकी रूप हैं-आपको नमस्कार है तथा त्रिलोकी से भी परे हो। तुम सारी दिशाओं में व्यापक हो-तुमको नमस्कार है। तुम सर्वमय निधि हो ॥८५॥

नमस्ते भगवन्विष्णो लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥८६॥
न हि पश्यामि ते भावं दिव्यं हि त्रिषु वर्त्मसु ।
त्वां तु पश्यामि तत्त्वेन यत्ते रूपं सनातनम् ॥८७॥

हे भगवन् ! विष्णो ! आपको नमस्कार है। आप लोकों के रचयिता और प्रलय कारक हो। हे हृषीकेश ! तुम ही कर्ता, और तुम ही अपराजित होकर संहर्ता हो। तीनों कालों में तुम्हारे तुल्य कोई है-तुमको नमस्कार है। मैं तुम्हारे सनातन रूप को अच्छी तरह देख रहा हूं ॥८६-८७॥

दिवं ते शिरसाव्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।
विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥८८॥

हे भगवन् ! आपके शिर से द्युलोक पदों से पृथिवी और विक्रम से तीनों लोक व्याप्त हैं। तुम सनातन पुरुष हो ॥८८॥

दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ।
सप्तमार्गो निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥८९॥

दिशाएँ तुम्हारी भुजा, आंख सूर्य और शुक्र ज्योतिः है। तुमने ही अत्यन्त तेजस्वी वायु बनकर ऊपर के प्रवाह आदि सातों मार्ग रोक रखे हैं ॥८९॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥६०॥

श्रीकृष्ण का स्वरूप अतसी पुष्प के समान है । उनके पीले वस्त्र हैं। जो इन अच्युत गोविन्द को नमस्कार करते हैं, उनको कुछ भी भय नहीं रहता है ॥६०॥

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

जिसने एक बार भी कृष्ण को प्रणाम कर लिया-उसको दश अश्वमेध के पुण्य का फल मिल गया। जो दश अश्वमेध करेगा-वह फिर जन्म प्राप्त करेगा, परन्तु कृष्ण का प्रणाम करने वाला-तो फिर जन्म धारण नहीं कर सकता है ॥६१॥

कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे

जो कृष्ण के व्रत में परायण और रात दिन उनका ही स्मरण करते हैं तथा प्रातःकाल उठकर जो फिर कृष्ण का ध्यान करते हैं, वे कृष्ण की देह में इस तरह घुस जाते हैं, जैसे मन्त्र से हवन किया हुआ घृत अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है ॥६२॥

नमो नरकसंत्रासरक्षामण्डलकारिणे ।
संसारनिम्नगावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे ॥६३॥

नरक के त्रास से रक्षा मण्डल बनाने वाले तथा संसार रूपी नदी के आवर्त से निकालने वाले नौका स्वरूप श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥६३॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमोनमः ॥६४॥

गौ ब्राह्मण रक्षक, जगत् के हितकारी, ब्रह्म स्वरूप गौओं के पीछे घूमने वाले श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥६४॥

प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम् ।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥६५॥

प्राणों के वन में घूमने के समय का पाथेय भोजन; संसारोच्छेद की औषध तथा दुःख शोक के रक्षक हरि-ये दो अक्षर हैं ॥६५॥

यथा विष्णुमयं सत्यं तथा विष्णुमयं जगत् ।
यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतां तथा ॥६६॥

जब सत्य स्वरूप विष्णु है और विष्णुमय जगत् है । सारा प्रपञ्च ही विष्णु रूप है, तो फिर इस अनुभव से मेरे पाप नष्ट हो जावे ॥६६॥

त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे ।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तम ॥६७॥

हे सुरोत्तम पुण्डरीकाक्ष ! जो तुम्हारी शरण में पहुंचे हुए भक्त हैं और अभीष्टगति को प्राप्त करना चाहते हैं, उनका जो कल्याण है-आप उसका चिन्तन करो ॥६७॥

इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः ।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥६८॥

विद्या और तपका कारण, तो निष्कारण, भगवान् विष्णु का स्वरूप ही है, जो बड़ा पूज्य हैं। वे ही जनार्दन कृष्ण मेरे वाणी के यज्ञ से आज प्रसन्न हो जावें ॥९८॥

नारायणः परं ब्रह्म नारायणपरं तपः ।
नारायणः परो देवः सर्वं नारायणः सदा ॥९९॥

नारायण परंब्रह्म है। नारायण परंतप है। नारायण उत्कृष्ट देव है। सब कुछ नारायण ही नारायण हैं ॥९९॥

वैशम्पायन उवाच—

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः ।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा ॥१००॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इस प्रकार स्तुति करके भीष्म श्रीकृष्ण के ध्यान में मग्न हो गए। श्रीकृष्ण को नमस्कार हो-इतना कह कर भीष्म पितामह झुकते चले गए ॥१००॥

अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः ।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्वा ययौ हरिः ॥११॥

श्रीकृष्ण, अपने योग से भीष्म की भक्ति को समझ गए। भगवान् कृष्ण ने भी भीष्म के शरीर में प्रवेश किया और वे उनको त्रैलोक्य-दर्शन का दिव्य ज्ञान देकर अपने शरीर में चले आए ॥॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः ।
भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकण्ठास्तमानर्चुर्महामतिम् ॥१०२॥

जब यह स्तुति का शब्द शान्त हो गया तो ब्रह्मवादी मुनियों के गले में आंसुओं की धारा बह निकली। वे महामति भीष्म की अपनी वाणी से प्रशंसा करने लगे ॥१०२॥

ते स्तुवन्तश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम्।
भीष्मं च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥१०३॥

उन ब्राह्मण श्रेष्ठों ने पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की बड़ी स्तुति की और इसके बाद उन्होंने बार २ धीरे २ भीष्म की प्रशंसा की ॥१०३॥

विदित्वा भक्तियोगं तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः।
सहसोत्थाय संहृष्टो यानमेवान्वपद्यत ॥१०४॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, भीष्म के इस भक्तियोग को जान कर एक दम उठ खड़े हुए और अपने रथ में जा बैठे ॥१०४॥

केशवः सात्यकिश्चापि रथेनैकेन जग्मतुः।
अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिरधनञ्जयौ ॥१०५॥

श्रीकृष्ण और सात्यकि एक ही रथ से चले। दूसरे रथ से राजा युधिष्ठिर और महारथी अर्जुन चल पड़े ॥१०५॥

भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं समाश्रिताः।
कृपो युयुत्सुः सूतश्च सञ्जयश्च परन्तपः ॥१०६॥

भीमसेन, नकुल और सहदेव, एक रथ में चढ़ गए। कृपाचार्य, युयुत्सु, सूत और परन्तप सञ्जय भी रथ पर चढ़े ॥१०६॥

ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः ।
नेमिघोषेण महता कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥१०७॥

ये पुरुष श्रेष्ठ, इन नगर के आकार वाले, रथों से और उनके नेमिघोष से पृथिवी को कम्पायमान करते हुए भीष्म की ओर चल दिए ॥१०७॥

ततोगिरःपुरुषवरस्तवान्विताद्विजेरिताःपथिसुमनाःसशुश्रुवे ।
कृताञ्जलिप्रणतमथापरंजनंसकेशिहामुदितमनाऽभ्यनन्दत ॥

इति श्रीमहाभारते०शान्ति० राजधर्मानुशासन० भीष्मस्तव-
राजे सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४७॥

हे राजन ! श्रीकृष्ण, बड़ी प्रसन्नता से चले जाते थे और अपनी स्तुतिमय ब्राह्मणों की वाणी सुनते जाते थे। किसी स्थान पर केशि असुर नाशक श्रीकृष्ण ने हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए किसी पुरुष को देखा-तो प्रसन्न होकर उन्होंने उसका बड़ा स्वागत किया ॥१०८॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्म पर्व में भीष्मस्तवराज
का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ



अड़तालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः ।
कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ॥१॥
रथैस्तैर्नगराकारैः पताकाध्वजशोभितैः ।
ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! भगवान कृष्ण, राजा युधिष्ठिर, कृपाचार्य आदि वीर, भीम आदि चारों पाण्डव, उन नगर के आकार वाले पताका और ध्वजा से सुशोभित, शीघ्रगामी घोड़ों से युक्त रथों से होकर शीघ्र कुरुक्षेत्र की ओर चल दिए ॥१-२॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम् ।
देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥३॥
गजाश्वदेहास्थिचयैः पर्वतैरिव संचितम् ।
नरशीर्षकपालैश्च शङ्खैरिव च सर्वशः ॥४॥

वे लोग, केश, मज्जा अस्थि आदि से व्याप्त, कुरुक्षेत्र में उतरे, जहां पर बड़े २ महारथी क्षत्रियों ने युद्ध में देह त्याग किया था। वहांपर हाथी और घोड़ों के अस्थिसमूह से पर्वत से इकट्ठे हो रहे थे। मनुष्यों की खोपड़ियां सब ओर शंख सी बिखरी हुई थीं ॥४॥

चितासहस्रप्रचितं वर्मशस्त्रसमाकुलम् ।
आपानभूमिं कालस्य तथा भुक्तोज्झितामिव ॥५॥

कहीं २ पर सैंकड़ों चिता जल रही थी और कहीं पर कवच तथा शस्त्रों के ढेर लगे थे। इस समय कुरुक्षेत्र की भूमि काल की भोगकर छोड़ी हुई आपानभूमि (मधुशाला) सी दिखाई देती थी ॥५॥

भूतसङ्घानुचरितं रक्षोगणनिषेवितम् ।
पश्यन्तस्ते कुरुक्षेत्रं ययुराशु महारथाः ॥६॥

इसमें अनेक भूतो के सङ्घ और रक्षोगण घूम रहे थे। श्रीकृष्ण आदि महारथी, इस कुरुक्षेत्र को देखते हुए शीघ्रता से आगे बढ़ रहे थे ॥६॥

गच्छन्नेव महाबाहुः सर्वयादवनन्दनः ।
युधिष्ठिराय प्रोवाच जामदग्न्यस्य विक्रमम् ॥७॥

महाबाहु, सारे यादवों के आनन्ददाता भगवान् कृष्ण, चलते चलते राजा युधिष्ठिर से जमदग्नि पुत्र परशुराम के पराक्रम की चर्चा करते जाते थे ॥७॥

अमी रामह्रदाः पञ्च दृश्यन्ते पार्थ दूरतः ।
तेषु सन्तर्पयामास पितॄन् क्षत्रियशोणितैः ॥८॥

हे पार्थ ! ये जो थोड़ी दूरी पर पांच कुण्ड दिखाई देते हैं। इनमें क्षत्रिय रक्त भर कर परशुराम ने अपने पितरों का तर्पण किया था ॥८॥

अधो हि वर्षमस्माकं नरास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः ।
क्रियाव्युपरमात्तेषां ततो गच्छामसंशयम् ॥२६॥

हे ब्रह्मन् ! जब वेद ही नष्ट हो जावेगा, तब सारा धर्म भी नष्ट होकर ही रहेगा। हे त्रिभुवनेश्वर ! इस तरह तो फिर हम लोग भी सारे मनुष्यों के समान ही हो जावेंगे। मनुष्य तो यज्ञादि करके हमारी सेवा करते हैं और हम उनके मृत्युलोक में जो हमसे नीचे हैं-वर्षा करते हैं। जब वे याज्ञिक क्रियाओं को छोड़ देंगे-तब हम भी निर्बल हो जावेंगे-इसमें सन्देह नहीं है ॥२५-२६॥

अत्रनिःश्रेयसं यन्नस्तद्ध्यायस्व पितामह ।
त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ स्वभावो नो विनश्यति ॥२७॥

हे पितामह ! इस विषय में जिस प्रकार हमारा कल्याण हो आप वह विचारिए। आपके प्रभाव से हमारा जो यह स्वभाव बना था या हमको जो ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था-वह स्वयं नष्ट होने को जा रहा है ॥२७॥

तानुवाच सुरान्सर्वान्स्वयम्भूर्भगवान् स्तुतः ।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभः ॥२८॥

जब देवों ने इस प्रकार स्तुति की, तो भगवान् ब्रह्मा, उन सारे देवों से बोले-हे देवो ! तुम डरो मत, मैं तुम्हारे कल्याण की वार्ता का चिन्तन करूँगा ॥२८॥

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् ।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥२६॥

महता रथयुद्धेन कोटिशः क्षत्रिया हता।
तथाभूच्च मही कीर्णा क्षत्रियैर्वदतां वर ॥१३॥

हे वदतांवर! महाघोर रथ युद्ध द्वारा करोड़ों क्षत्रिय मारे गए होंगे। उस समय तो सारी पृथिवी क्षत्रियों के शवों से व्याप्त हो गई होगी ॥१३॥

किमर्थं भार्गवेणेदं क्षत्रमुत्सादितं पुरा।
रामेण यदुशार्दूल कुरुक्षेत्रे महात्मना ॥१४॥

हे कृष्ण! पूर्व काल में भगवान् भृगुवंशोत्पन्न महात्मा परशुराम नें कुरुक्षेत्र में क्षत्रियों का नाश किस लिए किया था ॥१४॥

एतन्मे छिन्धि वार्ष्णेय संशयं तार्क्ष्यकेतन।
आगमो हि परः कृष्ण त्वत्तो नो वासवानुज ॥

हे तार्क्ष्यकेतन! वार्ष्णेय! यह मेरे मन में बड़ा ही संशय उत्पन्न हो रहा है। हे उपेन्द्र! कृष्ण! आप इस मेरे सन्देह का छेदन करो। हम लोग, आपके वचन को वेदवाक्य से भी बड़ा समझते हैं ॥१५॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो यथावत्सगदाग्रजः प्रभुः शशांसतस्मैनिखिलेन तत्त्वतः
युधिष्ठिरायाप्रतिमौजसे तदायथाऽभवत्क्षत्रियसंकुला मही

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्याने
अष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४८॥

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥३३॥

हे भरतर्षभ ! वेदत्रयी, न्याय वेदान्त, और विद्या, वार्ता (कृषि व्यापार आदि) और यह विस्तृत दण्डनीति–ये चारों ही विद्या लोक रक्षा के कारण हैं, जिनका वर्णन ब्रह्माजी ने अपने ग्रन्थ में किया है ॥३३॥

अमात्यरक्षा प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम् ।
चारश्च विविधोपायः प्रणिधेयः पृथग्विधः ॥३४॥

उसी ग्रन्थ में अमात्यों की रक्षा, दूतप्रेषण, राजपुत्र के लक्षण, अनेक वेष बनाकर उपाय करने वाले गुप्तचरों का वर्णन है। इनकी नियुक्ति के पृथक् २ विधान भी बताए हैं ॥३४॥

साम भेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव ।
उपेक्षा पञ्चमी चात्र कार्त्स्न्येन समुदाहृता ॥३५॥

हे राजन् ! साम, दान, भेद, दण्ड और पांचवी उपेक्षा (निरीक्षण) का भी ब्रह्मा जी ने वहीं वर्णन किया है ॥३५॥

मन्त्रश्च वर्णितः कृत्स्नस्तथा भेदार्थ एव च ।
विभ्रमश्चैव मन्त्रस्य सिद्ध्यसिद्ध्योश्च यत्फलम् ॥३६

मन्त्र और उसके भेद होने के कारणों का भी उन्होंने वर्णन किया है। मन्त्र के भेद में क्या भूल होती हैं–यह सब कुछ बताया है तथा सिद्धि और असिद्धि एवं अन्तिम फल पर भी विचार किया है ॥३६॥

जह्नोरजस्तु तनयो बलाकाश्वस्तु तत्सुतः ।
कुशिको नाम धर्मज्ञस्तस्य पुत्रो महीपते ॥३॥

हे महीपते ! राजा जन्हु के पुत्र का नाम अज था। उसका पुत्र बलाकाश्व था। उसके पुत्र का नाम कुशिक था, जो बड़ा ही धर्म का ज्ञाता था ॥३॥

अग्र्यन्तपः समातिष्ठत्सहस्राक्षसमो भुवि ।
पुत्रं लभेयमजितं त्रिलोकेश्वरमित्युत ॥४॥

इसने इन्द्र के समान बड़ा उत्तम तप किया कि मेरे त्रिलोकी का स्वामी अजेय पुत्र उत्पन्न हो जावे ॥४॥

तमुग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
समर्थं पुत्रजनने स्वयमेवान्वपद्यत ॥५॥

सहस्र नेत्र धारी इन्द्र ने जब राजा कुशिक का उग्र तप देखा- तो इन्द्र ने पुत्रोत्पत्ति के निमित्त अपने को ही समर्थ देखा ॥५॥

पुत्रत्वमगमद्राजंस्तस्य लोकेश्वरेश्वरः ।
गाधिर्नामा भवत्पुत्रः कौशिकः पाकशासनः ॥६॥

हे राजन् ! लोकेश्वरों के भी ईश्वर, इन्द्र, स्वयं राजा कुशिक का पुत्र बन गया और उसका नाम गाधि प्रसिद्ध हुआ ॥६॥

तस्य कन्याऽभवद्राजन्नाम्ना सत्यवती प्रभो ।
तां गाधिर्भृगुपुत्राय सर्चीकाय ददौ प्रभुः ।७॥

हे प्रभो ! उस गाधि के सत्यवती नाम की एक कन्या थी। राजा गाधि ने उसे भृगुपुत्र ऋचीक को प्रदान किया ॥७॥

अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो ।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥१०८॥

हे विभो ! परन्तप ! तुम यह भी प्रतिज्ञा करो, कि मैं ब्राह्मणों को दण्ड नहीं दूंगा तथा जगत् में यदि वर्ण संकर होने लगे-तो मैं उनकी रक्षा करूंगा ॥१०८॥

वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान् ।
ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥१०९॥

हे राजन् ! इतना सुनकर वेन-पुत्र (पृथु) ने देव और ऋषियों से कहा-कि ब्राह्मण मेरे बड़े पूज्य होंगे । इन पुरुषश्रेष्ठोंको सर्वदा नमस्कार करता रहूंगा ॥१०९॥

एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः ।
पुरोधाश्चाभवत्तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥११०॥

जब वैन्य ने इतना कहा-तो ब्रह्मवादी महर्षियों ने कहा-बस ! अब ठीक है । इस वैन्य का पुरोहित, ब्रह्मज्ञानी, विद्या निधि शुक्राचार्य बनाए गए ॥११०॥

मन्त्रिणो वालखिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा ।
महर्षिर्भगवान्गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत् ॥१११॥
आत्मनाऽष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु ।

इसके मन्त्री बालखिल्य ऋषि हुए और सारस्वत अधिकारी गण बनाए गए । भगवान् महर्षि गर्ग, उसके ज्योतिषी बने । श्रुति ने यही प्रतिपादन किया है, कि यह विष्णु से आठवां पुरुष था ।

हे राजन! भृगुनन्दन श्रीमान ऋचीक, अपनी भार्या से इतना कहकर तप में संलग्न हुआ वन को चला गया ॥१२॥

एतस्मिन्नेव काले तु तीर्थयात्रापरो नृपः ।
गाधिः सदारः संप्राप्तः सर्चीकस्याश्रमं प्रति ॥१३॥

इसी समय तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग से राजा गाधि भी अपनी स्त्री को लेकर ऋचीक के आश्रम में चला आया ॥१३॥

चरुद्वयं गृहीत्वा च राजान्सत्यवती तदा ।
भर्तुर्वाक्यं तदाव्यग्रो मात्रे हृष्टा न्यवेदयत् ॥१४॥

हे राजन! ऋचीकपत्नी, सत्यवती, उन दोनों चरुओं को लेकर अपनी माता के पास पहुंची और बड़ी प्रसन्नता से उसने अपनी माता को अपने पति का वाक्य स्पष्ट रूप से सुनाया ॥१४॥

माता तु तस्याः कौन्तेय दुहित्रे स्वं चरुं ददौ ।
तस्याश्चरुमथाज्ञानादात्मसंस्थं चकार ह ॥१५॥

हे कौन्तेय! सत्यवती की माता ने अपना चरु तो अपनी पुत्री को दे दिया और अज्ञान से अपनी पुत्री का चरु आप खा गई ॥१५॥

अथ सत्यवती गर्भं क्षत्रियान्तकरं तदा ।
धारयामास दीप्तेन वपुषा घोरदर्शनम् ॥१६॥

इसके बाद, सत्यवती ने जो गर्भ धारण किया, वह क्षत्रियों का विनाशक था। उसके घोर लक्षण सत्यवती के प्रदीप्त शरीर से प्रकट हो रहे थे ॥१६॥

ताम्रृचीकस्तदा दृष्ट्वा तस्या गर्भगतं द्विजम् ।
अब्रवीद् भृगुशार्दूलः स्वां भार्यां देवरूपिणीम् ॥१७॥
मात्राऽसि व्यंसिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना ।
भविष्यति हि ते पुत्रः क्रूरकर्माऽत्यमर्षणः ॥१८॥
उत्पत्स्यति च ते भ्राता ब्रह्मभूतस्तपोरतः ।
विश्वं हि ब्रह्म सुमहच्चरौ तव समाहितम् ॥१९॥
क्षत्रवीर्यं च सकलं तव मात्रे समर्पितम् ।
विपर्ययेण ते भद्रे नैतदेवं भविष्यति ॥२०॥
मातुस्ते ब्राह्मणो भूयात्तव च क्षत्रियः सुतः ।

भृगुवंशश्रेष्ठ, महर्षि ऋचीक ने जब उसके गर्भ में बालक को देखा, तो वह अपनी दिव्यरूप वाली भार्या से कहने लगा—हे भद्रे ! तुमको तो अपनी माताके अज्ञानसे धोखा हो गया । तेरे गर्भसे तो बड़ा क्रूरकर्मा अत्यन्त क्रोधी पुत्र उत्पन्न होगा और जो तेरा भ्राता होगा, वह ब्रह्मज्ञानी और तपस्वी होगा । मैंने तो सारा ब्रह्मतेज तेरे चरु में रख दिया था । इसी तरह तुम्हारी माता के चरु में मैंने क्षत्रिय तेज रखा था । हे भद्रे ! इस बदलाव के कारण तुम्हारे ब्रह्मर्षि पुत्र नहीं होगा । तुम्हारी माता के गर्भ से ब्राह्मण और तुम्हारे गर्भ से क्षत्रिय पुत्र की उत्पत्ति होगी ॥१७-२०॥

सैवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा ॥२१॥
पपात शिरसा तस्मै वेपन्ती चाब्रवीदिदम् ।

जब भर्ता ऋचीक ने अपनी भार्या सत्यवती से इतना कहा-तो वह शिर के बल गिर पड़ी और कांपती २ यह वचन बोली ।

नार्होऽसि भगवन्नद्य वक्तुमेवंविधं वचः।
ब्राह्मणापसदं पुत्रं प्राप्स्यसीति हि मां प्रभो ॥२२॥

हे भगवन्! प्रभो आपको ऐसा अप्रिय वचन नहीं कहना चाहिए, कि तेरे गर्भ से ब्राह्मण धर्म से गिरा हुआ पुत्र उत्पन्न होगा ॥२२॥

ऋचीक उवाच—नैष सङ्कल्पितः कामो यया भद्रे तथा त्वयि
उग्रकर्मा समुत्पन्नश्चरुव्यत्यासहेतुना ॥२३॥

ऋचीक बोले—हे भद्रे! मैंने तो तुम्हारे ऐसा पुत्र उत्पन्न करना नहीं चाहा था। मैं क्या करूँ। यह उग्रकर्मा पुत्र उत्पन्न होना-तो उस चरु के बदल जाने के कारण से हुआ है ॥२३॥

सत्यवत्युवाच—

इच्छन् लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुन सुतम्।
शमात्मकमृजुं पुत्रं दातुमर्हसि मे प्रभो ॥२४॥

हे प्रभो! यदि आप चाहे, तो। संसार की रचना कर सकते हैं फिर एक सरल प्रकृति पुत्र का उत्पन्न कर देना तो आप को क्या बड़ी बात है। हे भगवन! आपतो मुझे शमपरायण सरल पुत्र ही प्रदान करें ॥२४॥

ऋचीक उवाच—

नोक्तपूर्वानृतं भद्रे स्वैरेष्वपि कदाचन।
किमुताग्निं समाधाय मन्त्रवच्चरुसाधने ॥२५॥

ऋचीक ने कहा—हे भद्रे ! मैंने तो मनोरञ्जन में भी कभी मिथ्या नहीं बोला। अब इस यज्ञकर्म में चरु के साधन में मिथ्या व्यवहार कैसे कर सकता हूं ॥२५॥

दृष्टमेतत्पुरा भद्रे ज्ञातं च तपसा मया।
ब्रह्मभूतं हि सकलं पितुस्तव कुलं भवेत् ॥२६॥

हे भद्रे ! यह सब कुछ मैंने पूर्व में ही देख लिया था और अब भी तप से जान लिया, कि तुम्हारे पिता का सारा कुल ब्राह्मण धर्म परायण हो जावेगा ॥२६॥

सत्यवत्युवाच—

काममेवं भवेत्पौत्रो ममेह तव च प्रभो।
शमात्मकमहं पुत्रं लभेयं जयतां वर ॥२७॥

सत्यवती बोली—हे प्रभो ! यदि ऐसा ही है-तो मेरा पौत्र ऐसा हो जावे। हे जयतांवर ! पुत्र तो मेरा शमपरायण ही होना चाहिए ॥२७॥

ऋचीक उवाच—

पुत्रे नास्ति विशेषो मे पौत्रे च वरवर्णिनि।
यथा त्वयोक्तं वचनं तथा भद्रे भविष्यति ॥२८॥

ऋचीक ने कहा—हे वरवर्णिनि ! पुत्र और पौत्र में तो मुझे कोई विशेषता (फर्क़) दिखाई नहीं देती। हे भद्रे ! जो तुमने अभिलाषा प्रकट की है, वह उसी तरह पूरी हो जावेगी ॥२८॥

वासुदेव उवाच—

ततः सत्यव्रती पुत्रं जनयामास भार्गवम् ।
तपस्यभिरतं शान्तं जमदग्नि यतव्रतम् ॥२६॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन् ! इसके बाद सत्यवती के गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति हुई, जो व्रतशील, तपपरायण और शान्तप्रकृति था। उसका नाम जमदग्नि प्रसिद्ध है ॥२६॥

विश्वामित्रं च दायादं गाधिः कुशिकनन्दनः ।
यः प्राप ब्रह्मसमितं विश्वैर्ब्रह्मगुणैर्युतम् ॥३०॥

कुशिक-नन्दन गाधि के विश्वामित्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सारे ब्राह्मणों के गुणों से युक्त एक पवित्र ब्राह्मण के सदृश था।

ऋचीको जनयामास जमदग्निं तपोनिधिम् ।
सोऽपि पुत्रं ह्यजनयज्जमदग्निः सुदारुणम् ॥३१॥

ऋचीक के वरदान से तपोनिधि जमदग्नि-पुत्र की उत्पत्ति हुई। जमदग्नि के आगे चल कर दारुण-प्रकृति-पुत्र की उत्पत्ति हुई ॥३१॥

सर्वविद्यां गतं श्रेष्ठं धनुर्वेदस्य पारगम् ।
रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥३२॥

इस पुत्र ने सारी विद्या प्राप्त की। धनुर्वेद का तो यह पारगामी विद्वान् था। क्षत्रियों का हनन करने वाला, यह राम नामक पुत्र प्रज्वलित अग्नि की भांति देदीप्यमान रहता था ॥३२॥

तोषयित्वा महादेवं पर्वते गन्धमादने ।
अस्त्राणि वरयामास परशुं चातितेजसम् ॥२३॥

इस राम नामक जमदग्नि के पुत्र ने गन्धमादन पर्वत पर महादेव की आराधना की। जब महादेव जी प्रसन्न हो गए तो उनसे बड़े २ अस्त्र और अत्यन्त तेजोयुक्त एक परशु की प्राप्ति की ॥२३॥

स तेनाकुण्ठधारेण ज्वलितानलवर्चसा ।
कुठारेणाप्रमेयेण लोकेष्वप्रतिमोऽभवत् ॥२४॥

परशुराम, प्रचण्ड अग्नि के समान प्रज्वलित, कहीं नहीं रुकने वाले, इस तीक्ष्ण धार वाले कुल्हाड़े से सब देशों में अद्वितीय वीर, माने गये ॥२४॥

एतस्मिन्नेव काले तु कृतवीर्यात्मजो बली ।
अर्जुनो नाम तेजस्वी क्षत्रियो हैहयाधिपः ॥२५॥
दत्तात्रेयप्रसादेन राजा बाहुसहस्रवान् ।

इसी समय में कृतवीर्य राजा का पुत्र महाबली अत्यन्त तेजस्वी अर्जुन नामक राजा हैहय वंशी क्षत्रियों पर शासन कर रहा था। महामुनि दत्तात्रेय के वरदान से उसके सहस्र भुजा, उत्पन्न हो गई थीं ॥२५॥

चक्रवर्ती महातेजा विप्राणामाश्वमेधिके ॥२६॥
ददौ स पृथिवीं सर्वां सप्तद्वीपां सपर्वताम् ।
स्वबाहुस्त्रबलेनाजौ जित्वा परमधर्मवित् ॥२७॥

यह महातेजस्वी कार्तवीर्यार्जुन, चक्रवर्ती राजा था। इसने अश्वमेध यज्ञ में सप्तद्वीप और पर्वतों से युक्त सारी पृथिवी को दान में दे डाला था। परम धर्म के ज्ञाता इस राजा ने अपने बाहु और अस्त्र के बल से इस सारी पृथिवी को जीता था ॥३६-३७॥

तृषितेन च कौन्तेय भिक्षितश्चित्रभानुना ।
सहस्रबाहुर्विक्रान्तः प्रादाद्भिक्षामथाग्नये ॥३८॥
ग्रामान्पुराणि राष्ट्राणि घोषांश्चैव तु वीर्यवान् ।
जज्वाल तस्य बाणाग्राच्चित्रभानुर्दिधक्षया ॥३९॥

हे कौन्तेय! एक बार प्यासे अग्नि ने महापराक्रमी सहस्र बाहु से भिक्षा मांगी-तो उसने अग्नि को भिक्षा प्रदान की। उस महावीर्यवान, राजा ने अग्नि को ग्राम पुर राष्ट्र और घोष, सब कुछ प्रदान कर दिए। अब वह अग्नि, जगत् के जलाने की इच्छा से उसके बाण के अग्र भाग पर स्थित हो गया ॥३८-३९॥

स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेण महौजसः ।
ददाह कार्त्तवीर्यस्य शैलानथ वनस्पतीन् ॥४०॥

उस महाओजस्वी पुरुषप्रवीर सहस्र बाहु के प्रभाव से अग्नि, पर्वत और वन को भस्म करने लगा ॥४०॥

स शून्यमाश्रमं रम्यमापवस्य महात्मनः ।
ददाह पवनेनेद्धश्चित्रभानुः सहैहयः ॥४१॥

अब राजा सहस्र बाहु के साथ पवन से वृद्धि पाकर अग्नि ने एक दिन, वसिष्ठ मुनि के शून्य आश्रम को भी जा दग्ध किया।

आपवस्तु ततो रोषाच्छशापार्जुनमच्युत ।
दग्धेऽऽश्रमे महाबाहो कार्तवीर्येण वीर्यवान् ॥४२॥

हे अच्युत ! महाबाहो ! जब कार्तवीर्याजुन ने वसिष्ठ का आश्रम दग्ध कर दिया-तो महापराक्रमी वसिष्ठ मुनि क्रोध से जल उठे और उन्होंने राजा सहस्र बाहु को शाप दे डाला ॥४२॥

त्वया न वर्जितं यस्मान्ममेदं हि महद्वनम् ।
दग्धं तस्माद्रणे रामो बाहूंस्ते छेत्स्यतेऽर्जुन ॥४३॥

हे अर्जुन ! तुमने मेरे इस उपवन की रक्षा न की और इसे भी भस्म कर डाला-इससे तेरी भुजाओं का छेदन रण में परशुराम करेगा ॥४३॥

अर्जुनस्तु महातेजा बली नित्यं शमात्मकः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च दाता शूरश्च भारत ॥४४॥
नाचिन्तयत्तदा शापं तेन दत्तं महात्मना ।

महातेजस्वी महाबली, कार्तवीर्याजुन तो शान्ति से काम लेता था। हे भारत ! वह तो ब्राह्मणों का रक्षक, शरण दाता, दानी और शूर था। उसने महात्मा वसिष्ठ के शाप की कुछ भी चिन्ता (परवा) न की ॥४४॥

तस्य पुत्रास्तु बलिनः शापेनासन्पितुर्वधे ॥४५॥
निमित्तादवलिप्ता वै नृशंसाश्चैव सर्वदा ।

राजा सहस्रबाहु के पुत्र बड़े बली और ऐश्वर्य के कारण बड़े मदोन्मत्त थे। वे ही अपने पिता के वध के कारण होगए। वे सर्वदा नीचता—पूर्ण कर्मों में लगे रहते थे ॥४५॥

जमदग्निधेन्वास्ते वत्समानीन्युर्भरतर्पभ ॥४६॥
अज्ञातं कार्तवीर्येण हैहयेन्द्रेण धीमता ।

हे भरतर्पभ ! एक दिन वे पुत्र, जमदग्नि की धेनु के बछड़े को घेर लाए और इस बात का बुद्धिमान् हैहयाधिपति, राजा सहस्रबाहु को कुछ पता भी न हुआ ॥४६॥

तन्निमित्तमभूद्युद्धं जामदग्नेर्महात्मना ॥४७॥
ततोऽर्जुनस्य बाहूंस्तांश्छित्त्वा रामो रुपान्वितः ।

महाबली अर्जुन के साथ इसी कारण से महामुनि जमदग्नि का युद्ध छिड़ गया। क्रोध में भर कर परशुराम ने सहस्रबाहु की वे भुजाएँ काट डालीं ॥४७॥

तं भ्रमन्तं ततो वत्सं जामदग्न्यः स्वमाश्रमम् ॥४८॥
प्रत्यानयत राजेन्द्र तेषामन्तः पुरात्प्रभुः ।

हे राजेन्द्र ! जमदग्नि-पुत्र महाबली परशुराम, अन्तःपुर में घूमते हुए अपने बछड़े को वहां से अपने आश्रम में ले आए ॥४८

अर्जुनस्य सुतास्ते तु संभूयाबुद्धयस्तदा ॥४९॥
गत्वाऽऽश्रममसंबुद्धा जमदग्नेर्महात्मनः ।
अपातयन्त भल्लाग्रैः शिरः कायान्नराधिप ॥५०॥
समित्कुशार्थं रामस्य निर्यातस्य यशस्विनः ।

राजा सहस्रबाहु के वे मूर्ख पुत्र इकट्ठे हुए और वे महात्मा जमदग्नि के आश्रम में पहुंचे। उनको इस कर्म के परिणाम का कुछ भी ध्यान नहीं था। हे नराधिप ! उन्होंने अपने भल्लसंज्ञक

शर के अग्र भाग से महर्षि जमदग्नि का शिर शरीर से पृथक् कर दिया। इस समय महायशस्वी परशुराम, समिधा और कुशा लेने बाहर गए हुए थे ॥४६-५०॥

ततः पितृवधामर्षाद्रामः परममन्युमान् ॥५१॥
निःक्षत्रियां प्रतिश्रुत्य महीं शस्त्रमगृह्णात ।

अत्यन्त क्रोधपरायण परशुराम अपने पिता के वध से प्रज्वलित हो उठे। उसने क्षत्रियहीन पृथिवी करने की प्रतिज्ञा करके शस्त्र उठाया ॥५१॥

ततः स भृगुशार्दूलः कार्तवीर्यस्य वीर्यवान् ॥५२॥
विक्रम्य निजघानाशु पुत्रान्पौत्रांश्च सर्वशः ।

अब भृगुवंशश्रेष्ठ, महाबली परशुराम ने आक्रमण किया और पराक्रम करके राजा सहस्रबाहु के पुत्र और पौत्रों को मार गिराया ॥५२॥

स हैहयसहस्राणि हत्वा परममन्युमान् ॥५३॥
चकार भार्गवो राजन्महीं शोणितकर्दमाम् ।

हे राजन्! अत्यन्त क्रोधी भृगुवंशश्रेष्ठ राम ने सहस्रों हैहय वीर मार गिराए और पृथिवी पर रक्त की कीचड़ मचा दी ॥५३॥

स तथाऽऽशु महातेजाः कृत्वा निःक्षत्रियां महीम् ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो वनमेव जगाम ह ।

हे राजन्! महातेजस्वी परशुराम ने इस तरह प्रथम निःक्षत्रिय पृथिवी कर दी। इसके बाद उसे इससे बड़ी विरक्ति हुई और वह वन को चला गया ॥५४॥

ततो वर्षसहस्रेषु समतीतेषु केषुचित् ॥५५॥
क्षेपं संप्राप्तवांस्तत्र प्रकृत्या कोपनः प्रभुः।
विश्वामित्रस्य पौत्रस्तु रैभ्यपुत्रो महातपाः ॥५६॥
परावसुर्महाराज क्षिप्त्वाऽऽह जनसंसदि।
ये ते ययातिपतने यज्ञे सन्तः समागताः ॥५६॥
प्रतर्दनप्रभृतयो राम किं क्षत्रिया न ते।
मिथ्याप्रतिज्ञो राम त्वं कत्थसे जनसंसदि।
भयात्क्षत्रियवीराणां पर्वतं समुपाश्रितः ॥५८॥

हे महाराज! इसके बाद परशुराम को तपस्या करते २ सहस्रों वर्ष व्यतीत हो गए-उस समय स्वभाव से ही कोप की प्रकृति रखने वाले परशुराम पर विश्वामित्र के पौत्र रैभ्य-पुत्र, महा-तपस्वी परावसु ने सभा में आक्षेप करके कहा-हे राम! ययाति के पतन के समय जो यज्ञ हुआ और उसमें जो सज्जनों का समागम हुआ-तो वहां जो प्रतर्दन आदि क्षत्रिय उपस्थित थे, तो क्या वे क्षत्रिय नहीं थे। हे राम! तुम अपनी प्रतिज्ञा को पूरी नहीं कर सके। तुम तो क्षत्रियों के भय से ही पर्वत पर जाकर छुपे मालूम होते हो। तुम देखते नहीं हो पृथिवी तो अनेकों क्षत्रियों से भरी पड़ी है ॥५५-५६॥

सा पुनः क्षत्रियशतैः पृथिवी सर्वतः स्तृता ।
परावसोर्वचः श्रुत्वा शस्त्रं जग्राह भार्गवः ॥६०॥
ततो ये क्षत्रिया राजन् शतशस्तेन वर्जिताः ।
ते विवृद्धा महावीर्याः पृथिवीपतयोऽभवन् ॥६१॥
स पुनस्तान् जघानाशु बालानपि नराधिप ।
गर्भस्थैस्तु मही व्याप्ता पुनरेवाभवत्तदा ॥६२॥

परावसु के ये वचन सुनकर भृगुवंशोद्भव परशुराम ने फिर शस्त्र उठाए। हे राजन् ! उस समय जो सैंकड़ों क्षत्रिय बचे हुए थे और बढ़ करके राजा बन गए थे। हे नराधिप ! परशुराम ने फिर उन सारे क्षत्रियों को मार दिया और उनके बच्चे भी मार डाले। इसके बाद गर्भ के बालकों के उत्पन्न होने पर फिर पृथिवी क्षत्रियों से भर गई ॥६०-६२।

जातं जातं स गर्भं तु पुनरेव जघान ह ।
अरक्षंश्च सुतान् कांश्चित्तदा क्षत्रिययोषितः ॥६३॥

जब २ गर्भ से पुत्र उत्पन्न होता-परशुराम उसे तब ही मार गिराते। उस समय क्षत्रिय वनिताओं ने किसी प्रकार कुछ पुत्रों की रक्षा कर ली ॥६३॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत्ततः ॥६४॥

इस प्रकार परशुराम ने इक्कीस बार पृथिवी निःक्षत्रिय कर दी। इसके बाद अश्वमेध यज्ञ किया और उसमें सारी पृथिवी को कश्यप के लिए दान में दे दी ॥६४॥

स क्षत्रियाणां शेषार्थं करेणोद्दिश्य कश्यपः ।
स्रुक्प्रग्रहवता राजंस्ततो वाक्यमथाब्रवीत् ॥६५॥

हे राजन् ! जब परशुराम ने सारी पृथिवी दान में दे दी तो स्रुक् ग्रहण किये हुए हाथ को उठाकर कश्यप ने क्षत्रियों की रक्षा के निमित्त यह वचन कहा ॥६५॥

गच्छ तीरं समुद्रस्य दक्षिणस्य महामुने ।
न ते मद्विषये राम वस्तव्यमिह कर्हिचित् ॥६६॥

हे महामुने ! अब तुम दक्षिण समुद्र के तीर पर चले जाओ। हे राम ! तुमको अब मेरे देश में निवास नहीं करना चाहिए।

ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्ममे ।
सहसा जामदग्न्यस्य सोपरान्तमहीतलम् ॥६७॥

समुद्र ने जमदग्नि-पुत्र परशुराम के निमित्त शूर्पारक देश की रचना पृथिवी की सीमा छोड़ कर कर रखी थी ॥६७॥

कश्यपस्तां महाराज प्रतिगृह्य वसुन्धराम् ।
कृत्वा ब्राह्मणसंस्थां वै प्रविष्टः सुमहद्वनम् ॥६८॥

हे महाराज ! कश्यप ने भी पृथिवी को दान में लेकर ब्राह्मणों को दान में दे डाली और आप घोर वन में चला गया ॥६८॥

ततः शूद्राश्च वैश्याश्च यथा स्वैरप्रचारिणः ।
अवर्तन्त द्विजाग्र्याणां दारेषु भरतर्षभ ॥६९॥

हे भरतर्षभ । जब कोई भी राजा न रहा तो शूद्र और वैश्य उच्छृङ्खल हो गए और द्विजों की स्त्रियों से व्यभिचार करने लगे।

अराजके जीवलोके दुर्बला बलवत्तरैः ।
पीड्यन्ते न हि विप्रेषु प्रभुत्वं कस्यचित्तदा ॥७०॥
ततः कालेन पृथिवी पीड्यमाना दुरात्मभिः ।
विपर्ययेण तेनाशु प्रविवेश रसातलम् ॥७१॥

सारा संसार राजा हीन हो गया। बलवान दुर्बलों को पीड़ित करने लगे। इस समय ब्राह्मणों में किसी का भी शासन नहीं था। लोगों ने सारी पृथिवी को पीड़ित कर डाला। जिससे पृथिवी शीघ्र रसातल में प्रविष्ट होने लगी ॥७१॥

अरक्ष्यमाणा विधिवत्क्षत्रियैर्धर्मरक्षिभिः ।
तां दृष्ट्वा द्रवतीं तत्र संत्रासात्स महामनाः ॥७२॥
ऊरुणा धारयामास कश्यपः पृथिवी ततः ।
धृता तेनोरुणा येन तेनोर्वीति मही स्मृता ॥७३।

हे राजन् ! विधिपूर्वक धर्म की रक्षा करने वाले, क्षत्रियों के बिना पृथिवी अरक्षित हो गई। भयभीत होकर पृथिवी को रसातल की ओर खसकती देखकर महामनस्वी कश्यप ने उसे अपनी जंघा पर धारण किया। कश्यप ने इस पृथिवी को ऊरु पर धारण किया, जिससे उसका नाम उर्वी पड़ा ॥७३॥

रक्षणार्थं समुद्दिश्य ययाचे पृथिवीं तदा ।
प्रसाद्य कश्यपं देवी वरयामास भूमिपम् ॥७४॥

हे राजन् ! अपनी रक्षा के उद्देश्य से पृथिवी ने कश्यप को प्रसन्न करके यह याचना की, कि उसकी रक्षा के लिये वह किसी राजा को नियत करे ॥७४॥

पृथिव्युवाच—

सन्ति ब्रह्मन्मया गुप्ताः स्त्रीषु क्षत्रियपुङ्गवाः ।
हैहयानां कुले जातास्ते संरक्षन्तु मां मुने ॥७५॥

पृथिवी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैंने बहुत से क्षत्रिय वीरों को स्त्रियों में सुरक्षित कर रखा है । हे मुने ! वे हैहय वंशी क्षत्रिय हैं, उन्हें मेरी रक्षा के लिये नियत कर देना चाहिए ॥७५॥

अस्ति पौरवदायादो विदूरथसुतः प्रभो ।
ऋक्षैः संवर्धितो विप्र ऋक्षवत्यथ पर्वते ॥७६॥

हे प्रभो ! पौरववंशोद्भव विदूरथका पुत्र रीछों से सुरक्षित होकर ऋक्षवान् पर्वत पर निवास करता है ॥७६॥

यथाऽनुकम्पमानेन यज्वनाऽथामितौजसा ।
पराशरेण दायादः सौदासस्याभिरक्षितः ॥७७॥

सौदास के पुत्र की अत्यन्त तेजस्वी यज्ञ करने वाले कृपालु पराशर ने रक्षा कर रखी है ॥७७॥

सर्वकर्माणि कुरुते शूद्रवत्तस्य स द्विजः ।
सर्वकर्मेत्यभिख्यातः स मां रक्षतु पार्थिवः ॥७८॥

यह राजा शूद्र की तरह सब कुछ कर्म कर लेता है । इससे वह पराशर इसको सर्वकर्मा नाम से पुकारता है । इसको मेरा राजा नियत करो ॥७८॥

शिबिपुत्रो महातेजाः गोपतिर्नाम नामतः ।
वने संवर्धितो गोभिः सोऽभिरक्षतु मां मुने ॥७९॥

तं साक्षात्पृथिवी भेजे रत्नान्यादाय पाण्डव ॥११७॥
सागरः सरितां भर्ता हिमवांश्चाचलोत्तमः ।

हे पाण्डव ! इस राजा पृथु की सेना सारे रत्नों को लेकर पृथिवी को भरने लगी । नदीपति समुद्र, पर्वतोत्तम हिमालय भी इसकी सेवा में तत्पर हुआ ॥११७॥

शक्रश्च धनमक्षय्यं प्रादात्तस्मै युधिष्ठिर ॥११८॥
रुक्मं चापि महामेरुः स्वयं कनकपर्वतः ।

हे युधिष्ठिर ! इस राजा पृथु को इन्द्र ने अक्षय धन प्रदान किया तथा सुवर्ण के बने हुए मेरु पर्वत ने उसे सुवर्ण प्रदान कर दिया ॥११८॥

यक्षराक्षसभर्ता च भगवान्नरवाहनः ॥११९॥
धर्मे चार्थे च कामे च समर्थं प्रददौ धनम् ।

यक्ष राक्षसों के भर्ता, भगवान् नर वाहन कुबेर ने धर्म, अर्थ और काम के सम्पन्न करने वाले बहुत से धन को राजा पृथु के लिए प्रदान किया ॥११९॥

हया रथाश्च नागाश्च कोटिशः पुरुषास्तथा ॥१२०॥
प्रादुर्बभूवुर्वैन्यस्य चिन्तनादेव पाण्डव ।

हे पाण्डव ! राजा पृथु के चिन्तन करते ही अश्व, रथ, हाथी और करोड़ों सैनिक पुरुष बात की बात में उत्पन्न हो जाते थे ।

इस प्रकार क्षत्रियवीर राजपुत्र जहां तहां सुने जाते हैं। बहुत से क्षत्रिय लुहार सुनार आदि की जाति में घुस पड़े हैं ॥८४॥

यदि मामभिरक्षन्ति ततः स्थास्यामि निश्चला ।
एतेषां पितरश्चैव तथैव च पितामहाः ॥८५॥
मदर्थं निहता युद्धे रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
तेषामपचितिश्चैव मया कार्या महामुने ।८६॥
न ह्यहं कामये नित्यमतिक्रान्तेन रक्षणम् ।
वर्तमानेन वर्तेयं तत्क्षिप्रं संविधीयताम् ॥८७॥

यदि वे लोग मेरी रक्षा करें तो मैं निश्चल होकर स्थित हो सकता हूँ। इन क्षत्रियों के पूर्वज पिता पितामह आदि मेरे निमित्त युद्ध करते २ ही महापराक्रमी परशुराम द्वारा मारे गए हैं। हे महा मुने! मुझे भी उन क्षत्रिय वंशों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। मैं किसी अन्य क्षत्रिय वंश से अपनी रक्षा नहीं चाहती हूँ। मैं तो उनहीं राजाओं के वंशजों से अपनी रक्षा चाहती हूँ। आप इसका शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न करें ॥८६-८७॥

वासुदेव उवाच—

ततः पृथिव्या निर्दिष्टांस्तान्समानीय कश्यपः ।
अभ्यषिञ्चन्महीपालान्क्षत्रियान्वीर्यसंमतान् ॥८८॥

श्रीकृष्णने कहा—हे राजन्! इस प्रकार पृथिवी द्वारा सूचित किये हुए महापराक्रमी क्षत्रिय राजाओं को लाकर कश्यप ने राज पद पर अभिषिक्त किया ॥८८॥

इस समय यह राजा, विष्णु के महत्व से सम्पन्न होता है। इसमें बड़ी सूक्ष्म बुद्धि होती है और यह बड़े ऐश्वर्य के साथ उत्पन्न होता है ॥१३३-१३४॥

स्थापितं च ततो देवैर्न कश्चिदतिवर्तते ॥
तिष्ठत्येकस्य च वशे तं चेदं न विधीयते ॥१३५॥

देवों ने राजा की स्थापना की है, इसीसे उसकी आज्ञा का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता है। इसी एक राजा के वश में यह सारा जगत् स्थित होता है और यह उसके बिना कुछ भी नहीं कर सकता है ॥१३५॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते ।
तुल्यस्यैकस्य यस्यायं लोको वचसि तिष्ठते ॥१३६॥

हे राजेन्द्र ! शुभ कर्म तो शुभ परिणाम के लिए होता है। राजा और प्रजा के मनुष्यों का आकार एक सा ही है, परन्तु राजा की आज्ञा में यह सारा जगत् स्थित होता है, यह कर्म का ही महत्व है ॥१३६॥

योऽस्य वै मुखमद्राक्षीत्सौम्यं सोऽस्य वशानुगः ।
सुभगं चार्थवन्तं च रूपवन्तं च पश्यति ॥१३७॥

जो मनुष्य राजा के तेजस्वी मुख को देखता है, वह उसके वश में होता चला जाता है। जो सुन्दर, कान्तिधारी, तेजोयुक्त राजा के स्वरूप को देखता है, वह उसके प्रभाव में आता है—इसमें कोई मतभेद नहीं है ॥१३७॥

पचासवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततो रामस्य तत्कर्म श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
विस्मयं परमं गत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजसत्तम ! जमदग्नि पुत्र परशुराम के इस भीषण कर्म को सुनकर राजा युधिष्ठिर को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह जनार्दन कृष्ण से इस प्रकार कहने लगा ॥१॥

अहो रामस्य वार्ष्णेय शक्रस्येव महात्मनः ।
विक्रमो वसुधा येन क्रोधान्निःक्षत्रिया कृता ॥२॥

हे ! वार्ष्णेय ! इन्द्र के समान महाबली परशुराम का पराक्रम बहुत ही आश्चर्य जनक है । जिसने अपने क्रोध को शान्त करने के निमित्त पृथिवी को क्षत्रियों से हीन कर दिया ॥२॥

गोभिः समुद्रेण तथा गोलांगूलर्क्षवानरैः ।
गुप्ता रामभयोद्विग्ना क्षत्रियाणां कुलोद्वहाः ॥३॥

गौ, समुद्र, लंगूर, रीछ, और वानरों के साथ बड़े २ क्षत्रिय कुल के वीर परशुराम के भय से अपने प्राण बचा पाए हैं ॥३॥

अहो धन्यो नृलोकोऽयं सभाग्याश्च नरा भुवि ।
यत्र कर्मेदृशं धर्म्यं द्विजेन कृतमित्युत ॥४॥

यह संसार धन्य है और इस पृथिवी पर रहने वाले मनुष्य भी धन्य हैं, जहां पर परशुराम जैसे ब्राह्मण ने ऐसा वीर कर्म कर दिखाया ॥४॥

का राजा परित्याग कर दे। हे पितामह! किसी आपत्ति में राजा किस पर विश्वास करे और किन २ बातों से राजा अपने आपको अच्छी तरह बचाता रहे ॥४-५॥

भीष्म उवाच--नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥६॥

भीष्म ने कहा--मैं महान स्वरूपधारी धर्म और सब कुछ रचना कर देने वाले श्रीकृष्ण को नमस्कार करता हूँ। अब मैं ब्राह्मणों को प्रणाम करके सनातन धर्मों का वर्णन करता हूं ॥६॥

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा ।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥७॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ।
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम् ॥८॥

क्रोधाभाव, सत्यवचन, दायभागदान, क्षमा, अपनी स्त्रियों में संभोग, शौच, अद्रोह, सरलता, भृत्यों का भरण पोषण--ये नौ धर्म सारे वर्णों के साधारण माने गए हैं। अब मैं प्रथम ब्राह्मणों के जो धर्म हैं, उनका वर्णन करता हूँ ॥७-८॥

दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥९॥

हे महाराज! ब्राह्मणों का सर्वश्रेष्ठ धर्म, मन और इन्द्रियों का वश में रखना है। वेद का स्वाध्याय उसका अहर्निश अभ्यास करते रहना, ब्राह्मण का धर्म है। इतने संक्षेप में ही ब्राह्मण के सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं ॥९॥

त्यों ही वे रथों से उतर पड़े और अपने चञ्चल मन और इन्द्रियों को नियमित कर उन मुनियों के सन्मुख उपस्थित हुए ॥८-९॥

अभिवाद्य तु गोविन्दः सात्यकिस्ते च पार्थिवाः
व्यासादीनृषिमुख्यांश्च गाङ्गेयमुपतस्थिरे ॥१०॥

श्रीकृष्ण सात्यकि तथा अन्य राजाओं ने वेद व्यास आदि उन श्रेष्ठ ऋषियों को प्रणाम किया और वे फिर उनके समीप में बैठ गए ॥१०॥

ततो वृद्धं तथा दृष्ट्वा गाङ्गेयं यदुकौरवाः ।
परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ॥११॥

यदु और कौरववंश के पुरुषप्रवीर, गङ्गापुत्र वृद्ध भीष्म को देखकर उसको चारों से घेर कर बैठ गए ॥११॥

ततो निशाम्य गाङ्गेयं शाम्यमानमिवानलम् ।
किञ्चिद्दीनमना भीष्ममिति होवाच केशवः ॥१२॥

बुझते हुए अग्नि के सदृश भीष्म पितामह को देखकर कुछ दीनमन होकर श्रीकृष्ण भीष्म से यह वचन बोले ॥१२॥

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा ।
कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर ॥१३॥

हे वदतांवर ! भीष्म आपके हृदय में पूर्वकाल के समान ज्ञान का प्रकाश तो चमक रहा होगा । आपकी बुद्धि में तो किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं आई है ॥१३॥

शराभिघातदुःखार्त्ते कच्चिद्गात्रं न दूयते।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम् ॥१४॥

इन बाणों के आघात के दुःख से आपके शरीर में तो पीड़ा नहीं है। मनुष्य को मानसिक दुःख से शारीरिक दुःख अधिक क्लेश पहुँचाता है ॥१४॥

वरदानात्पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो।
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य न त्वेतन्मम कारणम् ॥१५॥

हे प्रभो! तुमने अपने पिता धर्मपरायण शान्तनु के वरदान से इच्छानुकूल मृत्यु प्राप्त की है। जो बात मुझे भी प्राप्त नहीं हो सकी है ॥१५॥

सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम्।
किं पुनः शरसङ्घातैश्चितस्य तव पार्थिव ॥१६॥

हे क्षत्रियवीर! देह में तनिकसा कांटा भी पीड़ा खड़ी कर देता है। फिर बाणसमूह से व्याप्त हुए तुम्हारे शरीर की पीड़ा का तो क्या ठिकाना होगा ॥१६॥

कामं नैतत्तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ।
उपदेष्टुं भवाञ्शक्तो देवानामपि भारत ॥१७॥

हे भारत! साधारण प्राणियों के होने वाले जन्म मरण के क्लेश आपको सम्भव नहीं है। आप तो इतने ज्ञानी हैं, कि देवों को भी उपदेश देने में समर्थ हैं ॥१७॥

यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम् ॥१८॥

हे पुरुषर्षभ ! भीष्म ! भूत भविष्य और वर्तमान का ज्ञान, ज्ञानवृद्ध आपके हृदय में ज्यों का त्यों प्रकाशित होता रहता है।

संहारश्चैव भूतानां धर्मस्य च फलोदयः।
विदितस्ते महाप्राज्ञ त्वं हि धर्ममयो निधिः ॥१९॥

हे महाप्राज्ञ ! प्राणियों के संहार और धर्म के फल का उदय आपको सब कुछ विदित है, क्योंकि आप धर्म के अद्भुत निधि हैं ॥१९॥

त्वां हि राज्ये स्थितं स्फीते समग्राङ्गमरोगिणम्।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतं पश्यामीनोर्ध्वरेतसम् ॥२०॥

हे भीष्म ! आप इस विशाल राज्य का प्रबन्ध करते थे। आपको न तो कोई रोग था और न लिङ्ग आदि किसी अङ्ग का छेद था। इतने पर भी सहस्रों स्त्रियों में स्थित होने पर भी तुम अखंड ब्रह्मचारी ही बने रहते थे ॥२०॥

ऋते शान्तनवाद्भीष्मात्त्रिषु लोकेषु पार्थिव।
सत्वधर्मान्महावीर्याच्छूराद्धर्मैकतत्परात् ॥२१॥
मृत्युमावार्य तपसा शरसंस्तरशायिनः।
निसर्गप्रभवं किञ्चिन्न च तातानुशुश्रुम ॥२२॥

ध्ययन कर सकता है, परन्तु वह वेदाध्यापक नहीं बन सकता। क्षत्रिय का कार्य तो प्रजा का पालन मात्र है। यह नित्य उद्योग के साथ चोर लुटेरों के नाश में लगा रहे और जब रण उपस्थित हो, तो उसमें पराक्रम दिखावे॥१३-१४॥

ये तु क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपाः।
य एवाहवजेतारस्त एषां लोकजित्तमाः ॥१५॥

जो राजा यज्ञ करते रहते हैं और वेद के पढ़ने तथा जो युद्ध के जीतने वाले हैं, वे ही लोक के विजेता हो सकते हैं॥१५॥

अविक्षतेन देहेन समराद्यो निवर्तते।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥१६॥

जो क्षत्रिय समराङ्गण में जाकर भी अक्षत-देह लौट आवे, वीर क्षत्रिय उसके इस कर्म की प्रशंसा नहीं करते हैं॥१६॥

एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः।
नास्य कृत्यतमं किञ्चिदन्यद्दस्युनिबर्हणात् ॥१६॥

ये क्षत्रिय श्रेष्ठों के प्रधानता से मार्ग माने गए हैं। क्षत्रिय का तो दस्यु वध के सिवा अन्य कोई भी कार्य नहीं है॥१७॥

दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ॥१७॥

दान, अध्ययन और यज्ञ-ये तीन राजाओं के कल्याण करने वाले माने गए हैं। धर्म के इच्छुक राजाओं को यह सोच कर सर्वदा युद्ध के लिए विशेष रीति से उद्यत रहना चाहिए ॥१८॥

अहं च त्वाऽभिजानामि यस्त्वं पुरुषसत्तम ।
त्रिदशेष्वपि विख्यातस्त्वं शक्त्या पुरुषोत्तमः ॥२७॥

हे पुरुषसत्तम, जो तुम हो—उसे मैं जानता हूँ। तुम पुरुष होकर भी देवों में पराक्रमी विख्यात हो ॥२७॥

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः ।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥२८॥

मनुष्येन्द्र हे ! पृथिवी के ऊपर आपके गुणों से युक्त, कोई पुरुष, न तो कहीं देखा है और न कहीं सुना है ॥२८॥

त्वं हि सर्वगुणै राजन्देवानप्यतिरिच्यसे ।
तपसा हि भवाञ्शक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान् ॥२९॥
किं पुनश्चात्मनो लोकानुत्तमानुत्तमैर्गुणैः ।

हे राजन ! तुम तो अपने गुणों से देवों का भी उल्लंघन कर लेते हो। आप तप से अन्य भी चराचर लोकों की सृष्टि कर सकते हो। फिर गुणों में उत्तम अपने अन्य लोकों की रचना क्या बड़ी बात है ॥२८॥

तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेन वै ॥३०॥
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद ।

हे भीष्म ! आज अपने बन्धु बान्धवों के विनाश से पाण्डु पुत्र धर्मराज संतप्त हो रहे हैं। आप इनके शोक को शान्त कीजिये ॥३०॥

ये हि धर्माः समाख्याता चातुर्वर्ण्यस्य भारत ॥३१।
चातुराश्रम्यसंयुक्ताः सर्वे ते विदितास्तव ।

हे भारत ! जो चारों वर्ण कहे हैं तथा जो चारों आश्रमों के धर्म हैं, वे सब आपको विदित हैं ॥३१॥

चातुर्विधे च ये प्रोक्ताश्चातुर्होत्रे च भारत ॥३२॥
योगे सांख्ये च नियता ये च धर्माः सनातनाः ।

हे भारत ! चतुर्विश्च और चतुर्होत्र (शास्त्र विशेष) योग और सांख्य में जो सनातन धर्म हैं, वे तुमको सब विदित हैं ॥३२॥

चातुर्वर्ण्यस्य यश्चोक्तो धर्मो न स्म विरुध्यते ॥३३॥
सेव्यमानः सवैयाख्यो गाङ्गेय विदितस्तव ।

हे गाङ्गेय ! चारों वर्णों के धर्मों के जो धर्म विरुद्ध नहीं हैं, आपने उन सब का सेवन कर रखा है, आप उनकी व्याख्या भी जानते हो । तुम से कुछ अविदित नहीं है ॥३३॥

प्रतिलोमप्रसूतानां वर्णानां चैव यः स्मृतः ॥३४॥
देशजातिकुलानां च जानीषे धर्मलक्षणम् ।

इसी तरह प्रतिलोम की रीति से उत्पन्न हुए वर्णों के धर्म तथा देश, जाति और कुलों के धर्म के लक्षणों को भी तुम अच्छी तरह समझते हो ॥३४॥

वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव ॥३५॥
इतिहासपुराणार्थाः कार्त्स्न्येन विदितास्तव ।
धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम् ॥३६॥

वेदोक्त तथा श्रेष्ठपुरुषों से कहे हुए धर्म का आपको पूर्ण ज्ञान है तथा इतिहास और पुराण का सारा ज्ञान तुम से छुपा हुआ नहीं है। इसी तरह सारा धर्मशास्त्र भी तुम्हारे मन में सर्वदा स्थिर रहता है ॥३५-३६॥

ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥३७॥

हे पुरुषर्षभ ! इस लोक में जितने भी संशय जनक विषय हैं—उनके निवारण करने में तुम से अधिक अन्य कोई पुरुष नहीं है ॥३७॥

स पाण्डवेयस्य मनः समुत्थितं नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा विमुह्यमानस्य नरस्य शान्तये ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

हे नरेन्द्र ! पाण्डुपुत्र धर्मराज का आज मन बहुत ही व्याकुल हो रहा है। आप अपनी बुद्धि से इसके शोक को नष्ट करो। उत्तम बुद्धि के विस्तार वाले आपके सदृश पुरुष, मोह से उद्विग्न मनुष्य के शोक के नाश के लिये होते हैं ॥३८॥

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में कृष्ण वाक्य का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ।



इक्यावनवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच-श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः

किञ्चिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! महाबुद्धिमान वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण के वचन सुनकर भीष्म पितामह ने कुछ सिर उठाया और हाथ जोड़कर यह वचन कहा ॥१॥

भीष्म उवाच- नमस्ते भगवन्कृष्ण लोकानां प्रभवाप्यय ।

त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥२॥

हे भगवन ! कृष्ण ! आप जगत् की उत्पत्ति और प्रलय करने वाले हैं। हे हृषीकेश ! इसी से तुमको जगत्कर्ता और जगत्संहर्ता कहते हैं ॥२॥

विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसंभव ।

अपवर्गस्थभूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥३॥

हे विश्वकर्मन् ! आप विश्व के आत्मा और विश्व के उत्पन्न करने वाले हो। मोक्ष स्थित जन्तु और पञ्चभूत इन सब से उत्कृष्ट हो ॥३॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।

योगीश्वर नमस्तेऽस्तु त्वं हि सर्वपरायणः ॥४॥

आपको नमस्कार है, आप तीनों लोकों में विद्यमान हो और उनसे परे भी हो । हे योगेश्वर, आप सब के रक्षक हो। आपको नमस्कार है ॥४॥

मत्संश्रितं यदात्थ त्वं वचः पुरुषसत्तम ।
तेन पश्यामि ते दिव्यान्भवान् हि त्रिषु वर्त्मसु ॥५॥

हे पुरुषसत्तम ! आपने जो मेरे विषय में वचन कहे हैं, उस से मैं तीनों लोकों में आपके समग्र स्वरूप के देखने में समर्थ हो सकूँगा ॥५॥

तच्च पश्यामि गोविन्द यत्ते रूपं सनातनम् ।
सप्तमार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥६॥

हे गोविन्द ! मैं आपके सनातन रूप को देख रहा हूँ। अत्यन्त तेजस्वी आपके वायु के सातों मार्ग रुके हुए हैं अर्थात आप योगेश्वर हैं ॥६॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।
दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ॥७॥

हे भगवन ! आपके शिर से द्युलोक और पदों से पृथिवी व्याप्त है । आपकी भुजा दिशा, चक्षु सूर्य और वीर्य शुक्र है ॥७॥

अतसीपुष्पसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।
वपुर्ह्यनुमिमीमस्ते मेघस्येव सविद्युतः ॥८॥

आपका अतसी पुष्प के समान नीला सर्वोत्कृष्ट पीताम्बर युक्त शरीर है, जिसको विद्युत सहित मेघ की उपमा दी जा सकती है ॥८॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे ।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तम ॥९॥

हे कमललोचन ! सुरोत्तम ! आपके जो भक्त शरणागत हो चुका और जो अभीष्टगति की प्राप्तिकी इच्छा करता है। इसके निमित्त जो कल्याण हो—वह आप चिन्तन करे ॥९॥

वासुदेव उवाच-यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ ।
ततो मया वपुर्दिव्यं त्वयि राजन्प्रदर्शितम् ॥१०॥

वासुदेव बोले—हे पुरुषर्षभ ! तुम्हारी मुझ में बहुत ही भक्ति है। हे राजन ! इसी से मैंने तुमको अपना स्वरूप दिखा दिया है।

न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायानृजवेन च ।
दर्शयाम्यहमात्मानं न चाशान्ताय भारत ॥११॥
भवांस्तु मम भक्तश्च नित्यं चार्जवमास्थितः ।
दमे तपसि सत्ये च दाने च निरतः शुचिः ॥१२॥
अर्हस्त्वं भीष्म मां द्रष्टुं तपसा स्वेन पार्थिव ।
तव ह्युपस्थिता लोका येभ्यो नावर्तते पुनः ॥१३॥

हे भारत ! राजन् ! अभक्त या असरल अशान्त भक्त को मैं अपना यह दिव्य रूप नहीं दिखाता हूँ। आप मेरे सरल प्रकृत्ति भक्त हैं तथा दम, तप, सत्य और दान में पवित्रता के साथ संलग्न हैं। हे भीष्म ! इसीसे तुम को मेरे स्वरूप के दर्शन होने ही चाहिए थे। हे पार्थिव ! अब तुमको उन लोकों की प्राप्ति होगी, जिससे फिर तुम लौट नहीं सकोगे ॥११-१३॥

पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तव जीवितस्य ।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम् ॥

हे भीष्म ! अभी छप्पन (या चालीस) दिवस तुम्हारे जीवन के शेष हैं। इसमें और भी तुम्हारे शुभ कर्मों का उदय होगा। इसके बाद तुम अपनी देह को छोड़ कर दिव्य लोकों में चले जाओगे ॥१४॥

एतेहि देवावसवो विमानान्यास्थाय सर्वे ज्वलिताग्निकल्पाः।
अन्तर्हितास्त्वां प्रतिपालयन्ति काष्ठां प्रपद्यन्तमुदक्पतङ्गम् ॥

ये अग्नि के तुल्य प्रकाशित सारे वसुसंज्ञक देव, विमानों में अलक्षित भाव से स्थित होकर सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा में है ॥१५॥

व्यावर्तमाने भगवत्युदीचीं सूर्ये जगत्कालवशं प्रपन्ने ।
गन्तासि लोकान्पुरुषप्रवीर नावर्तते यानुपलभ्य विद्वान् ॥

हे पुरुषप्रवीर ! काल के वश में घूमने वाला जगत् है। जब भगवान् सूर्य उत्तरायण में हो जावेंगे, तब तुम उन दिव्य लोकों में चले जाओगे, जहां पर पहुँच कर विद्वान् फिर नहीं लौटा करता ॥१६॥

अमुं च लोकं त्वयि भीष्मयाते ज्ञानानि नंक्ष्यन्त्यखिलेनवीर
अतस्तु सर्वे त्वयि सन्निकर्षं समागता धर्मविवेचनाय ॥१७॥

हे भीष्म ! तुम्हारे परलोक में चले जाने पर सारा ज्ञान लुप्त हो जावेगा। हे वीर ! यही सोचकर हम सब लोग तुम से ज्ञान प्राप्त करले और धर्म की विवेचना को तुम्हारे पास आये हैं।

तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय सत्याभिसन्धाय युधिष्ठिराय ।
प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तं सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकम् ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५१॥

हे राजन् ! अब आप, बन्धु-बान्धवों के विनाश से शोकातुर सत्याग्रही राजा युधिष्ठिर को ऐसे धर्मार्थ संयुक्त वचन सुनाओ, जिनसे इनका यह सारा शोक दूर हो जावे ॥१८॥

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में श्रीकृष्ण के वचन का इक्यावनवां अध्याय समाप्त हुआ



बावनवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच-ततः कृष्णस्य तद्वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्
श्रुत्वा शान्तनवो भीष्मः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! भगवान् श्री कृष्ण के धर्म और नीतियुक्त वचन सुनकर शान्तनुपुत्र भीष्म, हाथ जोड़कर यह वचन कहने लगे ॥१॥

लोकनाथ महाबाहो शिव नारायणाच्युत ।
तव वाक्यमुपश्रुत्य हर्षेणास्मि परिप्लुतः ।

हे महाबाहो ! अच्युत ! आप लोक के स्वामी, कल्याणकर्ता, सर्वव्यापक हैं। मैं आपके वचन सुन कर हर्ष से व्याप्त हो गया हूं ॥२॥

किं चाहमभिधास्यामि वाक्यं ते तव सन्निधौ।
यदा वाचो गतं सर्वं तव वाचि समाहितम् ॥३॥

हे भगवन् ! मैं आपके वचन का क्या उत्तर दे सकता हूं, क्योंकि जो वाणी का विषय है, वह सब आपकी वाणी के अन्तर्भूत है ॥३॥

यच्च किञ्चित्क्वचिल्लोके कर्तव्यं क्रियते च यत्।
त्वत्तस्तन्निःसृतं देव लोके बुद्धिमतो हि ते ॥४॥

हे देव ! जो कुछ जगत् में किया जाता है या कर्तव्य है, वह सब कुछ तुम्हारे भीतर से निकला हुआ है, क्योंकि आप सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् हैं ॥४॥

कथयेद्देवलोकं यो देवराजसमीपतः।
धर्मकामार्थमोक्षाणां सोऽर्थं ब्रूयात्तवाग्रतः ॥५॥

जो मनुष्य,, देवलोक में पहुँचकर देवराज इन्द्र के सन्मुख धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की व्यवस्था कर सके, वही तुम्हारे आगे अपने अभिप्राय को प्रकट कर सकेगा ॥५॥

शराभितापाद्व्यथितं मनो मे मधुसूदन।
गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति ॥६॥

हे मधुसूदन ! बाणों की पीड़ा से मेरा मन व्यथित हो रहा है। शरीर पीड़ित है और बुद्धि कुछ विकास नहीं पा रही है ॥६

न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किंचित्प्रभाषितुम् ।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः ॥७॥

न मेरी प्रतिभा चलती है और न मैं कुछ कहने को समर्थ हूँ। हे गोविन्द ! यह सब कुछ विष या अग्नि के सदृश प्रभावशाली बाणों की पीड़ा से हो रहा है ॥७॥

बलं मे प्रजहातीव प्राणाः संत्वरयन्ति च ।
मर्माणि परितप्यन्ति भ्रान्तचित्तस्तथा ह्यहम् ॥८॥
दौर्बल्यात्सज्जते वाङ् मे स कथं वक्तुमुत्सहे ।
साधु मे त्वं प्रसीदस्व दाशार्हकुलवर्धन ॥९॥

मेरा बल, मेरे शरीर को छोड़ रहा है, प्राण निकलने की शीघ्रता कर रहे हैं। मर्म पीड़ित होते हैं और मेरा चित्त चकरा रहा है। हे दशार्हवंशवर्द्धक ! मेरी वाणी दुर्बलता के कारण चिपकी सी जा रही है। मैं कुछ भी कहने में समर्थ नहीं हूँ। अब तो केवल आप मेरे ऊपर अच्छी तरह अनुग्रह कीजिए ॥८॥

तत्क्षमस्व महाबाहो न ब्रूयां किञ्चिदच्युत ।
त्वत्सन्निधौ च सीदेद्धि वाचस्पतिरपि ब्रुवन् ॥१०॥

हे महाबाहो ! अच्युत ! आप मेरे अपराध को क्षमा करें। मैं आपके सन्मुख कुछ बोल नहीं सकता हूँ। तुम्हारे सन्मुख से बोलता हुआ बृहस्पति भी रुक सा जाता है ॥१७॥

न दिशः संप्रजानामि नाकाशं न च मेदिनीम् ।
केवलं तव वीर्येण तिष्ठामि मधुसूदन ॥११॥

हे मधुसूदन ! मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान है, न आकाश को जानता हूँ और न मुझे पृथिवी के विषय में कुछ मालूम है। मैं तो केवल आपकी महिमा से स्थित हूं ॥११॥

स्वयमेव भवांस्तस्माद्धर्मराजस्य यद्धितम् ।
तद्ब्रवीत्वाशु सर्वेषामागमानां त्वमागमः ॥१२॥

हे कृष्ण ! अब तो आप ही धर्मराज के हितकारी विषय की शीघ्र व्याख्या करो, क्योंकि आप तो शास्त्रोंके भी पारङ्गत हो ॥१२॥

कथं त्वयि स्थिते कृष्णे शाश्वते लोककर्तरि ।
प्रब्रूयान्मद्विधः कश्चिद्गुरौ शिष्य इव स्थिते ॥१३॥

हे कृष्ण ! लोककर्ता, सनातन पुरुष आपके स्थित रहने पर गुरु के सन्मुख शिष्य की भांति मैं कैसे बोल सकता हूँ ॥१३॥

वासुदेव उवाच-उपपन्नमिदं वाक्यं कौरवाणां धुरन्धरे ।
महावीर्ये महासत्वे स्थिरे सर्वार्थदर्शिनि ॥१४॥
यच्च मामात्थ गाङ्गेय बाणघातरुजं प्रति ।
गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं प्रभो ॥१५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे गाङ्गेय ! आप बड़े पराक्रमी, महाबली कौरववंश के सर्वश्रेष्ठ वीर हैं। आप बड़े दृढ़, सर्वार्थदर्शी विद्वान हैं। तुमने बाण की पीड़ा के विषय में जो कुछ कहा है, इस विषय

में मैं आपको वर देना चाहता हूं। हे प्रभो! भीष्म! तुम मेरे इस अनुग्रह को ग्रहण करो ॥१४-१५॥

न ते ग्लानिर्न ते मूर्च्छा न दाहो न च रुजा।
प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाप्युत ॥१६॥

हे अच्युत! भीष्म! अब आपको न तो कोई ग्लानि होगी, न मूर्छा, न दाह और न कोई पीड़ा होगी। हे गाङ्गेय! अब तुमको भूख प्यास कुछ भी बाधा नहीं करेगी ॥१६॥

ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ।
न च ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति ॥१७॥

हे अनघ! तुम्हारे हृदय में सारे ज्ञान प्रभासित होंगे तथा तुम्हारी बुद्धि की आसक्ति कहीं भी नहीं होगी ॥१७॥

सत्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति।
रजस्तमोभ्यां रहितं घनैर्मुक्त इवोडुराट् ॥१८॥

हे भीष्म! अब तुम्हारा मन सर्वदा सत्व में स्थित हो जावेगा और रज और तम उससे बिलकुल दूर हो जावेंगे, जो मेघों से युक्त चन्द्रमा की भाँति उज्ज्वल दिखाई देगा ॥१८॥

यद्यच्च धर्मसंयुक्तमर्थयुक्तमथापि च।
चिन्तयिष्यसि तत्राग्र्या बुद्धिस्तव भविष्यति ॥१९॥

हे भीष्म! तुम जिस धर्म और नीति के विषय पर विचार करोगे—उसी विषय में तुम्हारी बुद्धि तीव्रता के साथ चलेगी ॥१९

इमं च राजशार्दूल भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
चक्षुर्दिव्यं समाश्रित्य द्रक्ष्यस्यमितविक्रम ॥२०॥

हे अत्यन्त पराक्रमी, राजशार्दूल ! यह चारों प्रकार की प्राणिसृष्टि तुमको स्पष्ट दिखाई देगी; क्योंकि तुम अब दिव्य चक्षु हो जाओगे ॥२०॥

संसरन्तं प्रजाजालं संयुक्तो ज्ञानचक्षुसा ।
भीष्म द्रक्ष्यसि तत्त्वेन जले मीन इवामले ॥२१॥

हे भीष्म ! इस प्रवाहित हुए मनुष्यसमूह में तुम ज्ञानचक्षु से युक्त होकर इस तरह सब कुछ देख लोगे, जैसे स्वच्छ जल में मछली देख लेती है ॥२१॥

वैशम्पायन उवाच- ततस्ते व्याससहिताः सर्व एव महर्षयः ।
ऋग्यजुः सामसहितैर्वचोभिः कृष्णमार्चयन् ॥२२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! इतना सुनते ही व्यास आदि सारे महर्षियों ने ऋग्, यजु और सामवेदसे युक्त वचनों से श्रीकृष्ण की बड़ी प्रशंसा की ॥२२॥

ततः सर्वार्तवं दिव्यं पुष्पवर्षं नभस्तलात् ।
पपात यत्र वार्ष्णेयः सगाङ्गेयः सपाण्डवः ॥२३॥
वादित्राणि च सर्वाणि जगुश्चाप्सरसां गणाः ।
न चाहितमनिष्टं च किञ्चित्तत्र प्रदृश्यते ॥२४॥

हे भारत ! इसी समय जहां पर श्रीकृष्ण, भीष्म और धर्मराज आदि वीर स्थित थे, वहां पर सब ऋतुओं में खिलने वाले दिव्य

पुष्पों की आकाश से वर्षा होने लगी। सब ओर बाजे बजने लगे और अप्सराओं के गण नाचने लगे। उस समय वहां पर कोई अनिष्ट या अहितकर बात दृष्टिगोचर नहीं होती थी ॥२३-२४॥

ववौ शिवः सखो वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः।
शान्ता दिशि शान्ताश्च प्रावदन्मृगपक्षिणः ॥२५॥

हे नृप! अब सब प्रकार की गन्ध को लेकर सुगन्धित सुख और कल्याणकारी वायु चलने लगा। जब सारी दिशा शान्त हो गई—तो मृग और पक्षी भी शान्त होकर बोलने लगे ॥२५॥

ततो मुहूर्ताद्भगवान्सहस्रांशुर्दिवाकरः।
दहन्वनमिवैकान्ते प्रतीच्यां प्रत्यदृश्यत ॥२६॥

हे नरोत्तम! थोड़ी ही देर में सहस्रकिरणधारी भगवान् सूर्य वन को सन्तप्त करके पश्चिम दिशा में दिखाई देने लगे ॥२६॥

ततो महर्षयः सर्वे समुत्थाय जनार्दनम्।
भीष्ममामन्त्रयांचक्रू राजानं च युधिष्ठिरम् ॥२७॥

अब सारे महर्षि उठ खड़े हुए और उन्होंने जनार्दन कृष्ण, भीष्म पितामह और राजा युधिष्ठिर से विदा की प्रार्थना की ॥२७॥

ततः प्रणाममकरोत्केशवः सह पाण्डवः।
सात्यकिः सञ्जयश्चैव स च शारद्वतः कृपः ॥२८॥

भगवान् कृष्ण, धर्मराज और पाण्डव तथा सात्यकि, सञ्जय और शरद्वान पुत्र कृपाचार्य ने भी उन मुनियों को प्रणाम किया।

ततस्ते धर्मनिरताः सम्यक् तैरभिपूजिताः ।
श्वः समेष्याम इत्युक्त्वा यथेष्टं त्वरिता ययुः ॥२६॥

धर्मपरायण मुनि लोगों की इन वीरों ने अच्छी तरह पूजा की। हम लोग कल आवेंगे—इतना कहकर ये अपनी इच्छानुसार अभीष्ट देश को चले गए ॥२६॥

तथैवामंत्र्य गाङ्गेयं केशवः पाण्डवास्तथा ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य रथानारुरुहुः शुभान् ॥ ३०॥

इसी तरह भगवान् कृष्ण और धर्मराज आदि पाण्डवों ने भी भीष्म पितामह से आज्ञा ली। वे सब उनकी प्रदक्षिणा करके और अपने २ उत्तम रथों पर चढ़ करके चल दिए ॥३०॥

ततो रथैः काञ्चनचित्रकूबरैर्महीधराभैः समदैश्च दन्तिभिः ।
हयैः सुपर्णैरिव चाशुगामिभिः पदातिभिश्चात्तशरासनादिभिः
ययौ रथानां पुरतो हि सा चमूस्तथैव पश्चादतिमात्रसारिणी ।
पुरश्च पश्चाच्च यथा महानदी तमृक्षवन्तं गिरिमेत्य नर्मदा

हे राजन्! सुवर्ण के विचित्र कूबरों से युक्त, पर्वत के समान आकारधारी रथ, महोन्मत्त हाथी, गरुड़ के समान आशुगामी अश्व और धनुर्धर पैदल सैनिकों से युक्त सेना, इनके रथों के आगे चली और ऐसी ही सेना इनके पीछे थी। जो ऋक्षवान् पर्वत के आगे पीछे बहती हुई नर्मदा नदी के सदृश दिखाई पड़ती थी।

ततः पुरस्ताद्भगवान्निशाकरः समुत्थितस्तामभिहर्षयंश्चमूम् ।
दिवाकरापीतरसा महौषधीः पुनः स्वकेनैव गुणेन योजयन्

इसी समय सामने से भगवान चन्द्रमा निकल आए, जिससे सारी सेना हर्षित हो उठी। सूर्य ने सारी ओषधियों के रस पी लिया था, परन्तु चन्द्रमा ने फिर अपने गुणों से युक्त करके उन्हें हरी भरी कर दिया ॥३३॥

ततः पुरं सुरपुरसंमितद्युति प्रविश्य ते यदुवृषपाण्डवास्तदा
यथोचितान्भवनवरान्समाविशन् श्रमान्विता मृगपतयोगुहाइव

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराद्यागमने
द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५२॥

हे राजन् ! इसके अनन्तर यदुवंशश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और पाण्डव सुरपुर के समान हस्तिनापुरमें प्रविष्ट हुए। वे इस समय थक रहे थे। वे सब अपने २ घरों में इस तरह प्रविष्ट हुए जैसे सिंह कन्दराओं में घुसे हों ॥३४॥

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में श्रीकृष्ण
भीष्म सम्वाद का बावनवां अध्याय समाप्त हुआ



तरेपनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-ततः शयनमाविश्य प्रसुप्तो मधुसूदनः ।
याममात्रार्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुद्ध्यत ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इसके अनन्तर मधुसूदन कृष्ण अपनी शय्या पर जाकर सो रहे। जब एक पहर रात्रि शेष रही—तो वे जाग पड़े ॥१॥

स ध्यानपथमाविश्य सर्वज्ञानानि माधवः ।
अवलोक्य ततः पश्चाद्दध्यौ ब्रह्म सनातनम् ॥२॥

श्री कृष्ण ने उठकर ध्यान लगाया—तो उनको सारे ज्ञान प्रतिभासित होने लगे। इसके अनन्तर वे सनातन ब्रह्म का चिंतन करने लगे ॥२॥

ततः स्तुतिपुराणज्ञा रक्तकण्ठाः सुशिक्षिताः ।
अस्तुवन्विश्वकर्माणं वासुदेवं प्रजापतिम् ॥३॥

अब स्तुति पाठक शिक्षित, मधुर कण्ठ वाले वन्दीजन आ गए, जो विश्वकर्मा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे ॥३॥

पठन्ति पाणिस्वनिकास्तथा गायन्ति गायकाः ।
शङ्खानथ मृदङ्गाश्च प्रवाद्यन्ति सहस्रशः ॥४॥

अब झांझ खड़ताल बजाकर गायक गाने लगे और लोग, शङ्ख, मृदङ्ग आदि अनेक बाजे बजाने में तत्पर हुए ॥४॥

वीणापणववेणूनां स्वनश्चातिमनोरमः ।
सहास इव विस्तीर्णः शुश्रुवे तस्य वेश्मनः ॥५॥

उस समय वीणा, पणव और वेणु आदि का अत्यन्त मनोहर शब्द हो रहा था, जो इस भवन का अट्टहास सा प्रतीत होता था।

ततो युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मङ्गलसंहिताः ।
उच्चैरुर्मधुरा वाचो गीतवादित्रनिःस्वनाः ॥६॥

इसके बाद राजा युधिष्ठिर के भवन से भी माङ्गलिक बाजों के साथ गीत और बाजों से मिली हुई मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी।

तत उत्थाय दाशार्हः स्नातः प्राञ्जलिरच्युतः ।
जप्त्वा गुह्यं महाबाहुरग्नीनाश्रित्य तस्थिवान् ॥७॥

अब दशार्हवंशश्रेष्ठ महाबुद्धि भगवान् कृष्ण उठे। स्नान करके और हाथ जोड़कर गुप्त मन्त्र का जप करने लगे। फिर हवन करने बैठे ॥७॥

ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा ।
गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधवः ॥८॥

इसके बाद उनके समीप चारों वेदों के ज्ञाता एक सहस्र ब्राह्मण पहुँचे। उन सब को एक २ गऊ दान देकर श्रीकृष्ण ने उनसे स्वस्तिवाचन करवाया ॥८॥

मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च ।
आदर्शे विमले कृष्णस्ततः सात्यकिमब्रवीत् ॥९॥

इस प्रकार प्रातःकालीन मङ्गलक्रिया करके श्रीकृष्ण ने दर्पण में अपने मुख को देखा और फिर सात्यकि से यह वचन कहा ॥९॥

गच्छ शैनेय जानीहि गत्वा राजनिवेशनम् ।
अपि सज्जो महातेजा भीष्मं द्रष्टुं युधिष्ठिरः ॥१०॥

हे शैनेय ! तुम राजा युधिष्ठिर के महलों में जाओ और वहाँ जाकर पता लगाओ, कि महातेजस्वी धर्मराज भीष्म पितामह के पास चलने को तय्यार हो चुके हैं या नहीं ॥१०॥

ततः कृष्णस्य वचनात्सात्यकिस्त्वरितो ययौ ।
उपगम्य च राजानं युधिष्ठिरमभाषत ॥११॥

श्रीकृष्ण के वचन सुनते ही सात्यकि बहुत शीघ्र वहां गया और राजा युधिष्ठिर के पास पहुँच कर उनसे यह वचन कहने लगा ॥११॥

युक्तो रथवरो राजन्वासुदेवस्य धीमतः ।
समीपमापगेयस्य प्रयास्यति जनार्दनः ॥१२॥
भवत्प्रतीक्षः कृष्णोऽसौ धर्मराज महाद्युते ।
यदत्रानन्तरं कृत्यं तद्भवान्कर्तुमर्हति ॥१३॥

हे राजन्! महाबुद्धिमान् श्रीकृष्ण का रथ सजा हुआ खड़ा है। जनार्दन कृष्ण, गङ्गा-पुत्र भीष्म के पास जा रहे हैं। हे महाद्युते! धर्मराज! वे केवल आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब जो आपकी इच्छा हो-वह कार्य करो। कहिए-क्या आज्ञा है।

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
युधिष्ठिर उवाच-युज्यतां मे रथवरः फाल्गुनाप्रतिमद्युते ॥१४॥
न सैनिकैश्च यातव्यं यास्यामो वयमेव हि ।
न च पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृतां वरः ॥१५॥

हे राजन्! जब सात्यकि ने इतना कहा—तो धर्मराज युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—अमितद्युते! अर्जुन! तुम शीघ्र मेरा रथ जोड़कर लाओ। आज हम लोग ही केवल भीष्मपितामह के पास जावेंगे।

सारे सैनिकों के वहाँ जाने की मनाही कर दो। धर्मात्मा भीष्म को भीड़ भड़क्के से हमें क्लेशित नहीं करना चाहिए ॥१४-१५॥

अतः पुरःसराश्चापि निवर्त्तन्तु धनञ्जय।
अद्यप्रभृति गाङ्गेयः परं गुह्यं प्रवक्ष्यति ॥१६॥
अतो नेच्छामि कौन्तेय पृथक् जनसमागमम्।

हे धनञ्जय! इसी तरह आगे चलने वाले लोगों को भी तुम रोक दो। अब भीष्मपितामह हम लोगों को गुह्य वस्तु का प्रवचन करेंगे। हे कौन्तेय! इसी से मैं साधारण मनुष्यों को वहां नहीं ले चलना चाहता-वे वृथा कोलाहल करेंगे ॥१६॥

वैशम्पायन उवाच--स तद्वाक्यमथाज्ञाय कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः
युक्तं रथवरं तस्मादाचचक्षे नरर्षभः।

वैशम्पायन बोले-हे राजन्! धर्मराज की आज्ञानुसार नरश्रेष्ठ कुन्ती-पुत्र अर्जुन रथ जोड़कर ले आए और धर्मराज को इसकी सूचना दी ॥१७॥

ततो युधिष्ठिरो राजा यमौ भीमार्जुनावपि ॥१८॥
भूतानीव समस्तानि ययुः कृष्णनिवेशनम्।

अब राजा युधिष्ठिर चारों अपने भ्राता भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को साथ लेकर मूर्तिमान पञ्चमहाभूतों की भांति श्रीकृष्ण के भवन की ओर चले ॥१८॥

आगच्छत्स्वथ कृष्णोऽपि पाण्डवेषु महात्मसु ॥१९॥
शैनेयसहितो धीमान् रथमेवान्वपद्यत ॥

जब बुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने महावीर पाण्डवों को अपनी ओर आते देखा-तो वे भी सात्यकि के साथ अपने रथ पर सवार हो गए ॥१९॥

रथस्थाः संविदं कृत्वा सुखां पृष्ट्वा च शर्वरीम् ॥२०॥
मेघघोषै रथवरैः प्रययुस्ते नरर्षभाः॥

इन सब वीरों ने रथ में चढ़ चढ़े ही शिष्टाचार का संवाद किया और रात का मङ्गलानुशासन पूछा। इसके अनन्तर मेघ के समान ध्वनि करने वाले अपने २ उत्तम रथों से वे चल दिए।

बलाहकं मेघपुष्पं शैब्यं सुग्रीवमेव च ॥२१॥
दारुकश्चोदयामास वासुदेवस्य वाजिनः ।

श्रीकृष्ण का सारथि दारुक था। वह बलाहक, मेघपुष्प, शैब्य और सुग्रीव नामक उनके अश्वों को हांकने लगा।

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ॥२२॥
गां खुराग्रैस्तथा राजन्लिखन्तः प्रययुस्तदा ।

हे राजन्! दारुक सारथि ने हाँकते ही वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण के अश्व, अपने खुरों से पृथिवी को खोदते हुए भाग चले।

ते ग्रसन्त इवाकाशं वेगवन्तो महाबलाः ॥२३॥
क्षेत्रं धर्मस्य कृत्स्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरन् ।

वे अश्व, इतने महाबली और वेगशाली थे, कि आकाश को निगलना सा चाह रहे थे। इस तरह वे चलते हुए धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में पहुँचे ॥२३॥

ततो ययुर्यत्र भीष्मः शरतल्पगतः प्रभुः ॥२४॥
आस्ते महर्षिभिः सार्धं ब्रह्मा देवगणैर्यथा ।

अब ये सम्पूर्ण क्षत्रियवीर वहां पहुँचे, जहां पर शर-शय्या पर भीष्म सो रहे थे। वहीं पर इस समय महर्षि और देवों के साथ स्वयं ब्रह्माजी उपस्थित थे ॥२४॥

ततोऽवतीय गोविन्दो रथात्स च युधिष्ठिरः ॥२५॥
भीमो गाण्डीवधन्वा च यमौ सात्यकिरेव च ।
ऋषीनभ्यर्चयामासुः करानुद्यम्य दक्षिणान् ॥२६॥

अब श्रीकृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर, भीष्म, गाण्डीवधारी अर्जुन, नकुल, सहदेव और सात्यकि अपने २ रथों से उतरे और फिर उन्होंने अपना २ दाँया हाथ उठा कर ऋषियों का सत्कार किया ॥२५-२६॥

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
अभ्याजगाम गाङ्गेयं ब्रह्माणमिव वासवः ॥२७॥

इन सब वीरों से घिरे हुए धर्मराज नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा के समान प्रतीत होते थे। वे गङ्गापुत्र भीष्म के पास इस तरह पहुँचे—जैसे ब्रह्मा के पास इन्द्र जाता है ॥२७॥

शरतल्पे शयानं तमादित्यं पतितं यथा ।
स ददर्श महाबाहुं भयाच्चा गतसाध्वसः ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्माभिगमने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५३॥

अब धर्मराज ने शरशय्या पर टूटकर पड़े हुए सूर्य की भाँति महाबाहु भीष्म को देखा। उनके देखते ही राजा युधिष्ठिर का हृदय भय से काँपने लगा ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में भीष्म के समीप धर्मराजादि के आगमन का तरेपनवां अध्याय समाप्त हुआ



चौवनवां अध्याय

जनमेजय उवाच–धर्मात्मनि महावीर्ये सत्यसन्धे जितात्मनि
देवव्रते महाभागे शरतल्पगतेऽच्युते ॥१॥
शयाने वीरशयने भीष्मे शान्तनुनन्दने।
गाङ्गेये पुरुषव्याघ्रे पाण्डवैः पर्युपासिते।
काः कथाः समवर्तन्त तस्मिन्वीरसमागमे।
हतेषु सर्वसैन्येषु तन्मे शंस महामुने ॥३॥

जनमेजय बोले—हे महामुने! महापराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञाधारी जितेन्द्रिय, महाभाग, महावीर, पुरुषश्रेष्ठ, शान्तनु और गङ्गा-पुत्र, देवव्रत भीष्म के वीरोचित शरशय्या पर शयन करने पर उनकी

सेवामें सारे पाण्डव उपस्थित हुए। इस वीर समागम में क्या बातचीत हुई। सारी सेना तो मारी जा चुकी थी। अब आप मुझे इसका सारा वृत्तान्त सुनाइए ॥३॥

वैशम्पायन उवाच-शरतल्पगते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे ।
आजग्मुर्ऋषयः सिद्धा नारदप्रमुखा नृप ॥४॥
हतशिष्टाश्च राजानो युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
धृतराष्ट्रश्च कृष्णश्च भीमार्जुनयमास्तथा ॥५॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! कौरववंश धुरन्धर भीष्म तो शरशय्या पर सो रहे थे। इसी समय अनेक ऋषि, सिद्ध, नारद आदि मुनिगण तथा मरने से बचे हुए धर्मराज आदि अनेक राजा, धृतराष्ट्र, श्रीकृष्ण, भीम, अर्जुन वहां उपस्थित हुए ॥४-५॥

तेऽभिगम्य महात्मानो भरतानां पितामहम् ।
अन्वशोचन्त गाङ्गेयमादित्यं पतितं यथा ॥६॥

हे राजन्! भरतवंश के पितामह भीष्म के समीप ये सारे महारथी पहुंच गए। उन्होंने सूर्य के सदृश पड़े हुए गङ्गा-पुत्र भीष्म की बहुत ही चिन्ता की ॥६॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा नारदो देवदर्शनः ।
उवाच पाण्डवान्सर्वान्हतशिष्टांश्च पार्थिवान् ॥७॥
प्राप्तकालं समाचक्षे भीष्मोऽयमनुयुज्यताम् ।
अस्तमेति हि गाङ्गेयो भानुमानिव भारत ॥८॥

देवर्षि नारद ने थोड़ी देर तक ध्यान किया और फिर सारे पाण्डव और मरने से बचे हुए बहुत से राजाओं के सन्मुख यह वचन कहा—हे भारत! उनका यह कथन समयानुकूल ही था, कि तुम अब भीष्म पितामह से प्रश्न करो, क्योंकि सूर्य के सदृश अब ये अस्त होने वाले हैं ।।७-८।।

अयं प्राणानुत्सिसृक्षुस्तं सर्वेऽभ्यनुपृच्छत ।
कृत्स्नान् हि विविधान्धर्मांश्चातुर्वर्ण्यस्य वेत्त्ययम् ।।९।।

भीष्म अब प्राण अवश्य छोड़ना चाह रहे हैं। इनसे तुम सब प्रश्न करो। ये चारों वर्णों के सारे धर्मों को अच्छी तरह जानते हैं ।।९।।

एष वृद्धः परॉंल्लोकान्संप्राप्नोति तनुं त्यजन् ।
तं शीघ्रमनुयुञ्जीध्वं संशयान्मनसि स्थितान् ।।१०।।

ये वृद्ध पितामह, अपने शरीर को छोड़ते ही उत्तम लोकों में चले जावेंगे। तुम अपने मन में स्थित संशयों को इनसे पूछ कर मिटा लो ।।१०।।

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्ते नारदेन भीष्ममीयुर्नराधिपाः ।
प्रष्टुं चाशक्नुवन्तस्ते वीक्षांचक्रुः परस्परम् ।।११।।

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन्! नारद जी के इतना कहते ही सारे राजा आगे बढ़े-परन्तु उनके तेज से क्षुभित होकर कुछ पूछ नहीं सके और एक दूसरे का मुँह ताकने लगे ।।११।।

ततोवाच हृषीकेशं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नान्यस्तु देवकीपुत्राच्छक्तः प्रष्टुं पितामहम् ॥१२॥

इसके बाद पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर, देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण से बोले, कि आप के अतिरिक्त अन्य कोई भीष्म पितामह से प्रश्न करने में समर्थ नहीं है ॥१२॥

अभ्याहर यदुश्रेष्ठ त्वमग्रे मधुसूदन ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां सर्वधर्मविदुत्तमः ॥१३॥

हे मधुसूदन ! श्री कृष्ण ! प्रथम आप प्रश्न करें । हे तात ! आप ही हम सब के मध्य में धर्म के ज्ञाता हो ॥१३॥

एवमुक्तः पाण्डवेन भगवान्केशवस्तदा ।
अभिगम्य दुराधर्षं अभ्याहारयदच्युतः ॥१४॥

जब धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण से इतना कहा—तो श्रीकृष्ण, तेज से दुराधर्ष भीष्म पितामह के समीप आगे बढ़े ॥१४

वासुदेव उवाच—कच्चित्सुखेन रजनी व्युष्टा ते राजसत्तम ।
विस्पष्टलक्षणा बुद्धिः कच्चिच्चोपस्थिता तव ॥१५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजसत्तम ! आपकी रात तो सुख से कट गई । आपकी बुद्धि में पदार्थ तो स्पष्टता के साथ झलक रहे होंगे ।

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रतिभान्ति च तेऽनघ ।
न ग्लायते च हृदयं न च ते व्याकुलं मनः ॥१६॥

हे अनघ ! तुम्हारे हृदय में सारे ज्ञानों का प्रकाश तो अच्छी तरह व्याप्त हो रहा है ? आपके हृदय में कोई ग्लानि और मन में कोई व्याकुलता तो नहीं है ॥१६॥

भीष्म उवाच-दाहो मोहः श्रमश्चैव क्लमो ग्लानिस्तथा रुजा।
तव प्रसादाद्वार्ष्णेय सद्यः प्रतिगतानि मे ॥१७॥

भीष्म ने कहा-हे वार्ष्णेय! दाह, मोह, श्रम, क्लम, ग्लानि और पीड़ा—ये सब कुछ आपके अनुग्रह से तत्काल नष्ट हो गए हैं ॥१७॥

यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च परमद्युते।
तत्सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलमिवार्पितम् ॥१८॥

हे महाद्युते! जो कुछ भूत, भविष्यत् या वर्तमान में विद्यमान हैं, वह सब कुछ हाथ में अर्पित फल की तरह मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है ॥१२॥

वेदोक्ताश्चैव ये धर्मा वेदान्ताधिगताश्च ये।
तान्सर्वान्संप्रपश्यामि वरदानात्तवाच्युत ॥१९॥

हे अच्युत! जो कुछ वेदोक्त और वेदान्तोक्त पदार्थ हैं। मैं आपके वरदान से उन को यथावत् देख रहा हूँ ॥१९॥

शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च मे हृदि वर्तते।
देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन ॥२०॥

हे जनार्दन! शिष्ट पुरुषों ने जिन धर्मों का उपदेश किया है-वे सब कुछ मेरे हृदय में वर्तमान है। मैं देश, जाति और कुल धर्मों को भी अच्छी तरह जानता हूं ॥२०॥

चतुर्ष्वाश्रमधर्मेषु योऽर्थः स च हृदि स्थितः।
राजधर्मांश्च सकलानवगच्छामि केशव ॥२१॥

सत्य, सरलता, अतिथिपूजन, धर्म, अर्थ, स्वभार्या से रति आदि सुखों को जिसने लोक में भोगा है, उनको ये आचरण इस लोक और परलोक दोनों में कल्याणकारी हैं-अर्थात् ऐसा गृहस्थी भी मुक्ति का अधिकारी होता है ॥१४॥

भरणं पुत्रदाराणां वेदानां धारणं तथा।
वसतामाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः ॥१५॥

पुत्र और भार्या का भरण पोषण तथा वेदों का धारण यह इतना उत्तम कार्य है, कि जिससे गृहस्थी युक्त होता है, इसीसे महर्षियों ने इस आश्रम को सर्वश्रेष्ठ कहा है ॥१५॥

एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत्
गृहस्थवृत्तिं प्रविशोध्य सम्यक्स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः ॥

इस प्रकार जो यज्ञशील, ब्राह्मण, गृहस्थाश्रम स्थित होकर गृहस्थाश्रम के आचारों को अच्छी तरह निभाता है-वह स्वर्ग में विशुद्ध फल प्राप्त करता है ॥१६॥

तस्य देहपरित्यागादिष्टाः कामाऽक्षया मताः।
आनन्त्यायोपतिष्ठन्ति सर्वतोऽक्षिशिरोमुखाः ॥१७॥

जब ऐसा गृहस्थी देह का परित्याग करता है, तो उसकी मनोगत कामनाओं का क्षय हो जाता है। वह सब ओर अक्षिशिर और मुख वाला विराट् स्वरूप बन कर अनन्त मोक्ष का भागी होता है ॥१७॥

स्मरन्नेको जपन्नेकः सर्वानेको युधिष्ठिर।
एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान् ॥१८॥

शीतांशुश्चन्द्र इत्युक्ते लोके को विस्मयिष्यति ।
तथैव यशसा पूर्णे मयि को विस्मयिष्यति ॥२६॥

चन्द्रमा की किरणें शीतलता युक्त हैं—यह सुनकर कौन विस्मय करेगा—इसी तरह कृष्ण यश से परिपूर्ण है-यह सुनकर कौन चकित होगा ॥२६॥

आधेयं तु मया भूयो यशस्तव महाद्युते ।
ततो मे विपुला बुद्धिस्त्वयि भीष्म समर्पिता ॥२७॥

हे महाद्युते ! भीष्म ! मैं तो तुम्हारे निर्मल यश का विस्तार करना चाहता हूँ, इसी से मैंने तुमको यह निर्मल बुद्धि प्रदान की है ॥२७॥

यावद्धि पृथिवीपाल पृथ्वीयं स्थास्यति ध्रुवा ।
तावत्तवाक्षया कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति ॥२८॥

हे पृथिवीपाल ! जब तक यह निश्चल पृथिवी स्थित रहेगी, तब तक तुम्हारी अक्षय कीर्ति लोक में घूमती रहेगी ॥२८॥

यच्च त्वं वक्ष्यसे भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते ।
वेदप्रवाद इव ते स्थास्यते वसुधातले ॥२९॥

हे भीष्म ! धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर जो कुछ तुम कथन करोगे-वह वचन वेदवाक्य की भाँति पृथिवी पर सर्वदा स्थित रहेगा ॥२९॥

यश्चैतेन प्रमाणेन योक्ष्यत्यात्मानमात्मना ।
स फलं सर्वपुण्यानां प्रेत्य चानुभविष्यति ॥३०॥

जो मनुष्य, तुम्हारे वचनों को श्रद्धा-पूर्वक मान कर उनके अनुसार अपना जीवन बनावेगा-वह सब पुण्यों का फल परलोक में अवश्य भोगेगा ॥३०॥

एतस्मात्कारणाद्भीष्म मतिर्दिव्या मया हि ते ।
दत्ता यशो विप्रथयेत्कथं भूयस्तवेति ह ॥ ३१॥

हे भीष्म ! इसी कारण से मैंने दिव्य बुद्धि तुमको प्रदान की है कि किसी भी तरह आपका यश पृथिवी पर फिर विस्तृत होवे ।

यावद्धि प्रथते लोके पुरुषस्य यशो भुवि ।
तावत्तस्याक्षया कीर्तिर्भवतीति विनिश्चिता ॥३२॥

जब तक पुरुष का यश, पृथ्वी पर विस्तृत रहता है, तब तक पुरुष की कीर्ति भी अक्षय होकर विस्तृत होती रहती है । (जीवित का यश और मरे की प्रशंसा कीर्ति कहाती है) ॥३२॥

राजानो हतशिष्टास्त्वां राजन्नभित आसते ।
धर्माननुयुयुक्षन्तस्तेभ्यः प्रब्रूहि भारत ॥ ३३॥

हे राजन ! जो राजा मरने से बचे हुए हैं, वे सब तुम्हारे चारों ओर बैठे हुए हैं । हे भारत ! वे सब धर्म के विषय में प्रश्न के अभिलाषी हैं । आप उनको धर्म का उपदेश कीजिए ॥३३॥

भवान् हि वयसा वृद्धः श्रुताचारसमन्वितः ।
कुशलो राजधर्माणां सर्वेषामपराश्च ये ॥३४॥

आप वेद और सदाचार के सारे नियम जानते हैं । आप आयु में वृद्ध हैं । जो अन्य विद्वान हैं-उन सब से तुम नीति में भी

—— ॥३०॥

जन्मप्रभृति ते कश्चिद्वृजिनं न ददर्श ह ।
ज्ञातारं सर्वधर्माणां त्वां विदुः सर्वपार्थिवाः ॥३५॥

जन्म से लेकर आज तक तुम्हारी त्रुटि कोई नहीं देखी गई । ये सारे राजा लोग तुमको सब धर्मों के ज्ञाता मानते हैं ॥३५॥

तेभ्यः पितेव पुत्रेभ्यो राजन्ब्रूहि परं नयम् ।
ऋषयश्चैव देवाश्च त्वया नित्यमुपासिताः ॥३६॥

हे राजन् ! अब आप पिता की तरह और इन राजाओं को पुत्र की तरह मानकर नीति का उपदेश करो । आपने ऋषि और देवों की नित्य उपासना की है ॥३६॥

तस्माद्वक्तव्यमेवेदं त्वयाऽवश्यमशेषतः ।
धर्मं शुश्रूषमाणेभ्यः पृष्टेन च सता पुनः ॥३७॥
वक्तव्यं विदुषा चेति धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
अप्रतिब्रुवतः कष्टो दोषो हि भविता प्रभो ॥३८॥

ये लोग धर्म के विषय में कुछ सुनना चाहते हैं और सद्भाव से प्रश्न कर रहे हैं । इस दशा में विद्वान् को अवश्य कहना चाहिये—यह शिष्टजनों का सिद्धान्त है । अब आप भी अवश्य सब कुछ कह डालिए । हे प्रभो ! यदि आपने धर्म की व्याख्या न की—तो बड़ा कष्ट और दोष होगा ॥३७-३८॥

तस्मात्पुत्रैश्च पौत्रैश्च धर्मान्पृष्टान्सनातनान् ।
विद्वान् जिज्ञासमानैस्त्वं प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥३९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

हे भरतर्षभ ! अब ये तुम्हारे पुत्र और पौत्र धर्म के विषय में जिज्ञासा कर रहे हैं और सनातन धर्मों को पूछना चाहते हैं। आप इनको सब कुछ सुना दीजिए ॥३६॥

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में भीष्मकृष्णसम्वाद का चौवनवां अध्याय समाप्त हुआ।



पचपनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

अथाब्रवीन्महातेजाः वाक्यं कौरवनन्दनः ।
हन्त धर्मान्प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम ॥१॥
तव प्रसादाद्गोविन्द भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः ।

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इतना सुनकर महातेजस्वी कुरुवंशश्रेष्ठ भीष्म पितामह हर्ष पूर्वक बोले—अच्छी बात है, मैं धर्म का उपदेश करूँगा। इस समय मेरी वाणी और मन सब ठीक २ हैं। हे गोविन्द ! यह सब कुछ आपकी कृपा से ही हुआ है। आप सारे भूतों के आत्मभूत हैं ॥१॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु ॥
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान्वक्ष्यामि चाखिलान् ॥२॥

राजा युधिष्ठिर बड़ा धर्मात्मा है, वही आगे आकर धर्म के विषय में प्रश्न करे। मेरी इसी में प्रसन्नता है और ऐसा करने पर मैं सारे धर्म की व्याख्या करने लगूंगा ॥२॥

यस्मिन् राजर्षभे जाते धर्मात्मनि महात्मनि ।
अहृष्यन् ऋषयः सर्वे स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥३॥

जब इस राजर्षि, धर्मात्मा, महात्मा युधिष्ठिर ने जन्म लिया था। तब सारे ऋषि लोग बड़े ही प्रसन्न हुए थे—वे ही धर्मराज अब मुझसे प्रश्न करें ॥३॥

सर्वेषां दीप्तयशसां कुरूणां धर्मचारिणाम् ।
यस्य नास्ति समः कश्चित्स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥

इन महायशस्वी कुरुवीरों में धर्मराज युधिष्ठिर के तुल्य कोई वीर नहीं है। वे धर्मराज ही प्रथम प्रश्न करें ॥४॥

धृतिर्दमो ब्रह्मचर्यं क्षमा धर्मश्च नित्यदा ।
यस्मिन्नोजश्च तेजश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥५॥

पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर में धैर्य, दम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धर्म, ओज और तेज-नित्य विद्यमान रहते हैं—वे धर्मराज ही मुझ से प्रथम प्रश्न करें ॥५॥

संबन्धीनतिथीन्भृत्यान्संश्रितांश्चैव यो भृशम् ।
संमानयति सत्कृत्य स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥६॥

राजा युधिष्ठिर अपने सम्बन्धी, अतिथि, भृत्य और आश्रित जनों का सर्वदा सत्कार और मान करते हैं-वे ही आगे आकर प्रश्न करें ॥६॥

सत्यं दानं तपः शौर्यं शान्तिर्दाक्ष्यमसंभ्रमः ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥७॥

राजा युधिष्ठिर में सत्य, दान, तप, शौर्य, शान्ति, दक्षता और असम्भ्रम (असन्देह) सर्वदा विद्यमान रहता है, वही धर्मराज मुझ से धर्म के विषय में प्रश्न करे ॥७॥

यो न कामान्न संरम्भान्न भयान्नार्थकारणात् ।
कुर्यादधर्मं धर्मात्मा स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥८॥

ये धर्मात्मा युधिष्ठिर, काम, क्रोध, भय या स्वार्थ से कभी अधर्म करने वाले नहीं हैं-ये आवें और मुझ से कुछ पूछें ॥८॥

सत्यनित्यः क्षमानित्यो ज्ञाननित्योऽतिथिप्रियः ।
यो ददाति सतां नित्यं स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥९॥

पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर, सत्यवादी क्षमाशील, ज्ञानपरायण और अतिथिप्रिय हैं तथा जो सज्जनों को दान देता रहता है-वही मुझ से कुछ पूछे ॥९॥

इज्याध्ययननित्यश्च धर्मे च निरतः सदा ।
क्षान्तः श्रुतरहस्यश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥१०॥

यह नित्य यज्ञ, अध्ययन करता है और धर्मपरायण रहता है। यह राजा बड़ा क्षमाशील और रहस्य का ज्ञाता है-वही मुझ से आगे आकर पूछे ॥१०॥

वासुदेव उवाच-लज्जया परयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अभिशापभयाद्भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥११
लोकस्य कदनं कृत्वा लोकनाथो विशांपते।
अभिशापभयाद्भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥१२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे विशाम्पते! धर्मराज युधिष्टिर आप के सन्मुख आने में लज्जित होते हैं तथा आपके अभिशाप से भी भय-भीत हैं। इसी से भय-भीत होकर आप के सन्मुख वे नहीं आ रहे हैं। वे इस लोक के इस महाविनाश कारण अपने को ही समझ रहे हैं। इसी कारण से उनको शाप का भय हो रहा है और वे आप के सन्मुख आने से आना-कानी कर रहे हैं ॥१२॥

पूज्यान्मान्यांश्च भक्तांश्च गुरून्सम्बन्धिबान्धवा।
अर्घार्हानिषुभिर्भित्त्वा भवन्तं नोपसर्पति ॥१३॥

वे समझते हैं, कि मैंने पूज्य, मान्य, भक्त, गुरु सम्बन्धी, बान्धव तथा पूजा के योग्य पुरुषों को बाण से बींधा या बिंधवाया है, इसी से वे तुम्हारे समीप नहीं आते हैं ॥१३॥

भीष्म उवाच-- ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥१४॥

भीष्म बोले—हे कृष्ण ! जिस तरह दान, अध्ययन और तप ब्राह्मणों का धर्म है, उसी तरह युद्ध-भूमि में शरीर डालना क्षत्रियों का धर्म है ॥१४॥

पितॄन्पितामहान् भ्रातॄन्गुरून्संबन्धिबान्धवान् ।
मिथ्याप्रवृत्तान्यः संख्ये निहन्याद्धर्म एव सः ॥१५॥

हे अच्युत ! पिता, पितामह, भ्राता, गुरु, सम्बन्धी और बान्धव, जो भी कोई अनुचित मार्ग का अवलम्बन करके युद्ध में सन्मुख आवे-तो उसे मार देना ही धर्म माना गया है ॥१५॥

समयत्यागिनो लुब्धान्गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान्क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥१६॥

हे केशव ! अपनी प्रतिज्ञा के त्यागी, लालची, पापी, गुरुओं को भी जो क्षत्रिय रण में मार गिराता है-वह धर्म का जानने वाला समझना चाहिए ॥१६॥

यो लोभान्न समीक्षेत धर्मसेतुं सनातनम् ।
निहन्ति यस्तं समरे क्षत्रियो वै स धर्मवित् ॥१७॥

जो मनुष्य लोभ के कारण सनातनधर्म सेतु की परवाह नहीं करता-उसे जो क्षत्रिय रण में मार गिराता है, वही धर्मात्मा क्षत्रिय माना जाता है ॥१७॥

लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम् ।
महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥१८॥

आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥१६॥

हे राजन्! रक्त के जल से परिपूर्ण, केशों के तृणों वाली, गजरूपी शैलों से युक्त और ध्वजारूपी वृक्षों से समन्वित नदी को क्षत्रिय रणभूमि में बहा देता है, वही सच्चा धर्म का ज्ञाता माना जाता है। क्षत्रिय वीर को युद्ध की ललकार मिलते ही लड़ पड़ना चाहिए। भगवान् मनु ने धर्म, स्वर्ग और लोक में कीर्ति दिलाने वाला यही युद्ध कर्म माना है ॥१६॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥२०॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन! जब धर्मराज युधिष्ठिर से भीष्म ने इतना कहा—तो वे विनीत होकर भीष्म की दृष्टि के आगे आकर खड़े हो गए ॥२०॥

अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तम् ।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत्तदा ॥२१॥

इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिर ने भीष्म के चरण छुए। भीष्म ने भी आशीर्वाद आदि से उसे बड़ा आनन्दित किया। भीष्म ने राजा युधिष्ठिर के मस्तक को सूंघा और कहा—यहां बैठ जाओ ॥२१॥

तमुवाचाथ गाङ्गेयो वृषभः सर्वधन्विनाम् ।
मां पृच्छ तात विश्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम ॥२२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णं प्रति युधिष्ठिरवाक्ये पंचपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५५॥

अब सब धनुर्धरों में श्रेष्ठ गङ्गा-पुत्र भीष्म ने कहा-हे राजसत्तम ! तात ! युधिष्ठिर ! तुम डरो नहीं। तुमको जो धर्म के विषय में प्रश्न करना है-उसे निःशङ्क होकर पूछ लो ॥२३॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में श्रीकृष्ण भीष्म सम्वाद का पचपनवां अध्याय समाप्त हुआ।



छप्पनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच-प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम्।
अनुमान्य गुरून्सर्वान्पर्यपृच्छत् युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! सब से प्रथम धर्मराज राजा युधिष्ठिरने झुक कर भगवान् कृष्णको प्रणाम और भीष्म पितामह को अभिवादन किया। इसके बाद सारे पूज्य पुरुषों से आज्ञा लेकर वे पूछने लगे ॥१॥

युधिष्ठिर उवाच- राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ॥२॥

हे राजन् ! धर्मात्मा लोग राजाओं के धर्म को सर्वोत्कृष्ट बताते हैं, परन्तु मैं तो इसको बड़ा भार मानता हूं ॥२॥

राजधर्मान्विशेषेण कथयस्व पितामह ।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम् ॥३॥

हे पितामह ! आप राजधर्म की व्याख्या कीजिए, क्योंकि सारे संसार की रक्षा करने वाला यह राजधर्म ही है ॥३॥

त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव ।
मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः ॥४॥

हे कौरव ! राजधर्म के अन्तर्गत ही त्रिवर्ग की सिद्धि है तथा सारा मोक्षधर्म भी इसी में समाविष्ट है ॥४॥

यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्यांकुशो यथा ।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम् ॥५॥

जिस तरह अश्व को रास और हाथी को अंकुश रोकने वाला है, इसी तरह राजधर्म, लोक को नियम में रखने का कारण है।

तत्र चेत्संप्रमुह्येत धर्मे राजर्षिसेविते ।
लोकस्य संस्था न भवेत्सर्वं च व्याकुली भवेत् ॥६॥

यदि राजधर्म में किसी प्रकार की गड़बड़ी हो जावे, तो यह सारी लोकयात्रा ही न हो सके और संसार में उथल पथल मच जावे ॥६॥

उदयन्हि यथा सूर्यो नाशयत्यशुभं तमः ।
राजधर्मास्तथाऽलोक्यां निक्षिपन्त्यशुभां गतिम् ॥७॥

जिस तरह उदय को प्राप्त होता हुआ सूर्य, इस अशुभ अन्धकार का नाश कर देता है, उसी तरह राजधर्म भी बुराइयों को लोक से बाहर निकाल कर फैंक देता है॥७॥

तदग्रे राजधर्मान् हि मदर्थे त्वं पितामह ।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥८॥

हे पितामह ! अब सबसे पूर्व मुझे आप राजधर्म बताओ। हे भरतश्रेष्ठ ! आप सब कुछ बताने में समर्थ हो, क्योंकि धर्मात्माओं में आप सर्वश्रेष्ठ हो ॥८॥

आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परन्तप ।
भवन्तं हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते ॥९॥

हे परन्तप ! आप के पास हमारा आना हमारे कल्याण के निमित्त होगा। वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण बुद्धि के विषय में आपको सर्वोत्कृष्ट मानते हैं ॥९॥

भीष्म उवाच—नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१०॥
शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान्युधिष्ठिर।
निरुच्यमानान्नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ॥११॥

भीष्म बोले—हे युधिष्ठिर ! मैं प्रथम इस महान् धर्म को नमस्कार करता हूं तथा सब कुछ रचना रचने वाले श्रीकृष्ण को प्रणाम करता हूं। अब ब्राह्मणों को नमस्कार करके मैं तुम से सनातन राजधर्म की व्याख्या करता हूं । आज तुम मुझ से सम्पूर्ण राजधर्मों को अच्छी तरह सुनो। मैं बड़े नियम में स्थित होकर तुमको सुनाऊँगा। इसके अनन्तर जो कुछ तुम सुनना चाहोगे-वह भी बताऊंगा ॥१०-११॥

आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया ।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि ॥१२॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! सब से प्रथम राजा को प्रजारञ्जन के निमित्त देवता और द्विजों की यथाविधि पूजा करनी चाहिए ॥१२॥

देवेतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह ।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते ॥१३॥

हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! जब राजा देवता और ब्राह्मणों की पूजा कर लेता है, तो वह इससे धर्म से उऋण हो जाता है, जिससे उसकी लोक में बड़ी पूजा होती है ॥१३॥

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर ।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत् ॥१४॥
साधारणं द्वयं ह्येतद्दैवमुत्थानमेव च ।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवन्निश्चित्य मुच्यते ॥१५॥

हे युधिष्ठिर ! तुमको सर्वदा उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए । देव और ब्राह्मणों की पूजा से ही राजा की उन्नति है । राजा के जितने भी नीति के कार्य हैं-वे सब सिद्ध ही इस तरह होते हैं । देवाराधन और उन्नति-ये दोनों एक ही बात समझनी चाहिए । पुरुषार्थ करना बड़ा श्रेष्ठ है, परन्तु उसकी सिद्धि दैव के ही अधीन है ॥१४-१५॥

विपन्ने च समारम्भे सन्तापं मा स्म वै कृथाः ।
घटस्वैव सदात्मानं राज्ञामेष परो नयः ॥१६॥

हे राजन! जब कोई झंझट उपस्थित हो-तो तुमको सन्ताप नहीं करना चाहिए। तुम तो अपनी उन्नति करते चले जाओ। अपनी उन्नति करना ही उत्कृष्ट राजनीति है ॥१६॥

न हि सत्यादृते किञ्चिद्राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥१७॥

सत्य के सिवा राजा की सिद्धि का अन्य कोई कार्य नहीं है। जो राजा सत्य में परायण है, वह इस लोक और परलोक दोनों में आनन्दित होता है ॥१७॥

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम्।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद्विश्वासकारणम् ॥१८॥

हे राजेन्द्र! ऋषि वर्ग का भी सत्य ही परम धन माना गया है। सत्य के अतिरिक्त राजा का अन्य वस्तु सन्तोष नहीं करा सकती है ॥१८॥

गुणवान् शीलवान्दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥१९॥

शूरवीरतादि गुणों से युक्त, सदाचारी, उदार, कोमल प्रकृति, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, प्रसन्न और अत्यन्त दानी राजा कभी राज्य-लक्ष्मी से च्युत नहीं होता है ॥१९॥

आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ॥२०॥

हे कुरुनन्दन! तुम को सारे कामों में नम्र भाव का आश्रय करना चाहिए, फिर नीति-पूर्वक विचार करना उचित है। शत्रु के

छिद्र खोजना, अपने छुपाना और मन्त्रगोपन–इस त्रयी की सर्वदा रक्षा करते रहना चाहिए ॥२०॥

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्माद् भयमाश्रय ॥२१॥

जब राजा बहुत ही कोमल प्रकृति हो जाता है। सब लोग उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने लग जाते हैं और जो राजा बहुत तीक्ष्ण होता है, उससे भड़क उठते हैं। हे राजन! इससे तुमको मृदुता और तीक्ष्णता दोनों का अवलम्बन करना चाहिए।

अदण्ड्याश्चैव ते पुत्र विप्राश्च ददतां वर।
भूतमेतत्परं लोके ब्राह्मणो नाम पाण्डव ॥२२॥

हे पुत्र! तुम्हें ब्राह्मणों को दण्ड नहीं देना चाहिए और सर्वदा दानपरायण रहना उचित है। हे पाण्डव! ब्राह्मण नामक वर्ण बड़ा ही उत्कृष्ट है ॥२२॥

मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना।
धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्तुमर्हसि ॥२३॥

हे राजेन्द्र! महात्मा मनु ने इस विषय में दो श्लोक अपने धर्मशास्त्र में कहे हैं। तुम उनको अपने हृदय में धारण कर लो।

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥२४॥

हे राजन्! जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोह उत्पन्न हुआ है। अग्नि, क्षत्रिय और लोह का सर्वत्र तेज चलता है, परन्तु अपने उत्पादक कारणों में शान्त होता है ॥२४॥

अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते ।
ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ॥२५॥

यदि कभी लोह पत्थर का, अग्नि जल का और क्षत्रिय ब्राह्मणत्व का विनाश करता है, तो अन्त में लोह आदि तीनों की स्वयं दुर्गति हो जाती है ॥२५॥

एवं कृत्वा महाराज नमस्या एव ते द्विजाः ।
भौमं ब्रह्म द्विजश्रेष्ठा धारयन्ति समर्चिताः ॥२६॥

हे महाराज ! यह सब कुछ समझ कर तुम्हें ब्राह्मणों को सर्वदा नमस्कार करनी चाहिए, क्योंकि ये ही पूजित ब्राह्मण पृथिवी के ऊपर वेद और यज्ञ की रक्षा कर रहे हैं ॥२६॥

एवं चैव नरव्याघ्र लोकत्रयविघातकाः ।
निग्राह्या एव सततं बाहुभ्यां ये स्युरीदृशाः ॥२७॥

हे नरव्याघ्र ! इसी तरह यदि कोई ब्राह्मण तीनों लोक की घातक नीति को स्वीकार करके चल पड़े-तो उसे दण्ड भी देना चाहिए। ऐसे ब्राह्मणों को अपने बाहुबल के द्वारा दबोच देना ही उचित है ॥२७॥

श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा ।
तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमना नृप ॥२८॥

हे तात ! महर्षि शुक्राचार्य ने पूर्वकाल में दो श्लोक कहे हैं। हे महाराज ! युधिष्ठिर ! तुम उनको ध्यान से सुनो और समझो ॥२८॥

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
निगृह्णीयात्स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ॥२६॥

जो मनुष्य शस्त्र उठाकर मारने को दौड़ा चला आता हो, वह चाहे वेदान्त-पारगामी ब्राह्मण ही क्यों न हो, अपने धर्म की रक्षा के निमित्त राजा को धर्मानुसार उसका वध कर ही देना चाहिए।

विनश्यमानं धर्मं हि योऽभिरक्षेत्स धर्मवित् ।
न तेन धर्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥३०॥

जो राजा नष्ट होते हुए धर्म की रक्षा करता है, वही धर्मात्मा कहाता है। अपने धर्म की रक्षा करता हुआ राजा ब्राह्मण के वध से भी धर्मघाती नहीं होता। उस घातक को उसी का क्रोध तो मार रहा है ॥३०॥

एवं चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः ।
सापराधानपि हि तान्विषयान्ते समुत्सृजेत् ॥३१॥

हे नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार धर्म की व्यवस्था को जान कर भी राजा ब्राह्मण की रक्षा करे। यदि ब्राह्मण से कोई अपराध बन आया है-तो उसे मृत्यु-दण्ड के बजाय देश निकाला दे देना चाहिए ॥३१॥

अभिशस्तमपि ह्येषां कृपायीत विशाम्पते ।
ब्रह्मघ्ने गुरुतल्पे च भ्रूणहत्ये तथैव च ॥३२॥
राजद्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्जनम् ।
विधीयते न शारीरं दण्डमेषां कदाचन ॥३३॥

हे विशाम्पते ! ब्राह्मण अच्छे बुरे किसी भी दोष से निन्दा को प्राप्त हो, तो भी उस पर कृपा ही दिखानी चाहिए। ब्रह्मघाती, गुरु-पत्नीगामी, बाल हत्यारे और राजद्रोही ब्राह्मण को देश से निकाल देवे, उसको शरीरदण्ड (मृत्युदण्ड) कभी न देवे ॥३३॥

दयिताश्च नरास्ते स्युर्भक्तिमन्तो द्विजेषु ये।
न कोशः परमोऽन्योऽस्ति राज्ञां पुरुषसञ्चयात् ॥३४॥

वे मनुष्य, बड़े प्रिय मानने चाहिए-जो ब्राह्मण भक्त हैं। राजा को ऐसे पुरुषों के संग्रह से अधिक लाभकारी अन्य कोषादि नहीं समझने चाहिए ॥३४॥

दुर्गेषु च महाराज षट्सु ये शास्त्रनिश्चिताः।
सर्वदुर्गेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम् ॥३५॥

हे महाराज ! बालु का, जल, भूमि, वन, पर्वत और मनुष्य दुर्ग ये छः प्रकार के दुर्ग माने गए हैं। इन छःओं दुर्गों में नर दुर्ग ही महान् दुस्तर होता है ॥३५॥

तस्मान्नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता।
धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ॥३६॥

समझदार राजा को ब्राह्मणादि चारों वर्णों पर दया करनी चाहिए। जो राजा धर्मात्मा और सत्यवादी होता है, वही राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न रख सकता है ॥३६॥

न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः।
अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ॥३७॥

हे पुत्र ! तुमको नित्य क्षमाशील भी नहीं हो जाना चाहिए। जो राजा बिल्कुल ही क्षमाशील हो जाता है-वह तो अधर्म की मूर्ति क्षमाशाली हाथी की भांति समझो ॥३७॥

बार्हस्पत्ये च शास्त्रे च श्लोकौ निगदितः पुरा।
अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः शृणु ॥३८॥

हे महाराज ! इसी अर्थ को प्रकाशित करने वाला बृहस्पति के नीतिशास्त्र में एक श्लोक आया है-मैं वह तुमको सुनाता हूं-तुम ध्यान से सुनो ॥३८॥

क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः।
हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ॥३९॥

जो राजा क्षमा करता रहता है, उसकी नीच मनुष्य अवज्ञा कर देते हैं। क्षमाशील हाथी के शिर पर महावत चढ़ बैठता है।

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः।
वासन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः ॥४०॥

इन सब बातों को सोचकर राजा न तो मृदु ही होवे और न उसे तीक्ष्ण ही होना चाहिए। राजा तो वसन्त ऋतु के सूर्य की भांति होवे, जो न तो ठण्डा ही होता है और न गर्म ही होता है।

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः ॥४१॥

हे महाराज ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम, प्रमाण से राजा नित्य अपने और पराए व्यक्तियों की परीक्षा करता रहे ॥४१॥

व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण ।
न चैव न प्रयुञ्जीत सङ्कीर्णं परिवर्जयेत् ॥४२॥

हे राजन ! तुम बहुत से यज्ञों में बड़ी २ दक्षिणा देने वाले रह कर सारे मृगया आदि व्यसनों का परित्याग किए रहो । शूर-वीरों को सर्वदा विजय-कार्य में प्रयुक्त करे तथा शूर और कायरों का संकर न कर देवे ॥४२॥

लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत ।
उद्वेजयति लोकं च योऽतिद्वेषी महीपतिः ॥४३॥

जो राजा व्यसन में फंस जाता है, उसका लोक तिरस्कार कर देता है. जो राजा अत्यन्त क्रोध करता है, उससे भी संसार बिगड़ उठता है ॥४३॥

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा ।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते ॥४४॥

राजा को सर्वदा गर्भिणी स्त्री के समान सहनशील होना चाहिए । हे महाराज ! इस विषय में जो उत्पत्ति है, वह आप सुनो ॥४४॥

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥४५॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥

जिस तरह गर्भिणी अपने मन को प्रिय लगने वाली वस्तु का परित्याग कर देती है और गर्भ के बालक का हित करती रहती है, इसी तरह राजा को सर्वदा धर्मानुसार वर्ताव करना चाहिए। राजा भी अपने हितकारी कामों को छोड़ कर प्रजा के हितकारी कार्य करे ॥४५-४६॥

न सन्त्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥४७॥

हे पाण्डव ! तुमको कभी धैर्य का परित्याग नहीं करना चाहिए। जो राजा धैर्य के साथ दुष्टों को दण्ड देता है, उसे कुछ भी भय नहीं रहता है ॥४७॥

परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर ।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु ॥४८॥

हे वदताम्बर ! तुमको अपने भृत्यों के साथ अधिक परिहास नहीं करना चाहिए। हे राजशार्दूल ! जिस बात में दोष है, वह तुम सुनो ॥४८॥

अवमन्यन्ति भर्तारं सङ्घर्षादुपजीविनः ।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः ॥४९॥
प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते ।
अयाच्यं चैव याचन्ते भोज्यान्याहारयन्ति च ॥५०॥

सेवक लोग अधिक परिहास आदि के कारण अपने स्वामी का अपमान कर बैठते हैं। वे राजा की आज्ञा में स्थित रहकर

अपना काम नहीं करते, प्रत्युत राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर बैठते हैं। जब उनको किसी कार्य पर लगाया जाता है, तो वे झंझट खड़ी कर देते हैं और गुप्तमन्त्रणा के विषय में भी प्रश्न कर बैठते हैं। जो वस्तु नहीं मांगने की है, उसे मांग बैठते हैं तथा राजा के खाने योग्य वस्तु को आप खा जाते हैं ॥४९-५०॥

क्रुध्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते ।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च ॥५१॥

कभी ये सेवक राजा पर क्रोध करते हैं, कभी राजा को भड़का देते हैं, कभी राजा पर चढ़ बैठते हैं। उत्कोच (घूँस) और वञ्चनाओं से राजा के कार्यों को बिगाड़ डालते हैं ॥५१॥

जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः ।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ॥५२॥

ये लोग ऐसे शासनपत्र निकाल देते हैं, जिससे देश में गड़बड़ी मच जाती है। ये स्त्रियों के अन्तःपुर की रक्षा करने वाले लोगों से मित्रता गांठने लगते हैं और राजा के समान वेष-भूषा बना लेते हैं ॥५२॥

वान्तं निष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य सन्निधौ ।
निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ॥५३॥

हे राजशार्दूल ! ऐसे सेवक राजा के समीप में वमन (उलटी) और कफ उगल देते हैं। किसी प्रकार की लज्जा (अदब) नहीं करते और उसकी गुह्य बातों तक का प्रकाशन कर देते हैं।

हयं वा दन्तिनं वापि रथं वा नृपसत्तम ।
अभिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ॥५४॥

हे नृपसत्तम ! जब राजा परिहासशील या क्षमाशील हो जाता है, तब सेवक उसकी कुछ भी परवा न करके राजा के अश्व, हाथी या रथ पर चढ़ के निकल जाते हैं ॥५४॥

इदं ते दुष्करं राजन्निदं ते दुष्टचेष्टितम् ।
इत्येवं सुहृदो वाचं वदन्ते परिपद्गताः ॥५५॥

हे राजन् ! तुम यह नहीं कर सकते, यह तुम्हारी दुष्ट चेष्टा है। ये दुष्ट सेवक इस प्रकार की बातें सभा में ही मित्रों के सन्मुख कहते रहते हैं ॥५५॥

क्रुद्धे चास्मिन्हसन्त्येव न च हृष्यन्ति पूजिताः ।
संहर्षशीलाश्च तदा भवन्त्यन्योन्यकारणात् ॥५६॥

जब राजा कुपित होता है, तब भी ये लोग हँसते ही रहते हैं और राजा इनका सत्कार भी करे, तो भी ये प्रसन्न नहीं होते । वे तो अपने उस हर्ष को भी अन्य कारण डालकर प्रकट करते हैं ॥५६॥

विस्रंसयन्ति मन्त्रं च विवृण्वन्ति च दुष्कृतम् ।
लीलया चैव कुर्वन्ति सावज्ञास्तस्य शासनम् ॥५७॥

ये लोग राजा के मन्त्र को खोल देते हैं और दुष्कर्म प्रकट कर देते हैं। वे उस राजा की आज्ञा का तिरस्कार साधारण रीति से ही करते रहते हैं ॥५७॥

अलङ्कारे च भोज्ये च तथा स्नानानुलेपने ।
हेलनानि नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपशृण्वतः ॥५८॥

हे नरव्याघ्र! अलङ्कार, भोजन, स्नान, चन्दन लेपन, सब कुछ राजा के तिरस्कार के ढंग पर करते हैं। यदि राजा सुन लेवे, तो भी कुछ भयभीत नहीं होते हैं ॥५८॥

निन्दते स्वानधीकारान्सन्त्यजन्ते च भारत ।
न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च ॥५९॥

हे भारत! ऐसे सेवक अपने अधिकारों की निन्दा करते हैं, राजा को दबाने के लिए उन्हें छोड़ बैठते हैं। वे अपने वेतन से सन्तुष्ट नहीं होते और समय पड़े, तो राजदेय धन का भी अपहरण कर डालते हैं ॥५९॥

क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा ।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैव वदन्त्युत ॥६०॥

ये लोग तो सूत में बंधे हुए पक्षी की भाँति राजा से खेल करना चाहते हैं। राजा तो हमारा बनाया हुआ है, इस तरह की बातें अन्य लोगों के सन्मुख प्रकाशित करते हैं ॥६०॥

एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत ।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ॥६१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राजधर्मकथने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

हे युधिष्ठिर ! जब राजा परिहासपरायण या क्षमाशील हो जाता है, तो उस में इस प्रकार की तथा अन्य न्यूनता उत्पन्न हो जाती हैं ॥६१॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में भीष्म के राजधर्म कथन का छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ।



सत्तावनवाँ अध्याय

भीष्म उवाच—नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर ।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ॥१॥

भीष्म बोले—हे युधिष्ठिर ! राजा को सर्वदा उद्योगपरायण होना उचित है। जो राजा स्त्री की भाँति उद्योग हीन है, उसकी कुछ प्रशंसा नहीं होती है ॥१॥

भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशाम्पते ।
तदिहैकमना राजन् गदतस्तं निबोध मे ॥२॥

हे विशाम्पते ! इस विषय में भगवान् शुक्राचार्य ने एक श्लोक कहा है। हे राजन ! मैं तुमको वह सुनाता हूँ-तुम ध्यान से सुनो ॥२॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥३॥

जिस तरह सर्प बिलचारी जन्तुओं को ग्रस लेता है, उसी तरह किसी का विरोध नहीं करने वाले राजा और विदेश में अपनी विद्या का प्रचार नहीं करने वाले ब्राह्मण-इन दोनों को भूमि ग्रस जाती है ॥३॥

तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि ।
सन्धेयानभिसन्धत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ॥४॥

हे नरशार्दूल ! अब तुम इस बात को अपने हृदय में धारण कर लो, कि जिनसे सन्धि करनी चाहिए-उनसे सन्धि करो और जिनसे विरोध करना चाहिए-उनसे विरोध करते रहो ॥४॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत् ।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ॥५॥

स्वामी, अमात्य, कोष, राष्ट्र, सुहृद्, दुर्ग और सेना, ये राज्य के सात अङ्ग हैं। इनमें जो भी राजा का विरोध करे, वह गुरु हो या मित्र हो-उसे शीघ्र मार गिराना चाहिए ॥५॥

मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीतः श्लोकः पुरातनः ।
राजाधिकारे राजेन्द्र बृहस्पतिमते पुरा ॥६॥

हे राजेन्द्र ! राजा मरुत्त ने राजधर्म के उद्देश्य से इस विषय में एक प्राचीन श्लोक का कथन किया है, जो बृहस्पति के नीति शास्त्र के आधार पर कहा गया है ॥६॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः ॥७॥

जो गुरु भी मदोन्मत्त हो गया हो और कोई अकार्य के विचार को भूल गया हो, धर्ममार्ग छोड़कर चल पड़ा हो, उस को दण्ड देना ही श्रेयस्कर है ॥७॥

बाहोः पुत्रेण राज्ञा च सगरेण च धीमता ।
असमञ्जाः सुतो ज्येष्ठस्त्यक्तः पौरहितैषिणा ॥८॥
असमञ्जाः सरय्वां स पौराणां बालका नृप ।
न्यमज्जयदतः पित्रा निर्भर्त्स्य स विवासितः ॥९॥

पूर्वकाल में राजा बाहु के पुत्र बुद्धिमान् सगर ने पुरवासियों के हित को ध्यान में रखकर अपने ज्येष्ठपुत्र असमञ्जस का परित्याग कर दिया था। हे नृप ! यह पुरवासियों के बालकों को सरयू में डुबो देता था। इसी कारण से राजा सगर ने अपने पुत्र असमञ्जस को अपमानित करके पुर से निकाल दिया ॥८-९॥

ऋषिणोद्दालकेनापि श्वेतकेतुर्महातपाः ।
मिथ्या विप्रानुपचरन्संत्यक्तो दयितः सुतः ॥१०॥

महर्षि उद्दालक ने भी महातपस्वी अपने प्रिय पुत्र श्वेतकेतु का परित्याग इसी लिए कर दिया, कि वह तपस्वी ब्राह्मणों के साथ छेड़छाड़ करता था ॥१०॥

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥११॥

प्रजा का पालन करना ही राजा का सनातन धर्म है । राजा सत्य की रक्षा और व्यवहार में कोमलता रखे ॥११॥

न हिंस्यात्परवित्तानि देयं काले च दापयेत्।
विक्रान्तः सत्यवाक्क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥१२॥

राजा किसी के धन का नाश न करे और जो जब देने योग्य हो-उसे दे देवे। जो राजा पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील होता है, वह अपने राज्यसिंहासन से कभी विचलित नहीं होता।

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥१३॥
त्रय्यां संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात्परम् ॥१४॥

जो राजा जितेन्द्रिय, क्रोधविजेता और शास्त्र के अर्थ के तत्व का ज्ञाता है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में सदा परायण है। उत्साह, दण्ड, प्रभुशक्ति आदि तीनों वातों का यथावत् पालन और मन्त्र का जो गोपन करना जानता है, वही राजा होने के योग्य है। अपने मन्त्र की रक्षा न कर सकना ही राजा का सब से बड़ा दोष है ॥१३-१४॥

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥१५॥

राजा को चारों वर्णों के धर्मों की भी अच्छी तरह रक्षा करनी उचित है। धर्मों के संकर होने से प्रजा की रक्षा करना राजाओं का सनातन धर्म है ॥१५॥

न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत् ।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ॥१६॥

राजा किसी का विश्वास न करे। जिस आप्त मित्र आदि में विश्वास करना भी पड़े-तो बहुत विश्वास न करे। राजा सन्धि-विग्रह आदि के गुण-दोषों का नित्य अवलोकन करता रहे।

द्विडच्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते।
त्रिवर्गे विदितार्थश्च युक्ताचारोपधिश्च यः ॥१७॥

जो राजा अपने शत्रु के दोष देखने में कुशल है, वह प्रशंसनीय माना जाता है। धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के तत्व का ज्ञाता राजा श्रेष्ठ होता है। जो अपने गुप्तचर ठीक रख सके, जो शत्रु के अमात्य आदि के भेदन करने में निपुण हो, वही राजा उत्तम है ॥१७॥

कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥१८॥

जो राजा अपने कोश को भरता रहे और यमराज तथा कुबेर के समान बली और धनी हो। अमात्य,राष्ट्र, दुर्ग,कोश और दण्ड-ये पाँच अपने और पाँच शत्रु के इस प्रकार दशवर्ग कहाते हैं—इनका जानने वाला तथा अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि के उपायों का ज्ञान रखने वाला राजा उत्तम है ॥१८॥

अभृतानां भवेद्भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः।
नृपतिः सुमुखश्च स्यात्स्मितपूर्वाभिभाषता ॥१९॥

जो राजा वृत्तिहीन पुरुषों के भरण पोषण का प्रबन्ध करता है तथा गुणिवानों की देख रेख रखता है, वही श्रेष्ठ राजा है। राजा सर्वदा प्रसन्न मुख और मुस्कराहट के साथ भाषण करने का अभ्यासी होना चाहिए ॥१६॥

उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः।

सतां वृत्ते स्थितमतिः सन्तोप्यश्चारुदर्शनः ॥२०॥

राजा को चाहिए, कि वह सदा वृद्ध पुरुषों की सेवा में तत्पर, निरालस और लालचहीन रहे। इसकी बुद्धि सर्वदा सज्जनों के अनुकूल मार्ग पर चले। यह सबका प्रसन्न करने वाला और सदा प्रसन्न मुखधारी होना चाहिए ॥२०॥

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात्कदाचन।

असद्भ्यश्च समादद्यात्सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥२१॥

राजा कभी भी सज्जनों के हस्तगत धन का अपहरण न करे और असज्जनों के हाथ में कभी धन न छोड़े, किन्तु उसको छीन कर सज्जनों को प्रदान कर दे ॥२१॥

स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः।

काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥२२॥

राजा स्वयं विजय से धन का संग्रह करके दानी और जितेन्द्रिय बना रहे। इसके साधन सारे उत्तम होने चाहिए। समय के ऊपर दाता रह कर धन का भोग भी करे। राजा का सबसे श्रेष्ठ धन सदाचार माना गया है ॥२२॥

शूरान्भक्तानसंहार्यान्कुले जातानरोगिणः ।
शिष्टान् शिष्टाभिसंबन्धान्मानिनोऽनवमानिनः ॥
विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान् ।
धर्मे च निरतान्साधूनचलानचलानिव ॥२४॥
सहायान्सततं कुर्याद्राजा भूतिपरिष्कृतः ।
तैश्च तुल्यो भवेद्भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥२५॥
प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत्समा ।
एवं कुर्वन्नरेन्द्रोऽपि न खेदमिह विन्दति ॥२६॥

शूरवीर, भक्त, शत्रु से नहीं मिलने वाले, कुलीन, आरोग्य, श्रेष्ठ और श्रेष्ठ पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाले, आत्माभिमानी अन्य का अपमान नहीं करने वाले, विद्वान, लोकाचार के ज्ञाता, परलोक के देखने वाले, धर्मनिरत, महात्मा, विपत्ति में पर्वत के तुल्य अचल, सहायकों का संग्रह राजा को करते रहना चाहिए। इसी से राजा को कल्याण की प्राप्ति होती है। राजा इन अपने साथियों के साथ राज्य का भोक्ता बने । केवल राजा में तो छत्रधारण मात्र का ही भेद होना चाहिए। इसीसे इसकी आज्ञा चलती रहेगी। राजा की प्रत्यक्ष और परोक्ष सारी वृत्ति इनके अनुकूल या समान होनी चाहिए। जो राजा इस तरह करता है, वह कभी संकट में नहीं फँस सकता है ॥२३-२६॥

सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत् ।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव वध्यते ॥२७॥

जो राजा अपने सारे बन्धु बान्धवों पर शङ्का करता रहे और जहां तक बन सके अपने बान्धवों का सब कुल छीन लेवे—ऐसे उद्धत लालची राजा को उसके ही बान्धव बहुत शीघ्र मार देते हैं ॥२७॥

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः ।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः परितश्चावतिष्ठते ॥२८॥

जो राजा शुद्ध अन्तःकरण से युक्त रह कर प्रजा के मन के वशीकरण में लगा रहता है, वह शत्रुओं से घिर जाने पर भी राज्य से च्युत नहीं होता । उसके बान्धव सर्वदा उसको घेरे रहते हैं ॥२८॥

अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः ।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥२९॥

जो राजा क्रोध रहित, व्यसन हीन, अल्प-दण्ड-दाता और जितेन्द्रिय होता है, उसका लोग बहुत ही विश्वास करते हैं । वह हिमालय की तरह अचल होकर राज्यसिंहासन पर स्थिर रहता है ॥२९॥

प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः ।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित्तथा ॥३०॥
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः ।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥

जो विद्वान्, त्याग गुण से युक्त, शत्रु के छिद्रों के जानने में तत्पर, सब वर्ण के लोगों को देखकर प्रसन्न हो जाने वाला, नीति अनीति का ज्ञाता, शीघ्र कार्यकर्ता, क्रोधविजेता, शीघ्र ही कृपालु हो जाने वाला, अत्यन्त—मनस्वी, शान्त—प्रकृति, उद्योगी, क्रियाशील, सत्यवक्ता राजा ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥३०-३१॥

आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च ।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥३२॥

जिस राजा के कार्य प्रारम्भ करते ही समाप्त होते दिखाई देवे, वही राजा सब राजाओं में श्रेष्ठ माना गया है ॥३२॥

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥३३॥

पिता के घर में पुत्र की भांति, जिसके देश में मनुष्य निर्भय विचरते हों, उस राजा को सर्वश्रेष्ठ राजा जानना चाहिए ॥३३॥

अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः ।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ॥३४॥

जिस राजा के राज्य में पुर और राष्ट्र की प्रजा ऐश्वर्य-शालिनी तथा नीति अनीति की जानने वाली हो, वह राजा सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए ॥३४॥

स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः ।
असंघातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि ॥३५॥

वश्या नेया विधेयाश्च न च संघर्षशीलिनः ।

विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः ॥३६॥

जिस राजा के देश वासी जन अपने २ काम में लग रहे हों, कोई किसी से लड़ाई झगड़ा न करता हो, जो उदार गुण सम्पन्न हो, विधि-पूर्वक राजा से सुरक्षित हों, जो राजा के वश में रहकर राजा की आज्ञा में नम्रता के साथ तत्पर, स्पर्धा के साथ बढ़ने वाले एवं दानरुचि वाले हों, ऐसे प्रजाजन का स्वामी राजा ही सच्चा राजा होता है ॥३५-३६॥

न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः ।

विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥३७॥

जिस राजा के देश में छल, कपट, माया, (धोखा) मत्सर (डाह) न हो, उसी राजा के देश में सनातन धर्म की वृद्धि होती है ।

यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः ।

सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥३८॥

जो राजा ज्ञानी जनों का आदर करता है, जानने योग्य शास्त्रों को जानता रहता है, जो प्रजा के हित में तत्पर है, जो सज्जनों के मार्ग का अनुगामी होता है, वही राजा राज्यशासन के योग्य समझना चाहिए ॥३८॥

यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः ।

न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥३९॥

जिस राजा के नियत किए गए दूत और मन्त्र का शत्रु को पता न लगे-वही राजा राज्यशासन चला सकता है ॥३९॥

श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना ।
आख्याते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥४०॥
राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥४१॥

महात्मा भृगुवंशोत्पन्न शुक्राचार्य ने पूर्वकाल में एक श्लोक रामचरित के वर्णन के प्रसङ्ग में कहा है, कि मनुष्य प्रथम राजा की रक्षा करे-उसके बाद भार्या और फिर धन की रक्षा करे। जब राजा ही संसार में न रह सकेगा, तो फिर भार्या और धन की रक्षा कहां से हो सकेगी ॥४१॥

तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः ।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥४२॥

अपने राज्य पर दीर्घ काल राज्य करने की इच्छा वाले राजा को प्रजा की स्पष्ट रक्षा के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है । प्रजा की रक्षा राजा के दोनों लोकों की रक्षा करने वाली है ॥४२॥

प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ ।
राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु ॥४३॥

प्राचेतस मनु ने इन राजधर्म प्रकरण में दो श्लोकों का गान किया है । तुम उनको एकाग्र मन होकर सुनो ॥४३॥

पङेतान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥४४॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥४५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

पुरुष, विद्याध्ययन नहीं कराने वाले आचार्य, विद्या रहित ऋत्विक्, अरक्षक राजा, अप्रियवादिनी भार्या, गाँव में रहने वाले ग्वाल और वन में रहने वाले नाई, इन छः व्यक्तियों का समुद्र में टूटी हुई नौका की भांति परित्याग कर दे । बस ? इसी में कल्याण समझना चाहिए ॥४४-४५॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में राजा के लक्षणों के वर्णन का सत्तावनवां अध्याय समाप्त हुआ



अट्ठावनवां अध्याय

भीष्म उवाच—एतत्ते राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर ।
बृहस्पतिर्हि भगवान्न्याय्यं धर्मं प्रशंसति ॥१॥

भीष्म बोले—हे युधिष्ठिर ! मैंने तुमको सारे राजधर्मों का घृत निकाल कर रख दिया है, भगवान् बृहस्पति ने सबसे अधिक इसी नीतिधर्म की प्रशंसा की है ॥१॥

विशालाक्षश्च भगवान्काव्यश्चैव महातपाः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥२॥
भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः ।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥३॥
रक्षामेव प्रशंसन्ति धर्मं धर्मभृतां वर ।
राज्ञां राजीवताम्राक्ष साधनं चात्र मे शृणु ॥४॥

हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! कमलनेत्र ! राजन ! युधिष्ठिर ! भगवान् विशालाक्ष, महातपस्वी शुक्राचार्य, सहस्रनेत्रधारी महेन्द्र, प्रचेता-पुत्र, मनु, भगवान भरद्वाज, गौरशिरा मुनि आदि ने राजनीतिशास्त्र की रचना की है। ये सारे ब्रह्म ज्ञान के वेत्ता और ब्रह्मवादी थे। ये लोग प्रजा की रक्षा रूप राजधर्म की ही प्रशंसा करते आए हैं। अब आप इसके साधनों को ध्यान से सुनो।

चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात् ।
युक्त्या दानं च चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥५॥
सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम् ।
अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥६॥
केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम् ।
द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ॥७॥

हे युधिष्ठिर ! गुप्तचरों का अच्छी तरह नियत करना, समय पर दूत को अन्य राज्यों में भेजना, बिना रागद्वेष के दान, युक्ति से कर ग्रहण तथा अयुक्ति से कर संग्रह नहीं करना, सज्जनों के

साय समागम, शूरवीरता, चतुरता, सत्य एवं प्रजाहित में तत्पर रहना, सरलता या कुटिलता से शत्रु पक्ष के पुरुषों को अपनी ओर मिलाना, जीर्ण या गिरते हुए खण्डहरों की रक्षा, कालानुसार शरीर और आर्थिक दण्ड का प्रयोग करना राजा का कर्तव्य है ॥५-७॥

साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम् ।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥८॥
बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम् ।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥९॥
पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसङ्घातभेदनम् ।
अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम् ॥१०॥

राजा साधु पुरुषों का कभी परित्याग न करे। कुलीन पुरुषों को सर्वदा अधिकार पर नियत करे। संग्रह योग्य धान्य आदि का विधि-पूर्वक राजा को संग्रह करते रहना उचित है। बुद्धिमान् पुरुषों की सर्वदा सेवा करना, सेना के पुरुषों को उत्साहित करना और प्रजा की देख रेख करना, राजा का महान् कर्तव्य है। कितना भी कठिन कार्य राजा पर आ पड़े, वह कभी चिन्तित न होवे। वह सर्वदा कोश के बढ़ाने में लगा रहे। पुर की रक्षा, भृत्यों का विश्वास न करना, पुरवासियों के अनुचित संगठन का भेदन, शत्रु, मित्र और उदासीनों की भी पड़ताल रखना-राजा का कार्य है ॥८-१०॥

उपजापश्च भृत्यानामात्मनः पुरदर्शनम् ।
अविश्वासः स्वयं चैव परस्याश्वासनं तथा ॥११॥
नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥१२॥
उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥१३॥

शत्रु द्वारा अपने भृत्यों का तोड़ने की देख रेख रखना, अपनी राजधानी का अन्वेक्षण (पड़ताल) रखना, राजा का काम है। राजा स्वयं किसी का विश्वास न करे और अन्य को अपना विश्वास दिलाता रहे। नीति धर्म के अनुसार चलना, शत्रुओं की क्रियाओं का ज्ञान, अनार्य आचरण का त्याग, उद्योग करना आदि राजाओं के उत्थान कर्तव्य बृहस्पति ने बताए हैं। राजधर्म के जो मूल श्लोक हैं, तुम उनको मुझसे सुनो ॥११-१३॥

उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः ।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥१४॥

देवों ने उद्योग से ही अमृत प्राप्त किया और उद्योग से ही असुरों को मार गिराया। इसी तरह इन्द्र ने भी स्वर्ग में अपने उद्योग से ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है ॥१४॥

उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति ।
उत्थानवीरान्वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥१५॥

जो कर्म वीर पुरुष होता है-वह वाक्शूरों को जीत लेता है। जो केवल वाक्वीर होते हैं, वे उद्योग वीरपुरुषों की बड़ी प्रीति से सेवा स्वीकार करते हैं ॥१५॥

उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥१६॥

जो राजा बहुत बुद्धिमान है, परन्तु उद्योगशील नहीं है। उस पर शत्रु आक्रमण कर देते हैं और वह निर्विष सर्प की भांति पराजित हो जाता है ॥१६॥

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥१७॥

बलवान राजा भी दुर्बल शत्रु को किसी प्रकार उपेक्षा न करे। आग तो थोड़ा भी जला डालती है और विष थोड़ा भी मार बैठता है ॥१७॥

एकाङ्गेनापि संभूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः।
सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥१८॥

यदि शत्रु एक सेना के अङ्ग अश्व आदि से सुसम्पन्न होकर दुर्ग में घुस आवे-तो राजा कितना भी समृद्धिशाली हो, उसके देश को वह सन्तापित कर देता है ॥१८॥

राज्ञो रहस्यं तद्वाक्यं यथार्थं लोकसंग्रहः।
हृदि यच्चास्य जिह्मं स्यात्कारणेन च यद्भवेत् ॥१९॥
यच्चास्य कार्यं वृजिनमार्जवेनेह निर्जयेत्।
दम्भनार्थं च लोकस्य धर्मिष्ठामाचरेत्क्रियाम् ॥२०॥

गुप्त मन्त्र के भेदन का वाक्य, लोक के जय रूप स्वार्थ के लिए लोगों का संग्रह, शत्रु जय के लिए हृदय स्थित कपट तथा

जो कुछ हीन कार्य, इन सब बातों को अपने नम्र भाव से राजा रोक देवे। यह सब कुछ लोगों का वञ्चन करना है। राजा को तो सारी धर्मयुक्त क्रिया ही करनी चाहिए ॥१६-२०॥

राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः।
न शक्यं मृदुना वोढुमायासस्थानमुत्तमम् ॥२१॥

राज्य एक बहुत भारी बोझा है, इसको अयोग्य व्यक्ति धारण करने में समर्थ नहीं हो सकता है। जो कठिन परिश्रम साध्य है, उस काम को कोमल मनुष्य कैसे कर सकता है ॥२१॥

राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते।
तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर ॥२२॥

यह राज्य तो सबको चील को मांस की तरह रोचक प्रतीत होता है। यह धारण तो परिश्रम और सरलता से ही हो सकता है। हे युधिष्ठिर! इससे सर्वदा कोमल तथा क्रूरभाव से ही राज्य की रक्षा करनी उचित है ॥२२॥

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद्रक्षमाणस्य वै प्रजाः।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवं वृत्ता हि भूमिपाः ॥२३॥

यद्यपि राजा को प्रजा की रक्षा में बड़ी भारी आपत्तियां हैं, तो भी राजा को इससे विपुलधर्म की प्राप्ति होती है। जो धर्मानुसार प्रजा की रक्षा करता है, वही सच्चा राजा होता है ॥२३॥

एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः।
भूयस्ते यत्र संदेहस्तद् ब्रूहि कुरुसत्तम ॥२४॥

हे कुरुसत्तम ! मैंने तुमको राजधर्म का यह बहुत थोड़ा भाग सुनाया है। अब तुमको जो कुछ और भी सन्देह हो, उसे सुनाओ ॥२४॥

वैशम्पायन उवाच–ततो व्यासश्च भगवान्देवस्थानोऽश्म एव च

वासुदेवः कृपश्चैव सात्यकिः सञ्जयस्तथा ॥२५॥
साधु साध्विति संहृष्टाः पुष्यमाणैरिवाननैः।
अस्तुवंश्च नरव्याघ्रं भीष्मं धर्मभृतां वरम् ॥२६॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इतना सुनते ही भगवान व्यास महर्षि देवस्थान, अश्मक, वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण, कृपाचार्य, सात्यकि और सञ्जय आदि सब लोगों के मुख, पुष्प की भांति खिल गए। इन्होंने प्रसन्न होकर साधुवाद की ध्वनि की। इन्होंने नरश्रेष्ठ, धर्मात्मा भीष्म की बड़ी प्रशंसा की ॥२५-२६॥

ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन् ॥२७॥
श्व इदानीं स्वसंदेहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥२८॥

इसके अनन्तर उदास मन हुए कुरुवंशश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर की आंखों में से आसुओं की धारा बह निकली। उसने धीरे से हाथ बढ़ा कर भीष्म के चरण पकड़ लिए और यह वचन कहा—हे पितामह ! अब मैं अपने सन्देहों को कल पूछूंगा, क्योंकि पृथिवी के रस को पीकर अब तो सूर्य अस्त होना ही चाहते हैं।

ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥

इसके बाद श्रीकृष्ण, कृपाचार्य और राजा युधिष्ठिर आदि महानुभावों ने बड़ी प्रसन्नता से ब्राह्मणों को प्रणाम किया। उन्होंने गङ्गा-पुत्र भीष्म की प्रदक्षिणा की और वे रथों पर चढ़ गए ॥२६॥

दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरादि
स्वस्थागमने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५१॥

अब इन सब व्रतशील महाभागों ने दृषद्वती नदी में स्नान करके सन्ध्या आचमन और जप तथा स्वस्तिवाचन आदि किए। ये परन्तप विधि पूर्वक सन्ध्या करके फिर हस्तिनापुर में आनन्द—पूर्वक प्रविष्ट हुए ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासन
पर्व में राजा युधिष्ठिर का श्रीकृष्णादि के साथ हस्तिनापुर
जाने का अट्ठावनवां अध्याय समाप्त हुआ।



उनसठवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच-ततः कल्यं समुत्थाय कृतपूर्वाह्निकक्रियाः ।

ययुस्ते नगराकारै रथैः पाण्डवयादवाः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! जब रात व्यतीत हो गई-तो प्रातःकाल पाण्डव और यादव उठे । उन्होंने उठकर शौच स्नान सन्ध्या आदि प्रातःकाल की क्रियाएँ की और फिर वे नगराकार रथों के द्वारा भीष्म पितामह की ओर चल दिए ॥१॥

प्रतिपाद्य कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघ ।

सुखां च रजनीं पृष्ट्वा गांगेयं रथिनां वरम् ॥२॥

हे अनघ ! अब वे कुरुक्षेत्र में पहुँच कर भीष्मपितामह के पास पहुँचे । वहाँ उन्होंने महारथी भीष्मपितामह से सुख-पूर्वक रात के व्यतीत होने का कुशल वृत्तान्त पूछा ॥२॥

व्यासादीनभिवाद्यर्षीन्सर्वैस्तैश्चाभिनन्दिताः ।

निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥३॥

इन लोगों का व्यासादि सारे ऋषियों ने भी बड़ा स्वागत किया । अब वे सब ओर से भीष्मपितामह को घेर कर उनके पास बैठ गए ॥३॥

ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

अब्रवीत्प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्य यथाविधि ॥४॥

इसके बाद महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर ने यथाविधि पूजा की और हाथ जोड़कर यह बात पूछी ॥४॥

युधिष्ठिर उवाच—य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परन्तप ॥५॥

युधिष्ठिर बोले—हे भरतवंशश्रेष्ठ! परन्तप! भीष्म! यह जो राजा शब्द संसार में प्रचलित है, इसकी किस तरह उत्पत्ति हुई—आप प्रथम यह बताओ ॥५॥

तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः ॥६॥
तुल्यशुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च।
निःश्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान् ॥७॥
समानजन्ममरणः समः सर्वगुणैर्नृणाम्।
विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति ॥८॥

राजा और प्रजा मनुष्यों के एक से ही हाथ, भुजा और ग्रीवा होती है और समान ही बुद्धि तथा इन्द्रियां हैं। इनको दुःख सुख का अनुभव भी समान रूप से ही होता है। पीठ, मुख और उदर भी इनका तुल्य ही है। वीर्य, अस्थि, मज्जादि धातु भी समान है, मांस और रक्त आदि भी तुल्य ही है। श्वासोश्वास की क्रियाएँ भी समान है और प्राण शरीर आदि भी एक से दिखाई पड़ते हैं। राजा और साधारण मनुष्यों के जन्म और मरण में भी कोई भेद दिखाई नहीं देता है। इस तरह सारे मनुष्यों

से राजा के गुण, कर्म स्वभाव मिलते हैं, फिर यह अकेला बड़े २ शूरवीरों का कैसे अधिपति बन बैठता है ॥६-८॥

कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम् ।
रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवांछति ॥९॥

यह पृथिवी अनेक आर्यवीरों से भरी पड़ी है, फिर राजा ही अकेला कैसे इसकी रक्षा करने में समर्थ होता है और वही क्यों प्रजा के आनन्द की कामना करता है ॥९॥

एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति ।
व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥१०॥

इस अकेले राजा की प्रसन्नता को देखकर सारे प्रजा के जन क्यों प्रसन्न रहते हैं और राजा के चिन्तित होने पर सारे लोग व्याकुल हो उठते हैं-यह क्या बात है ॥१०॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
कृत्स्नं तन्मे यथातत्त्वं प्रब्रूहि वदतां वर ॥११॥

हे भरतर्षभ ! मैं इस बात का तत्व जानना चाहता हूँ । हे वदताम्वर ! आप इसे जहां तक हो-ठीक २ वर्णित कीजिए ॥११॥

नैतत्कारणमल्पं हि भविष्यति विशाम्पते ।
यदेकस्मिन् जगत्सर्वं देववद्याति सन्नतिम् ॥

हे विशाम्पते ! इसमें कोई साधारण कारण गुप्त नहीं है, जो अकेले राजा को देव की तरह मानकर सारा जगत् उसके सन्मुख झुकता रहता है ॥१२॥

भीष्म उवाच—नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥१३॥

भीष्म बोले—हे नरव्याघ्र ! तुम सावधान हो जाओ-मैं इस प्रश्न का पूर्ण रूप से उत्तर देता हूं, कि किस प्रकार सत्ययुग से यह राज्य व्यवस्था की परिपाटी चली है ॥१३॥

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥१४॥

हे राजन् ! सत्ययुग में राज्य, राजा, दण्ड या दण्ड देने वाला, कुछ भी नहीं था । सारी प्रजा धर्म के अनुसार चलती थी, इससे वे अपनी रक्षा आप ही परस्पर कर लेते थे ॥१४॥

पाल्यमानास्तथाऽन्योऽन्यं नरा धर्मेण भारत ।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत् ॥१५॥

हे भारत ! धर्म को लक्ष्य में रखकर लोग एक दूसरे की रक्षा कर रहे थे, परन्तु इस तरह आगे काम चलता न देखकर उनको बड़ा खेद हुआ और उनकी बुद्धि चकराने लगी ॥१५॥

ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥१६॥

हे मनुजर्षभ ! जब प्रजा के लोगों को मोह छा गया-तो ज्ञान के लोप से उनका धर्म भी नष्ट होने लगा ॥१६॥

नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा ।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥१७॥

जब उनका ज्ञान ही नष्ट हो गया-तो लोग अज्ञान के वश में पड़ गए। हे भरतसत्तम ! इस तरह आगे चलकर वे लोभ के पंजे में फंसे ॥१७॥

अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः ।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥१८॥

हे प्रभो ! जब लोगों का विचाराभिमर्श लुप्त हो गया-तो उनको काम नामक दोष की प्राप्ति हुई ॥१८॥

तांस्तु कामवशं प्राप्तान् नामाभिसंस्पृशत् ।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर ॥१९॥

जब लोग काम के वश में हो गए-तो उनके मन में राग की प्रवृत्ति हुई। हे युधिष्ठिर ! इसी राग के वश में हुए उनको कुछ भी कार्य-अकार्य का ज्ञान नहीं रह पाया ॥१९॥

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥२०॥

हे राजेन्द्र ! अब तो जिससे संभोग नहीं करना चाहिए-उससे संभोग करने लगे और जो वचन नहीं कहना चाहिए-वह कहने लगे। भक्ष्याभक्ष्य की कुछ परिपाटी न रही तथा दोष अदोष की चर्चा ही न रखी ॥२०॥

विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह ।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन्धर्मो नाशमथागमत् ॥२१॥

जब लोग अधर्म में फंसकर नष्ट होने लगे-तो वेद भी लुप्त हो चला। हे राजन्! जब वेद नष्ट होता है, तब धर्म भी नष्ट हो ही जाता है ॥२१॥

नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥२२॥

जब धर्म और वेद का नाश हो गया-तो देवता भयभीत हो उठे। हे नरशार्दूल! देवता भयातुर होकर वे ब्रह्मा जी की शरण में पहुंचे ॥२२॥

प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम्।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥२३॥

उन्होंने लोक पितामह ब्रह्मा की स्तुति करके उनको प्रसन्न किया। वे सारे देवता, दुःख के वेग से आहत हुए हाथ जोड़कर ब्रह्माजी से कहने लगे ॥२३॥

भगवन्नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम्।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥२४॥

हे भगवन्! नरलोक में स्थित सारा वेद, लोभ, मोहादि भावों के जाग्रत होने से नष्ट हो गया है। यह देखकर हमारे चित्त में बड़े भय का सञ्चार हो रहा है ॥२४॥

ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर।
ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर।

बासठवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच-शिवान्सुखान्महोदर्कानहिंस्रान् लोकसंमतान्
ब्रूहि धर्मान्सुखोपायान्मद्विधानां सुखावहान् ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! अब आप ऐसे कल्याणकारी, सुखदायी, महान ऐश्वर्य से संयुक्त, हिंसारहित, लोकसंमत, सुखोपेत, मुझ जैसे व्यक्तियों को सुखदायी धर्मों का उपदेश करो ।

भीष्म उवाच – ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान्नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥२॥

भीष्म ने कहा—हे भरतवंशश्रेष्ठ ! राजन् ! ब्राह्मण के चारों आश्रमों का वर्णन यह मैंने कर दिया है, जिनका तीनों वर्णों में कोई भी वर्ण अनुसरण नहीं कर सकता ॥२॥

उक्तानिकर्माणिबहूनिराजन्स्वर्ग्याणिराजन्यपरायणानि
नेमानि दृष्टान्तविधौ स्मृतानि क्षात्रे हि सर्वं विहितं यथावत्

हे राजन् ! इसी तरह बहुत से राजाओं के कर्म बताए-जो स्वर्ग के देने वाले हैं। इनको दृष्टान्त रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता है। क्षत्रिय धर्म में तो धर्मशास्त्रोक्त हिंसायुक्त युद्ध कर्म विहित ही हैं। उन प्रवृत्तिप्रधान कर्मों की निवृत्तिप्रधान ब्राह्मणों के कर्मों से कैसे तुलना की जा सकती है ॥३॥

क्षात्राणिवैश्यानिचसेव्यमानःशौद्राणिकर्माणिचब्राह्मणः सन्
अस्मिँल्लोके निन्दितो मन्दचेताः परे च लोके निरयं प्रयाति

त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।
चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥३०॥

अब ब्रह्माजी ने एक लाख अध्यायात्मक एक ग्रन्थ की अपनी बुद्धि के अनुसार रचना की। जिसमें यह वर्णित था, कि जहां पर धर्म रहेगा—वहीं पर अर्थ और काम टिक सकेंगे। इसी धर्म, अर्थ और काम के समूह की त्रिवर्ग संज्ञा ब्रह्मानी ने ही नियत की है। इन तीनों से पृथक् मुक्ति होती है, जो इनसे पृथक् साधन और पृथक् गुण रखती है ॥२६-३०॥

मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्वं रजस्तमः।
स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥३१॥

मोक्ष का भी एक त्रिवर्ग बनाया है, तो सत्व, रज और तम के भेद से उपवर्णित है। जो धर्म, मोक्षोपयोगी उसके ये तीन भेद होते हैं। राजदण्ड से प्रजा की स्थिति, वृद्धि और दुष्टों की हानि होती है। यह दण्ड त्रिवर्ग कहाता है ॥३१॥

आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च।
सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥३२॥

नीति को षड्वर्ग माना है। चित्त, देश, काल, उपाय, कृत्य और सहायक, ये नीति षड् वर्ग है। नीति के कारण, प्रजा के चित्त प्रसन्न होते हैं। कुदेश भी सुदेश और कुकाल भी सुकाल हो जाता है। उपाय, प्रयोजन और सहायक सब नीति के अनुसार चलने पर ही गुणदायी होते हैं अन्यथा नहीं ॥३२॥

सूर्य, उदयाचल पर सुशोभित होता है। उनकी इस समय त्रिलोकी में कोई ढूंढ़ने पर भी उपमा नहीं मिल सकती थी ॥१३-१५॥

सोभिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम् ॥
उवाच मधुरं राजा स्मितपूर्वमिदं तदा ।

राजा युधिष्ठिर पुरुष शरीर धारी, महात्मा कृष्ण के पास पहुंच कर मुसकुराकर यह मधुर वचन बोले ॥१६॥

सुखेन ते निशा कच्चिद्व्युष्टा बुद्धिमतां वर ॥१७॥
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत ।

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! अच्युत! आपकी रात सुख से तो व्यतीत हुई। हे भगवन्! आप की सारी ज्ञानेन्द्रियां तो प्रसन्न हैं।

तथैवोपश्रिता देवी बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥१८॥
वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता ।

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! आपके भीतर वह दिव्य बुद्धि स्थित है, जिसके कारण से हमको यह सारा राज्य प्राप्त हुआ है और यह सारी पृथिवी वश में स्थित हो गई है ॥१८॥

तव प्रसादाद्भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम ॥१६॥
जयं प्राप्ता यशश्चाग्र्यं न च धर्मच्युता वयम् ।

हे त्रिलोक में विक्रम कर जाने वाले! भगवन् कृष्ण! हमने आप के अनुग्रह से सारी विजय और उत्तम यश की प्राप्ति की है तथा हम किसी प्रकार से धर्म से च्युत नहीं हो पाए हैं ॥१६॥

सन्धिश्च त्रिविधाभिख्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः ।
भयसत्कारवित्ताख्यं कात्स्न्र्येन परिवर्णितम् ॥३७॥

भय, सत्कार और अर्थ के द्वारा होने वाली उत्तम, मध्यम और अधम-इन तीनों सन्धियों का भी पूर्णरूप से ब्रह्मा जी ने वर्णन किया है ॥३७॥

यात्राकालाश्च चत्वारस्त्रिवर्गस्य च विस्तरः ।
विजयो धर्मयुक्तश्च तथार्थविजयश्च ह ॥३८॥
आसुरश्चैव विजयस्तथा कात्स्न्र्येन वर्णितः ।
लक्षणं पञ्चवर्गस्य त्रिविधं चात्र वर्णितम् ॥३९॥
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः ।
प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र गुह्यश्च बहुविस्तरः ॥४०॥

चार यात्रा के काल बताए गए हैं। अपने मित्रों की वृद्धि और कोश का सञ्चय तथा शत्रु के मित्रों और कोश की हानि-जब हो तब यात्रा (चढ़ाई) कर देनी चाहिए। तीन वर्ग (स्थान, वृद्धि और क्षय) ये राजनीति के तीन वर्गों का इसी ग्रन्थ में विस्तार है। धर्म विजय, अर्थ-विजय और आसुरविजय-इस प्रकार तीन तरह की विजय मानी गई है। अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, बल और कोशों के उत्तम, मध्यम और अधम रूप से लक्षण लिखे हैं। दण्ड भी कब प्रकाश रूप और कब अप्रकाश रूप से देना चाहिए-इसका भी ब्रह्मा जी ने वर्णन किया है। प्रकाश दण्ड के वहां आठ भेद और गुप्त दण्ड का तो बड़ा ही विस्तार किया है ॥३८-४०॥

रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव ।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥४१॥
अङ्गान्येतानि कौरव्य प्रकाशानि बलस्य तु ।
जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः ॥४२॥
स्पर्शे चाभ्यवहार्ये चाप्युपांशुर्विविधः स्मृतः ।

हे पाण्डव ! रथ, हाथी, अश्व, पैदल, विष्टि, (भार वाहक) नौका, चर और उपदेशक—ये आठ सेना के प्रकाशित बल हैं । जङ्गम और अजङ्गम (चिकनू तथा जड़ी आदि) चूर्ण योग, वस्त्र और भोजन में विष मिलाना आदि अनेक प्रकार के गुप्त दण्ड माने गए हैं ॥४१-४२॥

अरिर्मित्र उदासीन इत्येतेऽप्यनुवर्णिताः ॥४३॥
कृत्स्ना मार्गगुणाश्चैव तथा भूमिगुणाश्च ह ।

अरि, मित्र और उदासीन राजाओं का भी वर्णन है। इसी तरह ब्रह्मा जी ने सारे मार्गों के गुण और भूमि के गुणों का वर्णन किया है ॥४३॥

आत्मरक्षणमाश्वासः स्पशानां चान्ववेक्षणम् ॥४४॥
कल्पना विविधाश्चापि नृनागरथवाजिनाम् ।
व्यूहाश्च विविधाभिख्या विचित्रं युद्धकौशलम् ॥४५॥
उत्पाताश्च निपाताश्च सुयुद्धं सुपलायितम् ।
शस्त्राणां पालनं ज्ञानं तथैव भरतर्षभ ॥४६॥

बलव्यसनयुक्तं च तथैव बलहर्षणम् ।
पीडा चापदकालश्च पत्तिज्ञानं च पाण्डव ॥४७॥
तथाख्यातविधानं च योगः सञ्चार एव च ।

हे भरतर्षभ ! मन्त्र यन्त्रादि से अपनी रक्षा, धैर्य, रथ, गज, अश्व, मनुष्य, यानों की रचना, बल पुष्टिकारी अनेक रसायन योग, अनेक व्यूह रचना के प्रकार, उनके नाम, विचित्र युद्ध-कौशल, उत्पात, (धूमकेतु जन्य) निपात (उल्कापात) अथवा उछटना, नीचे गिर कर लड़ना आदि शोभन युद्ध, समय पर भाग निकलना, शस्त्रों के साफ करने और उनके चलाने का ज्ञान, सेना के व्यसन, सेना के उत्साह के कारण, पीड़ा, आपत्तिकाल, सेना का ज्ञान, दुन्दुभि आदि के संकेत का विधान, पताका, चिन्ह और मन्त्रणादि योग, इनका सञ्चारण-इन सबका इसी ग्रन्थ में वर्णन है ॥४४-४७॥

चोरैराटविकैश्चोग्रैः परराष्ट्रस्य पीडनम् ॥४८॥
अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः ।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च ॥४९॥
दूषणेन च नागानामातङ्कजननेन च ।
आराधनेन भक्तस्य प्रत्ययोपार्जनेन च ॥५०॥

चोर, उग्र वनवासी आदि से शत्रु राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाने, आग लगाने वाले, विष देने वाले, मूर्ति आदि निर्माण करके जीविका करने वाले, सेनापति आदि के तोड़ने फोड़ने, लता

अन्नादि को नष्ट करने, छावनियों के दूषित करने, राष्ट्र में भय फैलाने, प्रीति युक्त जनों के आराधन और विश्वासोत्पादन आदि से शत्रु राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाने का वर्णन भी ब्रह्माजी ने इसी ग्रन्थ में किया है ॥४८-५०॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य ह्रासवृद्धी समञ्जसम् ।
दूतसामर्थ्यसंयोगात्तद्राष्ट्रस्य विवर्धनम् ॥५१॥

सात अङ्गों वाले राज्य के ह्रास और वृद्धि का ठीक २ वर्णन तथा दूतों की सामर्थ्य के संयोग से राष्ट्र की वृद्धि का वर्णन भी ब्रह्मा जी ने किया है ॥५१॥

अरिमध्यस्थमित्राणां सम्यक्प्रोक्तं प्रपञ्चनम् ।
अवमर्दः प्रतीघातस्तथैव च बलीयसाम् ॥५२॥
व्यवहारः सुसूक्ष्मश्च तथा कण्टकशोधनम् ।
श्रमो व्यायामयोगश्च त्यागो द्रव्यस्य संग्रहः ॥५३॥
अभृतानां च भरणं भृतानां चान्ववेक्षणम् ।
अर्थस्य काले दानं च व्यसने चाप्रसङ्गिता ॥५४॥
तथा राजगुणाश्चैव सेनापतिगुणाश्च ह ।
कारणं च त्रिवर्गस्य गुणदोषास्तथैव च ॥५५॥
दुश्चेष्टितं च विविधं वृत्तिश्चैवानुवर्तिनाम् ।
शङ्कितत्वं च सर्वस्य प्रमादस्य च वर्जनम् ॥५६॥
अलब्धलाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम् ।
प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः ॥५७॥

शत्रु, मित्र और उदासीन के लक्षण और कर्मों का भी विस्तार किया है। बलवान् शत्रु का अवमर्द (पीड़न) और प्रतिघात (विनाश) सूक्ष्म व्यवहार, शत्रुओं का दूरी करण, श्रम, व्यायाम योग, (कवायद) त्याग, द्रव्य का संग्रह, अनाथों का भरण पोषण, भृत्यों के कार्यों का अन्वेक्षण, (पड़ताल) धन का समय पर दान, व्यसन का परित्याग, राजा के गुण, सेनापति के गुण, राजनैतिक त्रिवर्ग के कारण, गुण, दोष, अनेक प्रकार की दुश्चेष्टा, अपने अनुचरों की वृत्ति का निरीक्षण, सब पर शङ्का करते रहना, प्रमाद का परित्याग, अप्राप्त का प्राप्त करना, प्राप्त धन के बढ़ाने के उपाय, बढ़े हुए धन का सत्पात्रों में विधि-पूर्वक दान का वर्णन भी इसी लक्ष-श्लोकात्मक ग्रन्थ में ब्रह्मा जी ने किया है ॥५२-५७॥

विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थं कामहेतुकमुच्यते।
चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम् ॥५८॥

धन का दान, अर्थ और धर्म के लिए होना चाहिए या किसी कामना की पूर्ति को किया जाता है। चतुर्थ प्रकार धन के व्यय का व्यसन है, उसका नाश करने का ढंग भी इसी ग्रन्थ में है।

क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च।
दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह ॥५९॥

हे कुरुश्रेष्ठ! क्रोध और काम से उत्पन्न होने वाले दश व्यसनों का वर्णन भी इसी ग्रन्थ में है ॥५९॥

मृगयाक्षास्तथा पानं स्त्रियश्च भरतर्षभ।
कामजान्याहुराचार्याः प्रोक्तानीह स्वयम्भुवा ॥६०॥

मृगया, (शिकार) अक्ष, (जुआ) सुरापान, स्त्री संभोग-ये चार व्यसन काम से उत्पन्न होते हैं-ऐसा स्वयम्भू ब्रह्मा का कथन है ॥६०॥

वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च ।
आत्मनो निग्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च ॥६१॥

वाणी की कठोरता, उग्रता, (चण्डपना) दण्ड की कठोरता, अपने शरीर में आघात करना, आत्महत्या एवं प्रयोजन को दूषित कर लेना—ये छः दोष क्रोध से उत्पन्न माने गए हैं ॥६१॥

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषां च वर्णिताः ।
अवमर्दः प्रतीघातः केतनानां च भञ्जनम् ॥६२॥
चैत्यद्रुमावमर्दश्च रोधः कर्मानुशासनम् ।
अपस्करोऽथ वसनं तथोपायाश्च वर्णिताः ॥६३॥

इस ग्रन्थ में अनेक युद्ध के यन्त्र और उनकी क्रियाएँ कही गई हैं। शत्रु पर आक्रमण, उसका विनाश, घरों या ध्वजा का तोड़ देना, चैत्य वृक्ष का चूर कर देना, घेरा डालना, प्रत्येक पुरुष के कर्मों के अनुशासन युद्ध के साधन कवच और युद्ध के उपाय आदि का वर्णन भी इस ग्रन्थ में विद्यमान है ॥६२-६३॥

पणवानकशंखानां भेरीणां च युधिष्ठिर ।
उपार्जनं च द्रव्याणां परिमर्दश्च तानि षट् ॥६४॥
लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैवाभिपूजनम् ।
विद्वद्भिरेकीभावश्च दानहोमविधिज्ञता ॥६५॥
मंगलालंभनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
आहारयोजनं चैव नित्यमास्तिक्यमेव च ॥६६॥

एकेन च यथात्थेयं सत्यत्वं मधुरा गिरः ।
उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा ॥६७॥
प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ ।
वृत्तेर्भरतशार्दूल नित्यं चैवान्ववेक्षणम् ॥६८॥
अदण्ड्यत्वं च विप्राणां युक्त्या दण्डनिपातनम् ।
अनुजीवी स्वजातिभ्यो गुणेभ्यश्च समुद्भवः ॥६९॥

हे युधिष्ठिर ! पणव, आनक, शंख, भेरी आदि बाजों के लक्षण, मणि आदि द्रव्यों का छः प्रकार का उपार्जन और परिमर्दन भी इसी में है। दुष्ट का शमन और सज्जनों का पूजन-विद्वानों के साथ एकता, दान, होम की विधि का ज्ञान, माङ्गलिक वस्तुओं की प्राप्ति, शरीर की प्रतिक्रिया, आहार का आयोजन, आस्तिकता, अकेले राजा के उठने के प्रकार, सचाई, मधुर वाणी, उत्सव और समाजों के समय घर और ध्वजाओं की सजावट, सारे अधिकारियों के कर्मों का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से नित्य अन्वेक्षण, ब्राह्मणों के दण्ड का अविधान, युक्ति से दण्ड का दान, अनुजीवी (सेवक) स्वाजाति के पुरुषों का उनके गुणों के अनुसार पद पर आरूढ़ करना-इसी ग्रन्थ का विषय है ॥६४-६६॥

रक्षणं चैव पौराणां राष्ट्रस्य च विवर्धनम् ।
मंडलस्था च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका ॥७०॥
द्वासप्ततिविधा चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥७१॥

हे राजन् ! पुर वासी और राष्ट्र वासी प्रजा की रक्षा करके राष्ट्र की वृद्धि करना, शत्रु, मित्र और उदासीन मण्डल की बारह प्रकार की रागिका (पंक्तियों) का वर्णन, शरीर की बहत्तर प्रकार की क्रिया तथा देश जाति और कुलों के धर्म भी इसी ग्रन्थ में वर्णित किए गए हैं ॥७०-७१॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिताः ।
उपायाश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिण ॥७२॥
मूलकर्मक्रिया चात्र मायायोगश्च वर्णितः ।
दूषणं स्रोतसां चैव वर्णितं चास्थिरांभसाम् ॥७३॥

हे भूरिदक्षिण! युधिष्ठिर ! धर्म अर्थ काम और मोक्ष का वर्णन भी इसमें विद्यमान है । राज्य सञ्चालन के उपाय, धन की इच्छा, मूल कर्म और क्रिया, इन्द्र जालिक क्रिया भी इसमें वर्णित हैं । जल को सर्वदा बहाने वाली नदियों के स्रोतों के दूषित करने की क्रियाएँ भी इसी में हैं ॥७२-७३॥

यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः ।
तत्सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् ॥७४॥

हे राजशार्दूल ! जिन उपायों से लोक, आर्य मार्ग से न विचलित हो सके, उन सारे विषयों का इस नीति शास्त्र में ब्रह्माजी ने वर्णन किया था ॥७४॥

एतत्कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान्प्रभुः ।
देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्छक्रपुरोगमान् ॥७५॥

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥७६॥
दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका ।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति ॥७७॥

हे राजन् ! इस शुभ नीति शास्त्र की रचना करके भगवान् ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर इन्द्र आदि देवों से यह वचन कहा-हे देवो ! जगत् के उपकार और त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की स्थापना के निमित्त, ज्ञान का सार निकाल कर यह युक्ति प्रकाशित की है। यह दण्ड के साथ लोकों की रक्षा करने वाली होगी । यह निग्रह और अनुग्रह दोनों के साथ लोकों का बड़ा उपकार करेगी ॥७५-७७॥

दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीन्लोकानभिवर्तते ॥७८॥

दण्ड से संसार चलाया जाता है या इसमें दण्ड का विधान है-इससे इस शास्त्र को दण्ड नीति कहते हैं । इस नीति का प्रभाव तीनों लोकों में विद्यमान् है ॥७८॥

षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु ।
धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः ॥७९॥

सन्धि विग्रह आदि षाड्गुण्य का सार आगे चलकर इसीसे विद्वानों में स्थित हो सकेगा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, सबके लक्षण और उपाय भी इससे ही जान सकेंगे ॥७९॥

ततस्तां भगवान्नीतिं पूर्वं जग्राह शंकरः।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः।

इसके अनन्तर सबसे प्रथम अनेक रूपधारी, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु, उमापति, भगवान् शङ्कर ने इस नीति शास्त्र का ग्रहण किया ॥८०॥

प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवान् शिवः।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम् ॥८१॥
वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत।
दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ॥८२॥

भगवान् शङ्कर ने जब लोगों को अल्पायु देखा-तो ब्रह्मा जी के बनाए हुए महास्त्र का उन्होंने संक्षेप कर दिया, जिसका नाम वैशालाक्ष हुआ। इस दश हजार अध्याय वाले ग्रन्थ को महा-तपस्वी, ब्राह्मण-रक्षक इन्द्र ने प्राप्त किया ॥८१-८२॥

भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरन्दरः।
सहस्रैः पंचभिस्तात यदुक्तं बाहुदंतकम् ॥८३॥

भगवान इन्द्र ने भी इस शास्त्र का संक्षेप करके उसके पांच हजार अध्याय बना दिए, जिसका नाम बाहुदन्तक हुआ ॥८३॥

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ॥८४॥

इसके अनन्तर शक्तिशाली बृहस्पति ने इसका संक्षेप करके इसके तीन सहस्र अध्याय रखे, जो बार्हस्पता के नाम से प्रसिद्ध है ॥८४॥

अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत् ।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ॥८५॥

फिर अत्यन्त बुद्धिमान, योगाचार्य, महायशस्वी, शुक्राचार्य ने इसका संक्षेप करके एक सहस्र अध्याय बनाए ॥८५॥

एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः ।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ॥८६॥

हे महाभाग ! इस प्रकार मनुष्यों के ह्रास और उनकी संक्षिप्त आयु को जान कर लोगों के अनुरोध से ऋषि महर्षियों ने समय २ पर इसको और भी संक्षेप किया है ॥८६॥

अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिश ॥८७॥

इसके अनन्तर देवता प्रजा के रक्षक, भगवान् विष्णु के पास पहुँचे और उनसे कहा-कि जो मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ हो-आप हमको उसे बताए ॥८७॥

ततः संचिन्त्य भगवान्देवो नारायणः प्रभुः ।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥८८॥

हे राजन् ! अब सर्वशक्तिमान्, भगवान् नारायण ने रजोगुण रहित एक तेजस्वी मानस पुत्र रचा ॥८८॥

विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत ।
न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ॥८९॥

उस महानुभाव ने रजोगुण रहित होने के कारण पृथिवी का स्वामी होना स्वीकार नहीं किया। हे पाण्डव ! उसकी बुद्धि तो प्रारम्भ से ही संन्यास की ओर प्रवृत्त हुई ॥८६॥

कीर्तिमांस्तस्य पुत्रो भूत्सोऽपि पंचातिगोऽभवत् ।
कर्दमस्तस्य तु सुतः सोऽप्यतप्यन्महत्तपः ॥६०॥

उस महाभाग विरजा के एक कीर्तिमान्-पुत्र हुआ, परन्तु वह भी मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके पुत्र का नाम कर्दम था, वह महान् तप करने में प्रवृत्त हुआ ॥६०॥

प्रजापतेः कर्दमस्य त्वनंगो नाम वै सुतः ।
प्रजा रक्षयिता साधुर्दण्डनीतिविशारदः ॥६१॥

प्रजापालक राजा कर्दम के अनङ्ग नामक पुत्र हुआ, जो प्रजा का पालक, महात्मा और दण्ड नीति में कुशल था ॥६१॥

अनंगपुत्रोऽतिबलो नीतिमानभिगम्य वै ।
प्रतिपेदे महाराज्यमथेन्द्रियवशोऽभवत् ॥६२॥

राजा अनङ्ग के अतिबल नामक पुत्र हुआ। वह भी बड़ा नीतिमान् था। उसने उस विशाल राज्य को प्राप्त किया। वह राजा होकर इन्द्रिय भोगों में परायण हो गया ॥६२॥

मृत्योस्तु दुहिता राजन्सुनीथा नाम मानसी ।
प्रख्याता त्रिषु लोकेषु याऽसौ वेनमजीजनत् ॥६३॥

हे राजन् ! मृत्यु की सुनीथा नाम की मानसी कन्या थी, जो तीनों लोकों में विख्यात है। इस अतिबल की वह भार्या बनी और उसने राजा वेन को उत्पन्न किया ॥६३॥

तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् ।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नु ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥९४॥

यह वेन प्रजा में अधर्म की वृद्धि करता था और सर्वदा रागद्वेष में फंसा रहता था, इससे ब्रह्मवादी ऋषियों ने मन्त्र पूत कुशाओं से उसे मार गिराया ॥९४॥

ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मन्त्रतः ।
ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वांगः पुरुषो भुवि ॥९५॥

इसके अनन्तर ऋषियों ने उसकी दांयी जंघा का मन्थन किया । उसी जंघा से एक विकृत आकार धारी छोटे आकार वाला एक वामन पुरुष उत्पन्न हुआ ॥९५॥

दग्धस्थूणाप्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्धजः ।
निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥९६॥
तस्मान्निषादाः संभूता क्रूराः शैलवनाश्रयाः ।
ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः॥९७॥

इसका आकार दग्ध हुई थूणी के तुल्य था। इसकी लाल २ आंखें और काले कठिन बाल थे । ब्रह्मवादी ऋषियों ने उससे कहा-निषीद अर्थात् बैठ जाओ । इसी कारण से उससे निषादों की उत्पत्ति हुई, जो बड़े क्रूर होते हैं और वे पर्वत तथा वन में निवास करते हैं। विन्ध्याचल में जो लाखों की संख्या में म्लेच्छ हैं-वे भी इससे ही उत्पन्न हैं ॥९६ ९७॥

भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः ।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥९८॥
कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः ।
वेदवेदांगविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥९९॥
तं दंडनीतिः सकला श्रिता राजन्नरोत्तमम् ।

महर्षि ने फिर इसके दाँये हाथ को मथा, जिससे इन्द्र के सदृश सुन्दर पुरुष उत्पन्न हुआ। इसने कवच पहन रखा और खड्ग बांध रखा था। धनुष और बाण से यह सुसज्जित था। यह वेद वेदाङ्ग और धनुर्वेद में भी पारङ्गत था। हे राजन्! इस नरोत्तम को सारी दण्ड नीति अच्छी तरह आती थी ॥९८-९९॥

ततस्तु प्रांजलिर्वैन्यो महर्षीस्तानुवाच ह ॥१००॥
सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी ।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥१०१॥

अब यह वेन-पुत्र हाथ जोड़ कर उन महर्षियों से कहने लगा, कि धर्म और अर्थ के देखने में तत्पर मुझमें सूक्ष्म बुद्धि विकसित हो रही है। हे मुनियो! इस बुद्धि से मुझे क्या करना चाहिए? आप यथावत् इसका तत्व बताइए ॥१००-१०१॥

यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम् ।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥१०२॥

आप जिस गम्भीर अर्थ के साथ मुझे मेरा कर्तव्य बतावेंगे, मैं उसे ही करूंगा-इसमें कुछ विचार की बात नहीं है ॥१०२॥

तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः ।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥१०३॥

उस वेन-पुत्र से देव और महर्षियों ने कहा-कि जिस कर्म में धर्म की स्थिति हो, उसको तुम निःशङ्क होकर करो ॥१०३॥

प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु ।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥१०४॥
यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः ।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षता ॥१०५॥

अब तुम प्रिय अप्रिय का भेद छोड़ कर सारे प्राणियों में समान व्यवहार करो। काम, क्रोध, लोभ और अहङ्कार को भी दूर से ही नमस्कार करो। जो मनुष्य संसार में धर्म से प्रविचलित होवे, उसको तुम धर्म की ओर दृष्टि रख कर अपनी भुजाओं के बल से दण्डित करो ॥१०४-१०५॥

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा ।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥१०६॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दंडनीतिव्यपाश्रयः ।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥१०७॥

हे परन्तप ! तुम मन, वाणी और कर्म से ऐसी प्रतिज्ञा करो-कि मैं जगत् को ब्रह्म का स्वरूप मान कर उसकी सर्वदा रक्षा करता रहूंगा तथा जो दण्ड नीति के अनुकूल नित्य धर्म महर्षियों ने कहा है, मैं उसका सर्वदा निःशङ्क होकर पालन करूंगा और कभी उच्छृङ्खल न होऊंगा ॥१०६-१०७॥

धिकारी और ऐसे ही अनुचित धर्म करने वाला होता है, वह भी शूद्र होता है ॥४॥

जपन्वेदानजपंश्चापि राजन्समः शूद्रैर्दासवच्चापिभोज्यः ।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति राजन्नेतान्वर्जयेद्देवकृत्ये ॥५॥

हे राजन! ऐसा ब्राह्मण चाहे वेद का जप करे या न करे, वह तो शूद्र के समान है, उसे तो दास की तरह ही भोजन देना चाहिए। हे राजन्! ऐसे सारे ब्राह्मण शूद्र के समान हैं। इनको देवकार्य में वर्जित कर देना चाहिए ॥५॥

निर्मर्यादे चाशुचौ क्रूरवृत्तौ हिंसात्मके त्यक्तधर्मस्ववृत्ते ।
हव्यं कव्यं यानि चान्यानि राजन्देयान्यदेयानि भवन्ति चास्मै

हे राजन्! मर्यादाहीन, अपवित्र, क्रूर आचरण वाले, हिंसा-परायण, अपने धर्म और आचार के परित्यागी ब्राह्मण को देव-कार्य और पितृकार्य में जो देने का विधान है, वह ऐसे ब्राह्मण को देने का निषेध समझना चाहिए ॥६॥

तस्माद्धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य दमः शौचमार्जवं चापि राजन्
तथा विप्रस्याश्रमाः सर्व एव पुरा राजन्ब्रह्मणा वै निसृष्टाः॥

हे राजन्! ब्राह्मण का धर्म तो इन्द्रियों का विजय, शौच और सरलता आदि हैं। हे राजसत्तम! ब्रह्माजी ने स्वयं ही ब्राह्मण को चारों वर्णों का अधिकार दिया है ॥७॥

यः स्याद्दान्तः सोमपश्चार्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसहोनिराशीः
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्स वै विप्रो नेतरःपापकर्मा ॥८॥

उत्पन्नौ वंदिनौ चास्य तत्पूर्वौ सूतमागधौ ॥११२॥
तयोः प्रीतो ददौ राजा प्रथुर्वैन्यः प्रतापवान् ।

इस स्तुति करने वाले के सूत और मागध नामक पुत्र उत्पन्न हुए। महाप्रतापी वेन-पुत्र पृथु ने बड़ी प्रसन्नता से उनको राज्य प्रदान किया ॥११२॥

अनूपदेशं सूताय मगधं मगधाय च ॥११३॥
समतां वसुधायाश्च स सम्यगुदपादयत् ।
वैषम्यं हि परं भूमेरासीदिति च नः श्रुतम् ॥११४॥
मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही ।
उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान्समन्ततः ॥११५॥
धनुष्कोट्या महाराज तेन शैला विवर्धिताः ।

जल प्रदेश सूत को, मगध देश मागध को दिया। इसी पृथु ने पृथिवी का ऊंचा नीचापन मिटा कर उसे एक सा बनाया था। हमने सुना है, कि पूर्वकाल में पृथिवी बहुत ऊंची थी। सारे मन्वन्तरों में पृथिवी विषम रूप से ही उत्पन्न होती है। वेन-पुत्र पृथु ने सब ओर से शिला जालों को अपने धनुष की कोटि से ऊंचा कर दिया। हे महाराज! इसी से ये पर्वत बढ़ते चले गए ॥११५॥

स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ॥११६॥
ऋषिभिश्च प्रजापालैर्ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः ।

इस राजा पृथु का अभिषेक, भगवान् विष्णु, इन्द्रादि सारे देव, ऋषि, प्रजापालक राजा और ब्राह्मणों ने सम्पादित किया।

शुश्रूषोः कृतकार्यस्य कृतसन्तानकर्मणः ।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥१२॥
अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा ।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ॥१३॥

हे जगतत्पते ! जिस शूद्र ने द्विजों की सेवा कर ली, जो सन्तानोत्पत्ति कर चुका, राजा ने जिसे आज्ञा दे दी, जो आत्मतत्व के सुनने की इच्छा वाला है, मत्त-प्रमत्तादि दश धर्मों का ज्ञाता है, धर्माचरण से तीनों वर्ण के सदृश हो चुका है, उस शूद्र को चारों आश्रम धारण करने का अधिकार है। वह केवल ब्राह्मण वर्णों को आशीष न देवे ॥१२-१३॥

भैक्ष्यचर्या ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः ।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥१४॥
कृत्यकृत्यो वयोतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः ।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ॥१५॥

इस धर्मात्मा शूद्र को भैक्ष्यचर्या (सन्यास) का अधिकार है। हे राजेन्द्र ! ऐसा ही वैश्य और क्षत्रिय को अधिकार है। जब वैश्य अपने कामों को कर चुके, वृद्ध हो जावें, राजा के बताए हुए धर्मों में परिश्रम कर चुके, तो वह भी राजा की आज्ञानुसार वानप्रस्थादि आश्रम में जा सकता है ॥१४-१५॥

वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ ।
सन्तानादीनि कर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ॥१६॥

न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो व्याधयस्तथा ॥१२१॥
सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्योन्यात्कदाचन ।
भयमुत्पद्यते तत्र तस्य राज्ञोऽभिरक्षणात् ॥१२२॥

इसके शासनकाल में न तो बुढ़ापा, न दुर्भिक्ष, न मन की चिन्ता और न कोई रोग था। सर्पादि जन्तु और चोरों से किसी को परस्पर भय नहीं था, क्योंकि ये सबकी रक्षा करते थे।

आपस्तस्तंभिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः ।
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥१२३॥

जब राजा पृथु समुद्र यात्रा करते थे, तो समुद्र का जल निश्चल हो जाता था। पर्वतों ने भी इसको मार्ग दे दिया, जिससे इसकी ध्वजा फहराती हुई कहीं भी नहीं रुक सकती थी ॥१२३॥

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च ।
यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत् ॥१२४॥

राजा पृथु ने ही अन्नप्राप्ति के निमित्त इस पृथिवी का सत्रह बार दोहन किया। जिस यक्ष, राक्षस और नागों का जोर अभिलषित था, उस २ को भी उनको उसने प्रदान किया था ॥१२४॥

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना ।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥१२५॥

इस महात्मा राजा पृथुने सारे जगत् को धर्म मय कर दिया। इसने सारी प्रजा को रञ्जन किया, जिससे सत्य अर्थ में यह राजा प्रसिद्ध हुआ ॥१२५॥

ब्राह्मणानां क्षतत्राणात्ततः क्षत्रिय उच्यते।
प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता ॥१२६॥

ब्राह्मणों को दुःखों से छुड़ाने के कारण राजा क्षत्रिय कहाता है। बहुत से विद्वान यही कहते आए हैं, कि इसी राजा पृथु ने इस पृथिवी का विस्तार किया था ॥१२६॥

स्थापनं चाकरोद्विष्णुः स्वयमेव सनातनः।
नातिवर्तिष्यते कश्चिद्राजंस्त्वामिति भारत ॥१२७॥
तपसा भगवान्विष्णुराविवेश च भूमिपम्।
देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्नृपम् ॥१२८॥

हे भारत! स्वयं सनातन विष्णु ने इस राजा पृथु की स्थापना की और कहा-हे राजन्! कोई भी मनुष्य तुम्हारी आज्ञा का अतिक्रमण नहीं कर सकेगा। भगवान विष्णु, अपनी योगशक्ति से इस राजा पृथु के शरीर में प्रविष्ट हो गए। राजाओं के मध्य में इस राजा को जगत्, देव की तरह नमस्कार करते थे ॥१२७-१२८॥

दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर।
नाधर्षयेत्तथा कश्चिच्चारनिष्पन्ददर्शनात् ॥१२९॥

हे नरेश्वर! दण्डनीति द्वारा सारे जगत को रक्षा करनी उचित है जिससे कोई शत्रु राज्य पर आक्रमण न कर सके। यह सब कुछ गुप्तचरों के सञ्चार द्वारा लोक वृत्तान्त जान लेने पर ही हो सकता है ॥१२९॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते।
आत्मना कारणैश्चैव समस्येह महीक्षितः ॥१३०॥

हे राजेन्द्र ! जो शुभकर्म होता है, वह शुभ परिणाम के निमित्त होता है। अपने मन और क्रियाओं से समदृष्टि राजा को शुभकर्म परायण हो जाना चाहिए ॥१३०॥

को हेतुर्यद्वशे तिष्ठेल्लोको दैवादृते गुणात् ।
विष्णोर्ललाटात्कमलं सौवर्णमभवत्तदा ॥१३१॥
श्रीः सम्भूता यतो देवी पत्नी धर्मस्य धीमतः ।
श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव ॥१३२॥
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता ।

जो यह सारा जगत् राजा के वश में होता है, इसमें दैव के अनुकूल होने के अतिरिक्त अन्य क्या कारण हो सकता है। हे राजन् ! उसी समय विष्णु के ललाट से एक सुवर्ण का कमल उत्पन्न हुआ। उसी से बुद्धिमान् धर्म की पत्नी एक श्री नामक स्त्री उत्पन्न हुई। हे पाण्डव ! उसी श्री से धर्म के द्वारा अर्थ (प्रयोजन) की उत्पत्ति (सिद्धि) हुई। यही कारण है, कि श्री के धर्मानुसार उपभोग करने से ही राज्य में अर्थ (प्रयोजन) की स्थिति होती है।

सुकृतस्य क्षयाच्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम् ॥१३३॥
पार्थिवो जायते तात दंडनीतिविशारदः ।
महत्त्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि ॥१३४॥
बुद्ध्या भवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति ।

हे तात ! जब दण्डनीति में विशारद राजा स्वर्ग पहुंच जाता है, तो पुण्य के क्षय से फिर वह पृथिवी पर आ जाता है।

हे राजेन्द्र ! अब तुमको राजनीति के निश्चय से युक्त धर्म का निश्चय सुनाता हूँ, कि पूर्वकाल में दनु से उत्पन्न समुद्र निर्मर्यादा था। उस समय महापराक्रमी राजा मान्धाता थे। उन्होंने अनादि मध्य रहित, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भगवान् नारायण के दर्शन की इच्छा से यज्ञ करना आरम्भ किया। हे राजशार्दूल ! उस यज्ञ में भगवान् विष्णु ने इन्द्र का रूप धारण करके राजा मान्धाता को दर्शन दिए। राजा ने भी उस यज्ञ में भगवान् विष्णु के चरणों में सिर रख दिया। राजा मान्धाता ने अन्य उत्तम राजाओं के साथ होकर उस इन्द्र रूप की पूजा की। अब महाद्युतिशाली भगवान विष्णु के सम्बन्ध में राजा मान्धाता और इन्द्र में यह सम्वाद हुआ ॥११-१५॥

इन्द्र उवाच-

किमिष्यते धर्मभृतां वरिष्ठ यं द्रष्टुकामोऽसि तमप्रमेयम्।
अनंतमायामितमन्त्रवीर्यं नारायणं ह्यादिदेवं पुराणम् ॥१६॥
नासौदेवोविश्वरूपोमयाऽपिशक्योद्रष्टुं ब्रह्मणावापिसाक्षात्।
येऽन्येकामास्तवराजन्हृदिस्थादास्येचैतांस्त्वंहिमर्त्येषु राजा

इन्द्र ने कहा—हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ राजन् ! तुम जो विचार में भी नहीं आने वाले, अनन्त माया से युक्त, वेद के पराक्रम को धारण करने वाले, आदि देव सनातन भगवान विष्णु का दर्शन करना चाहते हो, इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय है। सब के आत्मस्वरूप भगवान् नारायण देव को तो मैं भी नहीं देख

महत्त्वात्तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा ।
नयश्चारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम् ॥१३८॥

राजा के महत्व के कारण ही उसकी दण्डनीति स्पष्ट फल देती रहती है, नहीं तो लोग विद्रोही हो जाने चाहिए थे। कौन किसके दण्ड को प्रसन्नता से स्वीकार करना चाहता है। राजा का न्याय और गुप्तचरों का जाल इतना फैला हुआ है, कि इससे जगत व्याप्त हो रहा है ॥१३८॥

आगमश्च पुराणानां महर्षीणां च सम्भवः ।
तीर्थवंशश्च वंशश्च नक्षत्राणां युधिष्ठिर ॥१३९॥
सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च ।
चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्विद्यं च कीर्तितम् ॥१४०॥
इतिहासाश्च वेदाश्च न्यायः कृत्स्नश्च वर्णितः ।
तपो ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्ये नयः परः ॥१४१॥
वृद्धोपसेवा दानं च शौचमुत्थानमेव च ।
सर्वभूतानुकम्पा च सर्वमत्रोपवर्णितम् ॥१४२॥

हे युधिष्ठिर! इसी तरह ब्रह्माजी के इस शास्त्र में पुराणों के तत्व, महर्षियों की उत्पत्ति, तीर्थसमूह, नक्षत्रों की उत्पत्ति, चारों आश्रमों के सारे धर्म, चातुर्होत्र, चारों वर्णों के कर्म, चारों विद्या, इतिहास, वेद, सारा न्याय, तप, ज्ञान, अहिंसा, सत्य, असत्य, नीति, वृद्धों की सेवा, दान, शौच, उद्योग, सब प्राणियों पर दया आदि अनेक उत्तम २ विषयों का वर्णन किया गया है।

शुचि चाधोगतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम् ।
तस्मिन्पैतामहे शास्त्रे पाण्डवैतन्न संशयः ॥१४३॥

हे पाण्डव ! पृथिवी, पाताल और स्वर्ग में जो कुछ रहता है, वह सब कुछ ब्रह्माजी के शास्त्र में था—इसमें तुम सन्देह न समझो ॥१४३॥

ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः ।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते ॥१४४॥

हे राजेन्द्र ! विशाम्पते ! बुद्धिमान् तभी से यह कहते चले आए हैं, कि देव और राजा में बिल्कुल समानता माननी चाहिये।

एतत्ते सर्वमाख्यातं महत्त्वं प्रतिराजसु ।
कार्त्स्न्येन भरतश्रेष्ठ किमन्यदिह वर्तते ॥१४५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सूत्राध्याये एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥५९॥

हे भरत श्रेष्ठ ! प्रत्येक राजा के विषय में जो महत्व था, वह मैंने तुमको सब कुछ बता दिया है। अब बताओ—तुमको और क्या जिज्ञासा है ॥१४५॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में राजा के महत्व के वर्णन का उनसठवां अध्याय समाप्त हुआ ।



साठवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच--ततः पुनः स गाङ्गेयमभिवाद्य पितामहम् ।
प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायन बोले–हे राजन्! राजा युधिष्ठिर ने हाथ जोड़ कर गङ्गा-पुत्र भीष्म पितामह को प्रणाम किया और फिर सावधान होकर उन्होंने यह प्रश्न किया ॥१॥

के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् ।
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ॥२॥
केन वै वर्धते राष्ट्रं राजा केन विवर्धते ।
केन पौराश्च भृत्याश्च वर्धन्ते भरतर्षभ ॥३॥

हे भरतर्षभ! सारे वर्णों के क्या धर्म हैं? राजधर्म क्या हैं? राष्ट्र की वृद्धि किस तरह होती है, राजा किन कारणों से उन्नत बनता और किन कर्मों के करने से प्रजा और राजसेवक उन्नति कर पाते हैं ॥२-३॥

कोशं दण्डं च दुर्गं च सहायान्मन्त्रिणस्तथा ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्कीदृशान्वर्जयेन्नृपः ॥४॥
केषु विश्वसितव्यं स्याद्राज्ञा कस्याञ्चिदापदि ।
कुतो वाऽऽत्मा दृढं रक्ष्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥५॥

राज, कोश, दण्ड, दुर्ग, सहायक, मन्त्री, ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य आदि राजा के पास किस तरह के हों और कैसे लोगों

आदिदेव विष्णु से जिस धर्म की प्रवृत्ति हुई है, अभी तक मैं उस धर्म को नहीं जान पाया हूँ। मैं इस क्षात्र धर्म से अधिक श्रेष्ठ लोक के किसी धर्म को नहीं जानता हूँ ॥२०॥

इन्द्र उवाच—

असैनिका धर्मपराश्च धर्मे परां गतिं न नयन्ते ह्ययुक्तम् ।
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात्प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥

इन्द्र ने कहा—हे राजन्! दण्डनीति को छोड़कर जो राजा अन्य धर्म में परायण होते हैं, वे धर्म की उत्कृष्ट जाति को सीधी तरह नहीं जान पाते हैं। यह क्षात्र धर्म आदि देव विष्णु से प्रवृत्त हुआ है तथा इसके अङ्ग भूत अन्य धर्म तो पीछे उत्पन्न हुए माने जाते हैं ॥२१॥

शेषाः सृष्टा ह्यन्तवन्तोह्यनन्ताः सप्रस्थानाःक्षात्रधर्माविशिष्टाः
अस्मिन्धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टास्तस्माद्धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति ॥

अन्य जितने भी धर्म हैं, उनका फल अनन्त नहीं है, परन्तु सन्यास के सहित जितने भी क्षात्र धर्म हैं, वे सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं। इस क्षात्र में सारे धर्म प्रविष्ठ हो रहे हैं, यही कारण है, जिस से मनीषी क्षात्र धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ॥२२॥

कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजसः ।
त्राताः सर्वे प्रसह्यारीन्क्षत्रधर्मेण विष्णुना ॥२३॥

तं चेद्द्विजमुपागच्छेद्वर्तमानं स्वकर्मणि ।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम् ॥१०॥
कुर्वीतापत्यसन्तानमथो दद्याद्यजेत च ।
संविभज्य च भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते ॥११॥

यदि ब्राह्मण अपने कर्म में वर्तमान है और उसके पास धर्म-पूर्वक धन आ जावे, उसे कोई विकर्म न करना पड़े, जो शान्त और प्रज्ञानसे सन्तुष्ट हो-वह विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करे और समय पर दान तथा यजन करता रहे। सज्जनों ने यही कहा है कि धन को तो बांट कर ही भोगना चाहिए ॥१०-११॥'

परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥१२॥

ब्राह्मण के तो सारे धर्मकृत्य वेदाध्ययन के ही अन्तर्गत माने गए हैं। अन्य धर्म कृत्यों को वृद्ध करे या न करे-ऐसा ब्राह्मण मैत्र (सूर्य तुल्य तेजस्वी) ब्राह्मण कहाता है ॥१२॥

क्षत्रियास्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ।
दद्याद्राजन्न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥१३॥
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात्पराक्रमम् ॥१४॥

हे भारत! अब मैं तुमसे क्षत्रिय के धर्मों का भी वर्णन करता हूं। हे राजन्! क्षत्रिय दान देवे, कभी याचना न करे। वह यज्ञ करे, परन्तु कभी यज्ञ कराने की अभिलाषा न करे। क्षत्रिय वेदा-

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्

रणभूमि में शरीर त्याग, सब प्राणियों पर अनुकम्पा, लोक का ज्ञान, प्रजा का पालन, पीड़ित दुःखियों को दुःख से छुड़ाना तथा मोक्ष प्राप्त करना-ये सारे ही तो उत्कृष्ट धर्म, राजाओं के इस क्षात्र धर्म में विद्यमान है॥२७॥

निर्मर्यादाः काममन्युप्रवृत्ता भीता राज्ञो नाधिगच्छन्ति पापम्
शिष्टाश्चान्ये सर्वधर्मोपपन्नाः साध्वाचाराः साधु धर्मं वदन्ति

हे राजन्! सारे मनुष्य राजा से डर कर ही तो पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होते अन्यथा सारे मनुष्य मर्यादा हीन और काम क्रोध में फंस जावे। इसी क्षात्र धर्म के कारण श्रेष्ठ पुरुष सदाचारी रह कर सब धर्मों से युक्त होते हैं और अच्छी तरह धर्म की व्याख्या करते हैं॥२८॥

पुत्रवत्पाल्यमानानि राजधर्मेण पार्थिवैः।
लोके भूतानि सर्वाणि चरन्ते नात्र संशयः॥२६॥

राजा लोग अपने राजधर्म के कारण प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हैं। सारी प्रजा भी पुत्र की तरह पालित हुई, अपने २ धर्म का आचरण करती है-इसमें सन्देह नहीं है॥२६॥

सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम्।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतोमुखम्॥३०॥

स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः ।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत् ॥१६॥

राजा अपने २ धर्म में प्रजा को स्थापित करे । जितने भी प्रजा के कार्य हैं-उनको शान्ति-पूर्वक धर्म के साथ पूरे करवाना राजा का ही कृत्य है ॥१६॥

परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात् ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ॥२०॥

प्रजापालन से राजा के सारे धर्मकृत्य पूरे हो चुके-यह समझना चाहिए, फिर वह अन्य धर्मकृत्य करे या न करे-वह तो ऐन्द्र (इन्द्र के समान तेजस्वी) राजा कहाता है ॥२०॥

वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम् ।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥२१॥
पितृवत्पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वान्पशूनिह ।
विकर्म तद्भवेदन्यत्कर्म यत्स समाचरेत् ॥२२॥
रक्षया स हि तेषां वै महत्सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥२३॥
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥२४॥
षण्णामेकां पिबेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कला खुरे ॥२५॥
सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः ।

हे राजन् ! अब मैं तुमको वैश्य के सनातन धर्म सुनाता हूँ। दान, अध्ययन, यज्ञ, पवित्रता के साथ धन का सञ्चय करना-वैश्य का काम है। वह पिता के समान अपने सारे पशुओं की पालना करे। इसके सिवा वह जो भी कार्य करेगा—वह उसके अकर्म जाने जावेंगे। वह तो पशुओं की रक्षा से ही महान् सुख की प्राप्ति करता है। प्रजापति ने पशुओं को रच कर वैश्यों को सौंप दिया तथा ब्राह्मण और राजा के लिए प्रजा को रच कर समर्पित की। अब मैं उसकी वृत्ति तथा उसके जीवन का स्वरूप बताता हूँ। यदि एक वैश्य छः गौ पाले, तो उनमें से एक का दूध आप पीवे। सौ गौ पालन करने वाला वैश्य एक गौ का जोड़ा प्रतिवर्ष ग्रहण करे। उन वाणिज्य से जो प्राप्त हो-उसका सातवां भाग उसको मिले। गवय आदि पशु तथा अन्य पशुओं के खुर या सींगों का व्यापार वैश्य करे-तो इसमें उसका सोलहवां भाग प्राप्त हो। सारे अन्नों की उत्पत्ति में भी इसी तरह सातवें भाग ग्रहण करने का विधान है। यही उसकी प्रतिवर्ष की आमदनी होगी ॥२१-२५॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ॥२६॥

वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ।

वैश्य कभी यह विचार भी न करे, कि मैं पशुओं का पालन नहीं करूंगा। यदि वैश्य पशुपालन में प्रवृत्त हो—तो अन्य को कभी पशुपालन का काम स्वीकार नहीं करना चाहिए ॥२६॥

शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ॥२७॥
प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥२८॥

हे भारत ! अब मैं तुम से शूद्र के धर्मों का वर्णन करता हूँ। प्रजापति ने शूद्र को सारे वर्णों का दास बनाया है, इससे शूद्र को सारे वर्णों की परिचर्या करनी चाहिए ॥२७-२८॥

तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत्सुखमवाप्नुयात् ।
शूद्र एतान्परिचरेत्त्रीन्वर्णाननुपूर्वशः ॥२९॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इनकी सेवा से ही शूद्र को बड़े सुख की प्राप्ति हो सकती है। शूद्र तो इन तीनों वर्णों की क्रमशः सेवा में तत्पर रहे ॥२९॥

संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन ।
पापीयान्हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद्गरीयसः ॥३०॥

शूद्र कभी धन का सञ्चय न करे। यह धन को प्राप्त करके पापी हो जावेगा और उत्तम वर्ण वालों को अपने वश में करने चल देगा ॥३०॥

राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥३१॥

धार्मिक शूद्र जो काम करे, उसमें राजा की आज्ञा ले लेने अब मैं उसकी वृत्ति और जीवनोपयोगी कर्मों का वर्णन करता हूं ॥३१॥

अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते।
छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद्व्यजनानि च॥३२॥
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे।
अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः॥ ३३॥
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत्।

प्रत्येक वर्ण को शूद्र का भरण पोषण अवश्य करना चाहिए। जो शूद्र सेवा करता हो, उनको द्विजाति, भोग में आए हुए छत्र, शरीर के वस्त्र, जूते, पंखे देते रहें। द्विजातियों को फटे वस्त्र धारण नहीं करने चाहिए, किन्तु शूद्रों को दे देने उचित है, क्योंकि उनका यह धर्मानुसार प्राप्त अधिकार है॥३२-३३॥

यं च कंचिद्द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत् ॥३४॥
कल्प्यां तेन तु ते प्राहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः ॥

जो शूद्र जिस किसी द्विजाति की सेवा में तत्पर हो, उसको उसकी वृत्ति वहीं नियत करे, यह धर्मात्माओं का मत है॥३४॥

देयः पिंडोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ॥३५॥
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्यांचिदापदि।

जो पुत्र रहित कोई शूद्र रह जावे, तो उसके अन्न वस्त्र का प्रबन्ध करना चाहिए। वृद्ध और दुर्बल, सेवक शूद्र का भरण पोषण करना स्वामी द्विजाति का परम कर्तव्य है। शूद्र कभी भी आपत्ति में अपने भर्ता का त्याग न करे। यदि भर्ता का द्रव्य क्षीण हो जावे, तो अपने बचे हुए द्रव्य से उसको सहायता पहुँचा देवे।

अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये ॥३६॥
न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः ।
उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत ॥
स्वाहाकारवषट्कारौ मंत्रः शूद्रे न विद्यते ॥३७॥
तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान्स्वयम् ।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥३८॥

शूद्र का अपने धन पर कुछ भी अधिकार नहीं है। भर्ता का ही वह धन होता है, वह उसे चाहे, तो आपत्काल में ले सकता है। तीन वर्णों को यज्ञ का अधिकार है, यद्यपि शूद्र को भी स्वाहाकार और वषट्कार (यज्ञ हवन-पितृ कर्म) आदि का अधिकार है,परन्तु उसमें मन्त्रोच्चारणका अधिकार नहीं है,इसलिए शूद्र क्षुद्रयज्ञ, ग्रहशान्ति, बलिवैश्वदेव आदि को कर सकता है, परन्तु ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके वेद नहीं पढ़ सकता है। इनके यज्ञ में गौदान के स्थान में पूर्णपात्रों की गणना करके दक्षिणा दी जाती है ॥३८॥

शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ ।
ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥३९॥

पैजवन नामक शूद्र ने अपने यज्ञ में एक लक्ष पूर्णपात्र दान में दिए थे। यह दक्षिणा ऐंद्राग्न देवता के उद्देश्य से दी गई थी—ऐसा सुना जाता है ॥३९॥

यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत ।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥४०॥

हे भारत ! सारे वर्णों के जो यज्ञ हैं-वे इन सेवकों के ही समझने चाहिए या सब वर्णों के यज्ञों के तुल्य शूद्र का पाक यज्ञ समझना उचित है। सारे यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ श्रद्धा यज्ञ माना गया है ॥४०॥

दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत् ।
दैवतं हि परं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम् ॥४१॥
अयजन्निह सर्वैस्ते तैस्तैः कामैः समाहिताः ।
संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः ॥४२॥

श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणादि की सेवा से उसे सब कुछ प्राप्त होगा। महती श्रद्धा बड़ी पवित्र मानी गई है और सारे यजनों में वह पवित्र है। ब्राह्मण परम देवता हैं, वे लोग अपने २ स्वामी ब्राह्मण के यज्ञों में ही यज्ञ के भागी होते हैं। उनकी इसी से सारी कामना पूर्ण होती है। तीनों वर्णों में ब्राह्मणों ने ही सृष्टि उत्पन्न की है ॥४१-४२॥

देवानामपि ये देवा यद्ब्रूयुस्ते परं हितम् ॥
तस्माद्वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यन्ते न काम्यया ॥४३॥

जो ब्राह्मण देवों के भी देव हैं। वे कुछ कहते हैं-ये परम हितकारी बात समझनी चाहिए, इससे प्रत्येक वर्ण के मनुष्य को कामना के अनुसार प्रत्येक यज्ञ को नहीं करना चाहिए ॥४३॥

ऋग्यजुःसामवित्पूज्यो नित्यं स्याद्देववद्द्विजः ।
अनृग्यजुरसामा च प्राजापत्य उपद्रवः ।
यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ॥४४॥
नास्य यज्ञकृतो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः ।
ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥४५॥

जो ब्राह्मण, ऋग्, यजु और सामवेद का ज्ञाता है, वह देवता की तरह पूज्य माना जाना चाहिए। ऋग् यजु और सामवेद के अनधिकारी शूद्र प्रजापत्य होता है अर्थात् वह धर्मात्मा माना जाता है। जिस तरह मैत्र ब्राह्मण, ऐन्द्र क्षत्रिय, उसी तरह प्राजापत्य शूद्र होता है। हे भारत ! शूद्र का यज्ञ, मानस यज्ञ मान गया है। इनका सारे वर्णों के यज्ञ में अधिकार है। इनका सा यज्ञ न तो देव ही कर सकते हैं और न कोई ब्राह्मणादि ही कर सकता है। इसी से सारे वर्णों में शूद्र के इस श्रद्धायज्ञ का बड़ा महत्व है ॥४४-४५॥

स्वं दैवतं ब्राह्मणः स्वेन नित्यं परान्वर्णानयजन्नैवमासीत् ।
अधरो वितानः संसृष्टो वैश्यो ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः

ब्राह्मण स्वयं देवता है। वह अपनी आज्ञा से अन्य वर्णों को यज्ञ में प्रवृत्त नहीं करता-ऐसा नहीं है, अपितु अपनी आज्ञासे प्रवृत्त करता ही है। ब्राह्मणेत्तर वर्णों का यज्ञ विस्तार ब्राह्मण की अपेक्षा निकृष्ट है। वैश्य के यज्ञ में मन्त्रों का सम्पर्क देखा जाता है । इस तरह ब्राह्मण तीनों वर्णों को यज्ञ का अधिकार देने वाला है ॥४६॥

तस्माद्वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णाः संसृज्यन्ते तस्य विकार एव
एकं साम यजुरेकमृगेका विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः ॥

इन सब कारणों पर विचार करने से सारे वर्ण धर्मात्मा माने गए हैं, क्योंकि सबका यज्ञ में अधिकार है। वर्णसाम्य होने से इन सबको एक ही बन्धु बान्धव समझना चाहिए। ब्राह्मणों की सन्तान से ही सबका सम्पर्क लगा हुआ है। सामवेद एक ही है, यजुर्वेद भी एक है और ब्राह्मण भी एक ही है। इसी निश्चय में ब्राह्मण भी एक ही सबका कारण और सबसे श्रेष्ठ है ॥४७॥

अत्र गाथा यज्ञगीताः कीर्तयन्ति पुरा विदः ।
वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम् ॥४८॥

हे राजेन्द्र ! पूर्व गाथा के जानने वाले वृद्ध लोगों ने यज्ञ विषयक यह गीत गाया है, जो यज्ञ करने के इच्छुक वैखानस मुनियों से सम्बन्ध रखता है ॥४८॥

उदितेऽनुदिते वाऽपि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत् ॥४९॥

जो जितेन्द्रिय लोग सूर्य के उदय या अनुदय के समय धर्म-पूर्वक हवन करने का विधान करते हैं, उसमें श्रद्धा ही महान् कारण मानी गई है। ॥४९॥

यत्स्कन्नमस्य तत्पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम् ।
बहूनि यज्ञरूपाणि नानाकर्मफलानि च ॥५०॥

जो मरुत् देवता के सम्बन्ध से यज्ञ किया जाता है, वह स्कन्न कहाता है, वह पूर्व में होता है। जो विधि-पूर्वक हवन है, वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। बहुत से रुद्र सम्बन्ध से यज्ञ किए जाते हैं-उनकी अनेक क्रिया और उनके अनेक फल हैं ॥५०॥

तानि यः सम्प्रजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः।
द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति ॥५१॥

जो ज्ञान के निश्चय से परिपक्व हो गया है, वही इन सोलह प्रकार के अग्निहोत्रों को जानता है। जो ब्राह्मण श्रद्धा से युक्त होकर इन यज्ञों को करता है, वह यज्ञ करने के योग्य है ॥५१॥

स्तेनो वा यदि वा पापो यदि वा पापकृत्तमः।
यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम् ॥५२॥

कोई कितना भी चोर, पापी या महापापी क्यों न हो, यदि वह यज्ञ करना चाहता है, तो महात्मा उसे साधु पुरुष ही समझेंगे ॥५२॥

ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम्।
सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः
न हि यज्ञसमं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥५३॥

उस पुरुष की ऋषि लोग भी बहुत प्रशंसा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं है। सब काल में सब तरह प्रत्येक वर्ण को यज्ञ करना चाहिए—यह निर्णय समझो। यज्ञ के समान कोई वस्तु त्रिलोकी में पवित्र नहीं है ॥५३॥

तस्माद्यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानसूयता।
श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति यथेच्छया॥ ५४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्म-कथने षष्टितमोऽध्यायः ॥६०॥

धर्म की वृद्धि चाहने वाले पुरुष पवित्र श्रद्धा का आश्रय लेकर यथाशक्ति और इच्छानुसार सर्वदा यज्ञ करते रहें, यही सर्वोत्तम है ॥५४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में वर्णाश्रम-धर्म कथन के आरम्भ का साठवाँ अध्याय
समाप्त हुआ।



इकसठवां अध्याय

भीष्म उवाच—आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर ॥१॥

भीष्म बोले—हे महाबाहो ! सत्यपराक्रमी ! राजन् ! युधिष्ठिर ! अब तुम चारों आश्रमों के नाम और कर्मों का श्रवण करो ॥१॥

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम्।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥२॥

ब्रह्मचर्य, महान् आश्रम गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास–ये चार आश्रम होते हैं। इनमें चौथे आश्रम संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण को है ॥२॥

जटाधरणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च ।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥३॥
सदारो वाऽप्यदारो वा आत्मवान्संयतेन्द्रियः ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत्कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥४॥

जिसने द्विजकुल (तीनों वर्ण) में जन्म लेकर जटाधारण का संस्कार कर लिया। अग्न्याधान आदि कर्म समाप्त कर दिए। वेद का जहां तक हो सका अध्ययन कर लिया, ऐसा आत्मसंयमी जितेन्द्रिय द्विजाति अपनी स्त्री को साथ लेकर वन में चला जावे या स्त्री को घर छोड़कर गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थ में जावे। इस तरह मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है ॥३-४॥

तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् ।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥५॥

वानप्रस्थ आश्रम में धर्माचारी मनुष्य सारे आरण्यक शास्त्रों का अध्ययन करे। इसके बाद ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी होकर संन्यास ग्रहण करे, जिससे उसको ब्रह्म में लीनता प्राप्त हो जावेगी ॥५॥

एतान्येव निमित्तानि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
कर्तव्यानीह विप्रेण राजन्नादौ विपश्चिता ॥६॥

हे राजन ! ये पूर्वोक्त कर्तव्य,ऊर्ध्वरेता मुनियों के थे, जिनका सबसे प्रथम आचरण करना विद्वान् ब्राह्मण का काम था ॥६॥

चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते ।
भैक्षचर्यास्वधाकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥७॥

हे विशाम्पते ! जिस ब्राह्मण ने ब्रह्मचर्य आश्रम का निर्वाह किया है और उसको ज्ञान हो गया-तो वह संन्यास ले सकता है। मोक्षाभिलाषी पुरुष को स्वधाकार स्वाहाकार आदि कर्म करने की आवश्यकता नहीं है ॥७॥

यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः ।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥८॥

संन्यासी, सूर्य के अस्त होने पर शयन करे अर्थात् दिन में शयन न करे। वह आशा और घर से रहित रहे। जो कुछ मिल जावे-उससे जीविका करे, वही जितेन्द्रिय उत्तम मुनि कहाता है॥८॥

निराशीः स्यात्सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान् ।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥९॥

आशा रहित, भोगों का त्यागी, सबको समान दृष्टि देखने वाला, विकार हीन ब्राह्मण, कल्याणकारी संन्यास आश्रम को प्राप्त करके अक्षर ब्रह्म में लीन हो जाता है ॥९॥

अधीत्य वेदान्कृतसर्वकृत्यः सन्तानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा
समाहितः प्रचरेद्दुश्चरं यो गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम् ।

वेदों का अध्ययन करके जो सब तरह से कृतकृत्य हो गया है, सन्तान उत्पन्न करके सारे सुख भोग लिए हैं। जिसने मुनि धर्म के समान इस कठिन गृहस्थ धर्म का पालन बड़ी सावधानी से किया है, वही संन्यासी होकर ब्रह्म में लीन होता है ॥१०॥

स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी नियोगसेवी न शठो न जिह्मः।
मिताशनो देवरतः कृतज्ञः सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥
दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो ह्यन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः
अमत्सरी सर्वलिङ्गप्रदाता वैतानित्यश्च गृहाश्रमी स्यात् ॥

अपनी स्त्री में ही सन्तोष रखने वाला ऋतुकालगामी, धर्म शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चलने वाला, शठताहीन, कुटिलता त्यागी, स्वल्पाहारी, देवरत, कृतज्ञ, सत्याचारी, कोमल प्रकृति, दयालु, क्षमाशील, जितेन्द्रिय, नम्र, पितृ कर्म-देव कर्म में सावधान, सर्वदा ब्राह्मणों को अन्नदाता, मत्सररहित, सारे आश्रमियों को अन्नभिक्षा का देने वाला, यज्ञपरायण, गृहस्थी होना चाहिए।

अथात्र नारायणगीतमाहुर्महर्षयस्तात महानुभावाः।
महार्थमत्यन्ततपः प्रयुक्तं तदुच्यमानं हि मया निबोध ॥१३

हे तात ! महानुभाव महर्षि, इस सम्बन्ध में महान् अर्थ से संयुक्त, अत्यन्त तप शाली, नारायण गीत गाया है। मैं तुमको सुनाता हूं—तुम ध्यान से सुनो ॥१३॥

सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च धर्मस्तथाऽर्थश्च रतिः स्वदारैः।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके ह्यस्मिन्परे चैव मतं ममैतत्

जो राजा सारे भूतों पर अनुकम्पा करना चाहे, वह पृथिवी का ऐसा संस्कार करे, जिससे अन्न की अधिक उत्पत्ति हो। राजा के कर्तव्य राजसूय आदि यज्ञों का भी राजा को उत्तमता से सम्पादन करना चाहिए। संन्यास आश्रम को छोड़ कर उसे प्रजा के पालन में तत्पर रहना चाहिए। राजा का रण में देह त्याग न करना ही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है ॥२॥

त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति सर्वश्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः
नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव ॥

मुनि लोग संन्यास को ही उत्तम कहते हैं और इसी आश्रम में शरीर त्याग करना वे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। राजा लोग तो जिस तरह नित्य राज धर्म प्रजा पालन में लगे रहते हैं-यह तुम देख भी रहे हो और इसी में उनका कल्याण भी है ॥३॥

बहुश्रुत्या गुरुशुश्रूषया च परस्पराः संहननाद्वदंति।
नित्यं धर्मं क्षत्रियो ब्रह्मचारी चरेदेको ह्याश्रमं धर्मकामः ॥

बहुत से शास्त्रों के अध्ययन और गुरु सेवा तथा युद्ध के द्वारा सर्वोत्कृष्ट, क्षत्रिय वीर इसी प्रजा पालन को अपना एक मात्र धर्म बताते हैं। धर्माभिलाषी क्षत्रिय, ब्रह्मचर्य धारण करके केवल एक आश्रम ब्रह्मचर्य का और आचरण कर सकता है ॥४॥

सामान्यार्थे व्यवहारप्रवृत्ते प्रियाप्रिये वर्जयन्नेव यत्नात्।
चातुर्वर्ण्यं स्थापनात्पालनाच्च तैस्तैर्योगैर्नियमैरौरसैश्च ॥५॥

ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी ।
परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन्वसेत्सदा ॥१९॥
शुश्रूषां सततं कुर्वन्गुरोः सम्प्रणमेत च ।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ॥२०॥
न चरत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च ।
एषोऽऽश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥२१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चतुराश्रमधर्म-कथने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥६१॥

हे युधिष्ठिर ! कोई ब्रह्मचारी जप शील होकर, कोई वेदाध्ययन करके, कोई सब कुछ करके एक आचार्य की सेवा में तत्पर हो जाता है। इस समय इसका अन्तःकरण अज्ञान रूपी कीचड़ से युक्त होता है । जब ब्रह्मचारी, व्रतपरायण होकर नित्य अपनी दीक्षा के अनुसार कर्म करता है और जितेन्द्रिय रहता है, सर्वदा वेद के ही अध्ययन में तत्पर होता है । गुरुशुश्रूषा करता हुआ गुरुकुल में बसता है। सारे वैदिकधर्मों का अनुष्ठान करता है और नित्य गुरुको प्रणाम करता है। निद्रा तन्द्रा या यजन आदि षट् कर्म से निवृत्त होकर विषयों में आवृष्ट होता है। किसी पर भी अपना अधिकार(हुकूमत) न चला कर सबकी सेवा करता है और शत्रु से नहीं दबता है। हे तात ! यह ब्रह्मचर्य आश्रम के अनुष्ठान की प्रक्रिया है। ऐसा ब्रह्मचारी मोक्ष का भागी होता है ॥१९-२१॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में चारों आश्रमों के धर्मों के वर्णन का इकसठवां अध्याय समाप्त हुआ।



हे भगवन् ! मैं इस विषय में आपके मत को सुनना चाहता हूं-आप यह मुझे सुनाइए ! हे सुरेश्वर ! आप तो हम क्षत्रियों के वन्धुभूत हो ॥१६॥

इन्द्र उवाच-मातापित्रोर्हि शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥१७॥
भूमिपानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥१८॥
पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च ।
दानानि च यथाकालं द्विजेभ्यो विसृजेत्सदा ॥१९॥

इन्द्र ने कहा—ये लोग जो दस्युवृत्ति करने से दस्यु कहाते हैं, इनको भी अपने माता पिताओं की सेवा करनी चाहिए । ये लोग भी अपने आचार्य, गुरु और सारे आश्रमवासियों की सेवा करे तथा इन सारे दस्युओं को राजाओं की भी सेवा में परायण हो जाना चाहिए । वेदानुसार धर्मक्रिया करना-इनका भी तो धर्म है । पितृ-यज्ञ, कूप, प्याऊ आदि निर्माण करना, शय्या आदि ब्राह्मणों को यथा समय पर दान देना—इनका भी धर्म है ॥१७-१९॥

अहिंसासत्यमक्रोधा वृत्तिदायानुपालनम् ।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥२०॥
दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता ॥
पाकयज्ञा महार्हाश्च दातव्याः सर्वदस्युभिः ॥२१॥
एतान्येवं प्रकाराणि विहितानि पुराऽनघ ।
सर्वलोकस्य कर्माणि कर्तव्यानीह पार्थिव ॥२२॥

जो ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों का सेवन करता है, वह मूर्ख इस लोक में निन्दित होकर परलोक में नरक को प्राप्त करता है ॥४॥

या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ ।
विकर्मणि स्थिते विप्रे सैव संज्ञा च पाण्डव ॥५॥

हे पाण्डव ! दास तथा कुत्ता, भेड़िया, आदि पशु के विषय में जो उपाधियां लोग व्यवहृत करते हैं, वे ही कर्म हीन ब्राह्मण में माननी चाहिए अर्थात् वह कुत्ते की तरह नीच होता है ॥५॥

षट्कर्मसम्प्रवृत्तस्य आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ।
सर्वधर्मोपपन्नस्य संवृतस्य कृतात्मनः ॥६॥
ब्राह्मणस्य विशुद्धस्य तपस्यभिरतस्य च ।
निराशिषो वदान्यस्य लोका ह्यक्षरसंमिताः ॥७॥

चारों आश्रमों में प्राणायाम या यजन आदि षट् कर्मों में प्रवृत्त, अहिंसा आदि सब धर्मों से युक्त, चपलताहीन, जितेन्द्रिय, तपपरायण, मांसाहारत्यागी, उदार, दानी, विशुद्ध ब्राह्मण को अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है॥ ६-७॥

यो यस्मिन्कुरुते कर्म यादृशं येन यत्र च ।
तादृशं तादृशेनैव सगुणं प्रतिपद्यते ॥८॥

जो मनुष्य जिस अवस्था में जहां पर जैसा जिसके द्वारा कर्म करता है, वह कर्म उसी तरह अपना कभी न कभी फल लाता है ॥८॥

वृद्ध्या कृषिवणिक्त्वेन जीवसञ्जीवनेन च।
वेत्तुमर्हसि राजेन्द्र स्वाध्यायगणितं महत् ॥९॥

हे राजेन्द्र ! व्याजवृद्धि, कृषि, व्यापार मृगया आदि से जीविका-ये भी जिसके स्वाभाविक कर्म है, उसको वेदाध्ययन के समान फल देते हैं॥९॥

कालसंचोदितो लोकः कालपर्यायनिश्चितः।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽवशः॥१०॥

यह सब काल की प्रेरणा पर चलता है, जो पूर्वजन्म की वासना के अधीन होता है। मनुष्य इन कर्मों के वश में पड़ा हुआ, परतन्त्र होकर उत्तम, मध्यम और अधम कर्म करता रहता है॥१०॥

अन्तवन्ति प्रधानानि पुराश्रेयस्कराणि च।
स्वकर्मनिरतो लोको ह्यक्षरः सर्वतोमुखः॥११॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने द्विषष्टितमोऽध्यायः॥६२॥

पूर्व सम्पादित शुभ अशुभ कर्म प्रधान होते हैं, परन्तु वे अन्त वाले हैं, मनुष्य परतन्त्रता से अपने कर्मों के चक्कर में सब ओर चक्कर लगाता है अर्थात् कर्मों के वश में मनुष्य परवश होकर स्वर्ग नरक में जाता है॥११॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में वर्णाश्रम धर्मों के कथन का बासठवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

तरेसठवां अध्याय

भीष्म उवाच—

ज्याकर्षणं शत्रुनिबर्हणं चकृषिर्वणिज्या पशुपालनंच
शुश्रूषणं चापि तथाऽर्थहेतोरकार्यमेतत्परमं द्विजस्य ॥१

भीष्म कहने लगे—हे राजन्! धनुष चढ़ाना, शत्रु से युद्ध करना, कृषि (खेती) व्यापार, पशु पालन तथा धन के लिए सेवा करना-ब्राह्मण के लिए अत्यन्त अकार्य माने गये हैं ॥१॥

सेव्यं तु ब्रह्म षट्कर्म गृहस्थेन मनीषिणा ।
कृतकृत्यस्य चारण्ये वासो विप्रस्य शस्यते ॥२॥

विचारशील गृहस्थी ब्राह्मण को ब्रह्म और अपने षट् कर्मों का सेवन करना चाहिए। जब ब्राह्मण अपने सारे कर्तव्य कर चुके, तो फिर वन में जाकर वास करना चाहिए-यही सर्वोत्तम मार्ग है।

राजप्रेष्यं कृषिधनं जीवनं च वणिक्पथा ।
कौटिल्यं कौलटेयं च कुसीदं च विवर्जयेत् ॥३॥

राजा की सेवा, (राज की नौकरी) कृषि से धन, व्यापार से जीवन, कुटिलता और व्यभिचार से धनार्जन तथा व्याज इनको ब्राह्मण छोड़ देवे ॥३॥

शूद्रो राजन्भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः ।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च राजप्रेष्यो यश्च भवेद्विकर्मा ॥

जो ब्राह्मण, दुश्चरित्र और धर्म रहित है, उसे शूद्र समझना चाहिए। जो ब्राह्मण शूद्र का पति, चुगलखोर, नाचने वाला, राज्या-

अशृण्वानाः पुराणानां धर्माणां परमा गतीः ।
उत्पथं प्रतिपत्स्यन्ते काममन्युसमीरिताः ॥२६॥

लोग प्राचीन शास्त्रों का श्रवण छोड़ बैठेंगे । धर्म के उत्तम मार्ग छूट जावेंगे और सारे लोग काम क्रोध के वशीभूत होकर मार्ग छोड़ कर चल पड़ेंगे ॥२६॥

यदा निवर्त्यते पापो दण्डनीत्या महात्मभिः ।
तदा धर्मो न चलते सद्भूतः शाश्वतः परः ॥२७॥

जब महाबली राजाओं द्वारा दण्डनीति का उचित प्रयोग होगा-तो सारा पापनिवृत्त हो जावेगा और उस समय यह सनातन उत्कृष्ट वैदिक धर्म कभी नहीं डगमगावेगा ॥२७॥

सर्वलोकगुरुं चैव राजानं योऽवमन्यते ।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥२७॥

सब लोक के पूज्य, राजा की जो अवहेलना करता है, उसका दान, हवन और श्राद्ध कुछ भी सफल नहीं होता ॥२८॥

मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम् ।
देवाऽपि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥२६॥

जो धर्मात्मा राजा है, वह मनुष्यों का अधिपति तथा सनातन देव है। ऐसे धर्मात्मा राजा का देवता भी अनादर नहीं कर सकते हैं ॥२६॥

प्रजापतिर्हि भगवान्सर्वं चैवासृजज्जगत् ।
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं धर्माणां क्षत्रमिच्छति ॥३०॥

जो ब्राह्मण, जितेन्द्रिय, यज्ञ में सोमपानकर्ता, आर्य आचरण-शील, दयालु प्रवृत्ति सब कुछ सह लेने वाला, आशात्यागी, सरल, कोमल, नीचवृत्ति रहित और क्षमाशील होता है, वही ब्राह्मण है, अन्य ब्राह्मण नहीं — वह तो पापी माना जावेगा ॥८॥

शूद्रं वैश्यं राजपुत्रं च राजन्लोकाः सर्वे संश्रिता धर्मकामाः
तस्माद्वर्णान्शान्तिधर्मेष्वसक्तान्मत्वा विष्णुर्नेच्छति पाण्डुपुत्र

हे राजन्! सारे संसार के मनुष्य, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय व्यवहार का आश्रय लेकर अपना निर्वाह करते हैं। इसी तरह उनको धर्म कामनापूर्ण होती है। हे पाण्डु-पुत्र! भगवान विष्णु ने अन्य वर्णों को शान्ति धर्म में असमर्थ देखकर उनको इस कठोर धर्म में लगाने की इच्छा नहीं की ॥९॥

लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्याच्चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च सद्यः सर्वे चाश्रमस्था न वै स्युः

सारे लोक की यह चतुर्वर्णव्यवस्था, वेद चर्चा, सारे यज्ञ, सारे लोक की क्रियाएं और आश्रमधर्म ब्राह्मण के बिना चल सकते हैं ॥१०॥

यश्च त्रयाणां वर्णानामिच्छेदाश्रमसेवनम् ।
चातुराश्रम्यदृष्टांश्च धर्मास्ताञ्शृणु पाण्डव ॥११॥

हे पाण्डव! राजा, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को अपने २ वर्णाश्रम के अनुसार जिन २ धर्मों का आचरण कराना चाहे, अब तुम उन चारों आश्रम के धर्मों का श्रवण करो ॥११॥

हे भारत ! जो लोग वन में या अन्य आश्रमों में रहकर धर्म का अर्जन करते हैं, वे उनकी रक्षा करने के कारण उन तप में से उनको भी धर्म का शतांश प्राप्त होता है ॥४१॥

एष ते विविधो धर्मः पांडवश्रेष्ठ कीर्तितः ।
अनुतिष्ठ त्वमेनं वै पूर्वदृष्टं सनातनम् ॥४२॥

हे पाण्डवश्रेष्ठ ! इस प्रकार तुमको मैंने यह अनेक प्रकार के धर्मों की चर्चा सुना दी है। तुम इसका अनुष्ठान करो। यह पूर्व-काल से चला आता हुआ सनातन धर्म है ॥४२॥

चातुराश्रम्यमैकाग्र्यं चातुर्वर्ण्यं च पाण्डव ।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यसे पालने रतः ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चातुराश्रम्यविधौ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

हे पुरुषशार्दूल ! पाण्डव ! इस तरह राजधर्म का पालन करते हुए तुम चारों आश्रम और चारों वर्णों के धर्म के फल का भाग प्राप्त कर सकोगे ॥४३॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में चारों आश्रमों के धर्म फल के वर्णन का छियासठवां अध्याय समाप्त हुआ।

पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतांवर ।
राजसूयाश्वमेधादीन्मखानन्यांस्तथैव च ॥१७॥
आनयित्वा यथापाठं विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणः ।
संग्रामे विजयं प्राप्य तथाल्पं यदि वा बहु ॥१८॥
स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव ।
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ॥१९॥
अर्चयित्वा पितॄन्सम्यक्पितृयज्ञैर्यथाविधि ।
देवान्यज्ञैरृषीन्वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः ॥२०॥
अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान् राजन्गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥२१
राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्ष्यचर्या न सेवया ।
अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ॥२२॥
न चैतन्नैष्ठिकं कर्म त्रयाणां भूरिदक्षिण ।
चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ॥२३॥

हे अनघ ! धर्म-पूर्वक वेद का अध्ययन करके राजनीति पढ़ कर, सारी प्रजा का पालन करके, वेद विधि के क्रमसे राजसूय, अश्वमेघ आदि अन्य यज्ञों को समाप्त करके, ब्राह्मणों को दक्षिणा दान देकर, संग्राम में थोड़ी या अधिक विजय प्राप्त करके, राज्य-सिंहासन पर प्रजापालक पुत्र या अन्य गोत्र के उत्तम क्षत्रिय कुमार को बैठाकर, अच्छी तरह पितृ यज्ञ से विधि-पूर्वक पितरों की सेवा करके, यज्ञों से देव, वेद से ऋषियों की प्रयत्न-पूर्वक

पूजा करके, जो क्षत्रिय वृद्धावस्था में क्रम से आश्रमों का सेवन करता हुआ वानप्रस्थ सन्यास आश्रम में जाना चाहे—तो इस तरह उसे भी सिद्धि मिल सकती है। हे वदतांवर, क्षत्रियर्षभ! राजन्! युधिष्ठिर! राजर्षि को तो वेदान्त आदि सब कुछ सुनने का अधिकार है, इससे भैक्ष्यचर्या कर सकता है। उसे अन्न के लिए सेवा का परित्याग करना चाहिए। यद्यपि अब उसके साथ गृहस्थ के धर्म नहीं हैं, तो भी क्षत्रिय केवल जीवन प्राप्ति के निमित्त भैक्ष्यचर्या का सेवन करें। हे भूरिदक्षिण! यह भिक्षा चर्या तीनों वर्णों का स्वाभाविक धर्म नहीं है। हे राजशार्दूल! यह तो उनकी इच्छा है—वह इस वानप्रस्थ या सन्यास आश्रम को ग्रहण करे या न करे ॥१६-२३॥

बाह्वायत्तं क्षत्रियैर्मानवानां लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः ।
सर्वे धर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां राज्ञो धर्मादिति वेदाच्छृणोमि

हे राजेन्द्र! धर्म की सेवा में परायण, क्षत्रियों को अपने बाहुबल के आश्रय से वश में करना उत्तम माना गया है। तीनों ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों के धर्म और उपधर्म, राजा के धर्म परायण रहने से ही चलते हैं-यह हम वेद से सुनते आए हैं ॥२४॥

यथा राजन्हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्वोद्भवानि ।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्सर्वावस्थं सम्प्रलीनान्निबोध ॥

हे राजन्! जिस तरह सारे प्राणियों के चरणों के चिन्ह हाथी के चरण चिन्ह में लीन हो जाते हैं। इसी तरह सारे वर्णों के धर्मों को सारी अवस्थाओं में राजधर्म में प्रलीन समझो ॥२५॥

अल्पाश्रयानल्पफलान्वदन्ति धर्मानन्यान्धर्मविदो मनुष्याः।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः॥२६॥

हे राजन्! अन्य वर्ण धर्म और कर्मों को थोड़ा फल देने वाला और अल्प आश्रम वाला धर्म के ज्ञाता विद्वान् बताते हैं। महान् आश्रम धारी और बहुत से कल्याणों से युक्त यह क्षत्रिय धर्म है। अन्य ब्राह्मण धर्म आदि कोई भी इसके बराबर नहीं है, ऐसा आर्य विद्वान् मानते हैं ॥२६॥

सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्

हे राजन! सारे धर्मों में राजधर्म प्रधान है। सारे वर्ण इसी राजधर्म से पाले जाते हैं। सब कुछ यज्ञ में दान दे देना—इसी वर्ण का धर्म है। यह दान देना-सनातन और सर्वश्रेष्ठ है—इसमें सन्देह नहीं है ॥२७॥

मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे

यदि राजा की दण्ड नीति का लोप हो जावे, तो तीनों वर्ण लुप्त हो जावेंगे। इसी तरह सारे धर्म भी मुरझा कर क्षीण हो जावेंगे। आश्रमों के सारे ही धर्म नष्ट हो जावेंगे। यह सब कुछ तभी होगा-जब सनातन क्षात्र धर्म की समाप्ति हो जावेगी ॥२८॥

सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः

राजधर्म में सारे त्याग दिखाई देते हैं। राजधर्म में सारी यज्ञ दीक्षा दे दी गई है। सारी विद्याएँ भी राजधर्म के अन्तर्गत हैं तथा सारे लोक भी इसी राजधर्म के अधीन चल रहे हैं ॥२६॥

यथा जीवाः प्राकृतैर्वध्यमाना धर्मश्रुतानामुपपीडनाय ।
एवं धर्मा राजधर्मैर्वियुक्ताः सञ्चिन्वन्तो नाद्रियन्ते स्वधर्मम्

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥

हिंसक लोग पशु पत्ती आदि का वध करते हैं। यह उनका कर्म उनके वेद या लोक के धर्म का जिस तरह नाश करता है, इसी तरह राजधर्म से रहित हुए अन्य भी अपने धर्म को खोजते रहेंगे-परन्तु उनको अपना धर्म कहीं भी प्राप्त नहीं होगा अर्थात् राजधर्म के बिना उनके सारे धर्म नष्ट हो जावेंगे ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में वर्णाश्रम धर्म के कथन का तरेसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ



चौसठवाँ अध्याय

भीष्म उवाच—चातुराश्रम्यधर्माश्च यतिधर्माश्च पाण्डव ।

लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः ॥१॥

भीष्म बोले—हे पाण्डव ! चारों आश्रम यतिधर्म तथा लोक और वेद के जितने धर्म हैं, वे सब क्षात्र धर्म के आश्रय से चलने वाले हैं ॥१॥

सर्वाण्येतानि कर्माणि क्षात्रे भरतसत्तम ।

निराशिषो जीवलोकाः क्षत्रधर्मे व्यवस्थिते ॥२॥

हे भरतसत्तम ! जितने भी कर्म हैं, वे सब क्षत्रिय धर्म के आधार पर हैं, जब क्षत्रिय धर्म में शिथिलता आती है, तो सारा प्राणी समूह कल्याण रहित हो जाता है ॥२॥

अप्रत्यक्षं बहुद्वारं धर्ममाश्रमवासिनाम् ।

प्रकोपयन्ति तद्भावमागमैरेव शाश्वतम् ॥३॥

हे राजन् ! जितने भी अन्य आश्रमों के निवासी हैं, उनका धर्म अप्रत्यक्ष और अनेकों द्वार वाला है अर्थात् राजधर्म की भाँति प्रत्यक्ष गौरवशाली नहीं है। ये लोग अपने आश्रमों द्वारा वस्तुतः शाश्वत धर्म के स्वरूप को ही बिगाड़ देते हैं ॥३॥

अपरे वचनैः पुण्यैर्वादिनो लोकनिश्चयम् ।

अनिश्चयज्ञा धर्माणामदृष्टान्ते परे हताः ॥४॥

अन्य लोग मोटे २ उत्तम वचनों से लोक धर्मों के प्रतिपादन करने वाले हैं। परन्तु विरुद्ध आगम परायण, मनुष्य धर्म का निश्चय नहीं कर पाते हैं। ये लोग तो अदृष्ट के विषय में बिल्कुल नष्ट बुद्धि हो गये हैं—अर्थात केवल प्रत्यक्षवादी हैं ॥४॥

प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठमात्मसाक्षिकमच्छलम् ।
सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥५॥

क्षत्रिय धर्म प्रत्यक्ष है, इसमें सुख का भाग बहुत अधिक है। आत्मा को ही इस पर विश्वास होता चला जाता है। इसमें कोई कपट या छल नहीं है और यह सब लोक का हित करने वाला है ॥५॥

धर्माश्रमेऽव्यवसिनां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ।
यथा त्रयाणां वर्णानां संख्यातोपश्रुतिः पुरा ।
राजधर्मेष्वनुमता लोकाः सुचरितैः सह ।
उदाहृतं ते राजेन्द्र यथा विष्णुं महौजसम् ॥७॥
सर्वभूतेश्वरं देवं प्रभुं नारायणं पुरा ।
जग्मुः सुबहुशः शूरा राजानो दण्डनीतये ॥८॥
एकैकमात्मनः कर्म तुलयित्वाऽऽश्रमं पुरा ।
राजानः पर्युपासन्तः दृष्टान्तवचने स्थिताः ॥९॥

हे युधिष्ठिर ! वर्ण धर्म, आश्रम धर्म प्रयत्नशील ब्राह्मणों में तीनों वर्णों का अन्तर्भाव जिस तरह किया गया था, उसी तरह अपने २ सदाचार के साथ लोग राजधर्म के साथ जुड़े हुए हैं।

हे राजेन्द्र! इस बात का तुमको प्रथम ही उदाहरण दे दिया, कि किस तरह महा ओजस्वी, सब भूतों के ईश्वर, नारायण देव के समीप बहुत से शूरवीर राजा दण्ड नीति की प्राप्ति के लिए पहुँचे थे। इन राजाओं ने अपने २एक एक कर्म की आश्रम धर्मों के साथ तुलना की थी। अन्त में ये राजधर्म श्रेष्ठ हैं या आश्रम धर्म- इसके तत्व को सुनने के लिये भगवान् विष्णु के समीप बैठे रहे।

साध्या देवा वसवश्चाश्विनौ च रुद्राश्च विश्वे मरुतां गणाश्च।
सृष्टाः पुरा ह्यादिदेवेन देवाः क्षात्रे धर्मे वर्तयन्ते च सिद्धाः

भगवान् नारायण ने साध्य, देव, वसु, आश्विन, रुद्र, विश्वेदेवा, रुद्र, मरुत् गण और सिद्धों की सृष्टि की। वे लोग भी प्रथम क्षात्र धर्म में ही प्रवृत्त हुए ॥१०॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि धर्ममर्थविनिश्चयम्।
निर्मर्यादे वर्तमाने दानवैकार्णवे पुरा ॥११॥
बभूव राजा राजेन्द्र मान्धाता नाम वीर्यवान्।
पुरा वसुमतीपालो यज्ञं चक्रे दिदृक्षया ॥१२॥
अनादिमध्यनिधनं देवं नारायणं प्रभुम्।
स राजा राजशार्दूल मान्धाता परमेश्वरम् ॥१३॥
जगाम शिरसा पादौ यज्ञे विष्णोर्महात्मनः।
दर्शयामास तं विष्णू रूपमास्थाय वासवम् ॥१४॥
स पार्थिवैर्वृतः सद्भिरर्चयामास तं प्रभुम्।
तस्य पार्थिवसिंहस्य तस्य चैव महात्मनः ॥
संवादोऽयं महानासीद्विष्णुं प्रति महाद्युतिम् ॥१५॥

मनुरुवाच—बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम् ।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥२२॥

मनु जी कहने लगे—हे ब्रह्मन् ! राजा बनने पर पाप कर्म होना आवश्यक सा है, कि उसमें लोगों को दण्ड देना पड़ता है। इस राज्य का ग्रहण करना बड़ा दुस्तर है और मनुष्यों का राज्य ग्रहण करना तो और भी कठिन है, क्योंकि ये सर्वदा मिथ्याचार में लगे रहते हैं ॥२२॥

भीष्म उवाच—तमब्रुवन्प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति ।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥२३॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥२४॥
मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः ।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥२५॥

भीष्म बोले—हे राजन् ! उस समय प्रजा ने मनु से कहा—तुम डरो मत—दण्ड देने में पाप नहीं है। वह तो जो पाप करता है, उसी का पाप है। हम लोग पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवां भाग, धान्य का दशवां भाग, तुम्हारे कोश की वृद्धि के निमित्त देते रहेंगे। जब कोई कन्या विवाह के लिए उद्यत होगी-तो उसको सर्व प्रथम आपकी भेंट करेंगे अर्थात् आप

सकता और न प्रत्यक्ष रूप में ब्रह्मा ही देख सकते हैं । इस कामना के सिवा तुम्हारे मन में यदि अन्य कामना हो-तो मैं उसको प्रदान कर सकता हूं । क्योंकि तुम मनुष्यों में राजा हो ।

सत्ये स्थितो धर्मपरो जितेन्द्रियः शूरो दृढप्रीतिरतः सुराणाम्
बुद्ध्या भक्त्या चोत्तमः श्रद्धया च ततस्तेऽहं दद्मि वरान्यथेष्टम्

हे राजन् ! तुम सत्य में स्थित, धर्म परायण, जितेन्द्रिय, शूरवीर और देवों में दृढ़ प्रीति हो । तुमने बुद्धि, भक्ति और श्रद्धा का भी उत्तम आदर्श प्रकट किया है । अब मैं तुमको यथेष्ट वर प्रदान करता हूं ॥१८॥

मान्धातोवाच—

असंशयं भगवन्नादिदेवं द्रक्ष्यामि त्वाऽहं शिरसा संप्रसाद्य
त्यक्त्वा कामान्धर्मकामो ह्यरण्यमिच्छे गन्तुं सत्पथं लोकदृष्टम्

मान्धाता कहने लगे—हे भगवन् ! मुझे तो निश्चय है, कि जब मैं मस्तक झुका कर आपको प्रणाम से प्रसन्न कर लूँगा—तब मुझे अवश्य भगवान् विष्णु के दर्शन हो जावेंगे । मैं तो सारी कामनाओं को छोड़ चुका, अब तो मुझे केवल धर्म प्राप्ति की कामना है । जिस मार्ग को संसार सन्मार्ग कहता है, अब तो मैं उसी मार्ग वन को जाना चाहता हूं ॥१९॥

क्षात्राद्धर्माद्विपुलादप्रमेयाल्लोकाः प्राप्ताः स्थापितं स्वं यशश्च
धर्मो योऽसावादिदेवात्प्रवृत्तो लोकश्रेष्ठं तं न जानामि कर्तुं

मैंने महा शक्तिशाली कठोर राजधर्म से अपने उत्तम लोकों की प्राप्ति कर ली है और संसार में भी मेरा यश फैला चुका है; परन्तु

त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
इहेदानीं ततो रामः कर्मणो विरराम ह ॥९॥

भगवान् परशुराम ने, इक्कीस बार पृथिवी को निःक्षत्रिय कर डाली थी । इसके बाद यहां आकर ही वह क्षत्रियों के वध से उपराम को प्राप्त हुए हैं ॥९॥

युधिष्ठिर उवाच-

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ।
रामेणेति तथाऽऽत्थ त्वमत्र मे संशयो महान् ॥१२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे कृष्ण ! आप कहते हैं, कि परशुराम ने इक्कीस वार पृथिवी को निःक्षत्रिय कर दिया-तो इस विषय में तो मुझे बड़ा सन्देह उत्पन्न हो गया है ॥१०॥

क्षत्रवीजं यथा दग्धं रामेण यदुपुङ्गव ।
कथं भूयः समुत्पत्तिः क्षत्रस्यामितविक्रम ॥११॥

हे यदुपुङ्गव ! जब परशुराम ने क्षत्रियों का बीज ही दग्ध कर डाला-हे अमितविक्रम ! फिर यह इतनी अधिक क्षत्रियों की कहां से उत्पत्ति हो गई ॥११॥

महात्मना भगवता रामेण यदुपुङ्गव ।
कथमुत्सादितं क्षत्रं कथं वृद्धिमुपागतम् ॥१२॥

हे यदुकुलभूषण ! महावीर भगवान् परशुराम ने, किस लिए क्षत्रियों का विनाश किया और फिर उसे कैसे वृद्धि प्राप्त हुई-आप मुझे यह सुनाइए॥१२॥

पूर्वकाल में अत्यन्त ओजस्वी देव और ऋषियों की भगवान् विष्णु ने क्षात्र धर्मानुसार कर्म का आश्रय लेकर रक्षा की थी और बलपूर्वक शत्रुओं को पराजित किया था ॥२३॥

यदि ह्यसौ भवन्नाहनिष्यद्रिपून्सर्वानसुरानप्रमेयः।
नब्राह्मणा न च लोकाऽऽदिकर्तानायंधर्मोनादिधर्मोऽभविष्यत्

यदि अप्रमेय भगवान् विष्णु अपनी शक्ति का आश्रय लेकर पूर्वकालमें शत्रु भूत असुरों का वध न करते-तो न तो ब्राह्मण होते और न लोक होते, न आदि कर्ता ब्रह्मा होता, न यह धर्म होता और न ब्रह्मा का ही कोई धर्म हो सकता था ॥२४॥

इमामुर्वी नाजयद्विक्रमेण देवश्रेष्ठः सासुरामादिदेवः।
चातुर्वर्यं चातुराश्रम्यधर्माः सर्वे न स्युर्ब्राह्मणानां विनाशात्

यदि असुरों के सहित सारी पृथिवी को देव श्रेष्ठ आदि देव भगवान् नहीं जीतते, तो चारों वर्ण और चारों आश्रमों के धर्म, ब्राह्मण के नष्ट हो जाने से नष्ट हो जाते ॥२५॥

नष्टा धर्माः शतधा शाश्वतास्ते क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः
युगे युगे ह्यादिधर्माः प्रवृत्ता लोकज्येष्ठं क्षात्रधर्मं वदन्ति

सनातन धर्म बहुत से नष्ट हो भी चुके थे, परन्तु क्षात्र धर्म के आधार से वे फिर बढ़ गए। इस क्षात्र धर्म के प्रभाव से ही युग २ में ब्रह्मा द्वारा प्रचलित किया हुआ धर्म प्रवृत्त हुआ है। इसी से लोक में इस क्षात्र धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है ॥२६॥

जो मनुष्य अपनी उन्नति चाहता है, वह नियमशील, मन को वश में रखने वाला, जितेन्द्रिय, मेधावी, स्मृतिशाली, दक्ष पुरुष, राजा का आश्रय ग्रहण करे ॥५४॥

कृतज्ञं प्राज्ञमक्षुद्रं दृढभक्तिं जितेन्द्रियम् ।
धर्मनित्यं स्थितं नीत्यं मन्त्रिणं पूजयेन्नृपः ॥५६॥

राजा भी कृतज्ञ, बुद्धिमान्, उदार, दृढ़ भक्ति युक्त, जितेन्द्रिय, नित्य धर्म परायण, राजनीति जानने वाले मन्त्री का आदर करे।

दृढभक्तिं कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम् ।
शूरमक्षुद्रकर्माणं निपिद्धजनमाश्रयेत् ॥५७॥

राजा दृढ़ भक्तिशाली, प्रज्ञाशील, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, शूरवीर, क्षुद्र कर्मों से रहित, अत्यन्त महावीर, अकेले ही काम कर देने में समर्थ पुरुप को मन्त्री बनावे ॥५७॥

प्रज्ञा प्रगल्भं कुरुते मनुष्यं राजा कृशं वै कुरुते मनुष्यम् ।
राजाऽभिपन्नस्य कुतः सुखानि राजाऽभ्युपेतं सुखिनंकरोति

हे राजन्! मनुष्य को उसकी बुद्धि, बाचाल बनाती है। राजा, मनुष्य को कृश (क्षीण) बनाता रहता है। जो राजा से विरोध करता है, उसको सुख कहां प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु जो राजा का आश्रय लेता है, वही सुख युक्त होता है ॥५८॥

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च ।
समाश्रिता लोकमिमं परं च जयन्ति सम्यक्पुरुषा नरेन्द्र ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्म-कथने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

यह क्षत्रिय सब धर्मों की रक्षा करने वाला है, जो संसार में सर्व श्रेष्ठ और सनातन है। यह मोक्ष तक पहुंचाने वाला, स्वयं सर्वतोगामी अविनाशी धर्म है ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में वर्णाश्रमधर्म के कथन का चौसठवां अध्याय समाप्त हुआ।



पैंसठवां अध्याय

इन्द्र उवाच—

एवंवीर्यः सर्वधर्मोपपन्नः क्षात्रः श्रेष्ठः सर्वधर्मेषु धर्मः।
पाल्यो युष्माभिर्लोकहितैरुदारैर्विपर्यये स्यादभवः प्रजानाम्

इन्द्र बोले—हे राजन्! इस प्रकार का पराक्रम रखने वाला सब धर्मों से युक्त ही क्या? सारे धर्मों में श्रेष्ठ, क्षात्र धर्म का तुम लोगों को पालन करना चाहिए, क्योंकि तुम लोग उदार और लोक हितकारी हो। यदि ऐसा नहीं करोगे-तो प्रजा का विनाश होगा ॥१॥

भूसंस्कारं राजसंस्कारयोगमभैक्ष्यचर्या पालनं च प्रजानाम्
विद्याद्राजा सर्वभूतानुकम्पी देहत्यागं चाहवे धर्ममग्र्यम्

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! इसके अनन्तर गद नामक यादव वीर के ज्येष्ठ भ्राता, भगवान् कृष्ण अत्यन्त ओजस्वी राजा युधिष्ठिर से सारी परशुराम की कथा ठीक २ सुनाने लगे, जिसमें क्षत्रियों के शवों से सारी पृथिवी भरती चली गई थी ॥१६

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तगत राजधर्मपर्व में परशुरामोपाख्यान का अड़तालीसवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ



उन्नचासवां अध्याय

वासुदेव उवाच—

शृणु कौन्तेय रामस्य प्रभावो यो मया श्रुतः ।
महर्षीणां कथयतां विक्रमं तस्य जन्म च ॥१॥

श्रीकृष्ण कहने लगे—हे कौन्तेय! तुम परशुराम का पराक्रम और उसकी उत्पत्ति सुनो, जिसको मुझे बड़े २ महर्षियों ने सुनाया है ॥१॥

यथा च जामदग्न्येन कोटिशः क्षत्रिया हताः ।
उद्धृता राजवंशेषु ये भूयो भारते हताः ॥२॥

मैं तुमको वह सारी कथा सुनाता हूं, जिस तरह जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने करोड़ों क्षत्रिय मार गिराए और फिर भी उनके राजवंश चलते रहे, जो अब इस भारती युद्ध में मारे गए हैं ॥२॥

सामान्य रूप से चलते हुए इस संसार के कार्यों में राजा यत्नपूर्वक किसी के प्रिय या अप्रिय में रागद्वेष वश प्रवृत्त न होवे। चारों वर्णों के स्थापन और पालन तथा उन योग, नियम और पुरुषार्थों से ही राजा के चारों आश्रमों की सिद्धि हो जाती है ॥५॥

सर्वोद्योगैराश्रमं धर्ममाहुः चात्रं श्रेष्ठं सर्वधर्मोपपन्नम्।
स्वं स्वं धर्मं येन चरन्ति वर्णास्तांस्तान्धर्माननन्यथार्थान्वदंति
निर्मर्यादानित्यमर्थेनिविष्टानाहुस्तांस्तान्वै पशुभूतान्मनुष्यान्
यथा नीतिं गमयत्यर्थयोगाच्छ्रेयस्तस्मादाश्रमात्क्षात्रधर्मः ॥

मुनि लोग सारे बल के साथ यही कहते हैं, कि आश्रम धर्म ही एक मात्र धर्म है, परन्तु इन सारे धर्मों से संयुक्त क्षात्र धर्म बड़ा श्रेष्ठ है। प्रत्येक वर्ण इस क्षत्रिय धर्म आश्रय से ही अपने २ धर्म का आचरण करता है। यदि क्षात्र धर्म न हो तो सारे धर्म कर्म और काम धन्धे उलट पलट हो जावे ॥५-६॥

अविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां ये चैवोक्ताश्चाश्रमा ब्राह्मणानाम्
एतत्कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्यमन्यत्कुर्वञ्छूद्रवच्छस्त्रवध्यः ॥८॥

मनीषी लोग ऐसे पुरुषों को मर्यादा हीन, अर्थलोलुप और पशु धर्म में संलीन कहते हैं, जो स्वार्थ में निमग्न होकर अपनी इच्छानुसार चल पड़ते हैं। इस तरह अन्य आश्रमों की अपेक्षा क्षत्रिय का धर्म प्रजापालन ही सर्वश्रेष्ठ है ॥८॥

चातुराश्रम्यधर्माश्च वेदधर्माश्च पार्थिव।
ब्राह्मणेनानुगन्तव्या नान्यो विद्यात्कदाचन ॥९॥

तीनों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों के जो यज्ञादि कर्म हैं तथा उनको विहित जो आश्रम धर्म हैं, यह सब कुछ ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठ माना गया है। जो अन्य क्षत्रिय आदि इस संन्यास आश्रम में प्रवृत्त होता है, उसे तो शूद्र (अपराधी) के समान मार डालना चाहिए ॥९॥

अन्यथा वर्तमानस्य नासौ वृत्तिः प्रकल्प्यते ।
कर्मणा वर्धते धर्मो यथा धर्मस्तथैव सः ॥१०॥

हे पार्थिव ! चारों आश्रमों के धर्म और वेद के धर्मों का आचरण तो केवल ब्राह्मण करे—अन्य को तो इनके जानने की भी आवश्यकता नहीं है ॥१०॥

यो विकर्मस्थितो विप्रो न स सन्मानमर्हति ।
कर्म स्वं नोपयुञ्जानमविश्वास्यं हि तं विदुः ॥११॥

यदि कोई इस विधान के विपरीत आचरण करेगा, तो उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। कर्म से ही धर्म बढ़ता है जिसका जैसा धर्म उसको उसी के अनुसार होना चाहिए। जो ब्राह्मण अपने कर्म को छोड़ कर अन्य के कर्म में प्रवृत्त होता है, वह सन्मान को प्राप्त नहीं होता है। जो अपने कर्म का आचरण नहीं करता-उस पर धर्म की व्यवस्था का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए ॥११॥

एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना उत्कृष्टव्याः क्षत्रियैरेष धर्मः ।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये वीरज्येष्ठा वीरधर्मा मता मे

ये जो अन्य ब्राह्मणों के आश्रम धर्म कहे हैं, क्षत्रिय को तो उनको ही बढ़ाना चाहिए-बस ! यही क्षत्रिय का धर्म है। आश्रम धर्म के रक्षक होने के कारण राजधर्म श्रेष्ठ माने गए हैं। अन्य धर्मों का इतना ऊंचा स्थान नहीं है, क्योंकि क्षत्रिय अपनी वीरता से श्रेष्ठ है। इनका तो एक वीरता ही धर्म माना गया है ॥१२॥

मान्धातोवाच—यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः

शकास्तुषाराः कङ्काश्च पल्हवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥१३॥

पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।

ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥१४॥

कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः।

मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥१५॥

मान्धाता ने कहा—हे इन्द्र ! यवन, किरात, गान्धार, चीनी, शबर, बर्बर, शक, तुषार, कङ्क, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, पौण्ड्र, पुलिन्द, रमठ, काम्बोज,आदि ब्राह्मण और क्षत्रियों के बाद उत्पन्न हुए वैश्य और शूद्र—ये लोग कैसे धर्म का आचरण कर सकते हैं,क्योंकि ये सब विषय परायण हैं। ये तो सब दस्युवृत्ति से अपना जीवन चलाते हैं, फिर मुझ जैसा मनुष्य इन लोगों की कैसे स्थापना या रक्षा कर सकता है ॥१३-१५॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं भगवंस्तद्ब्रवीहि मे।

त्वं बन्धुभूतो ह्यस्माकं क्षत्रियाणां सुरेश्वर ॥१६॥

तस्याः प्रीतः स शौचेन भार्गवः कुरुनन्दन ।
पुत्रार्थं श्रपयामास चरुं गाधेस्तथैव च ॥८॥

हे कुरुनन्दन ! अपनी भार्या पर प्रसन्न होकर भृगुपुत्र ऋचीक ने पुत्रोत्पत्ति करने के लिए खीर बनाई और उसमें से अपने श्वशुर गाधि के पुत्र उत्पन्न करने को भी देना चाहा ॥८॥

आहूयोवाच तां भार्यां सर्चीको भार्गवस्तदा ।
उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्राऽप्ययं तव ॥९॥

भृगुपुत्र ऋचीक ने अपनी भार्या सत्यवती को बुलाकर कहा–तुम इस चरु का उपभोग करना और अपनी माता को इस चरु को दे देना ॥९॥

तस्या जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान्क्षत्रियर्षभः ।
अजय्यः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः ॥१०॥

इस चरु से तेरी माता के बड़ा तेजस्वी क्षत्रियश्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न होगा। वह श्रेष्ठ २ क्षत्रियों को पछाड़ देने वाला होगा, जिसको कोई भी क्षत्रिय जीत नहीं सकेगा ॥१०॥

तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं शमात्मकम् ।
तपोन्वितं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति ॥११॥

हे कल्याणि ! इस चरु से तुम्हारे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह धैर्यशाली, शमपरायण, तपस्वी और द्विजों में श्रेष्ठ होगा ॥११॥

इत्येवमुक्त्वा तां भार्यां सर्चीको भृगुनन्दनः ।
तपस्यभिरतः श्रीमान् जगामारण्यमेव हि ॥१२॥

अहिंसा सत्य, अक्रोध, वृत्ति और दायभाग का पालन, पुत्र, स्त्री आदि का भरण-पोषण, शौच, अद्रोह-ये सब इन सब दस्युओं को भी सिखा देने चाहिए। सारे यज्ञों में दक्षिणा दान करने से इन दस्युओं का भी बड़ा कल्याण होता है। पाकयज्ञ (क्षुद्रयज्ञ) इनको बहुत पूजनीय हैं। उनको ये सारे यवन आदि करते रहें। हे सर्व पाप रहित राजन! ये जो प्रकार बताए गए हैं, ये तो सब लोगों के कर्म हैं। इनको उन्हें करना चाहिए और राजा को उन्हें कराना चाहिए ॥२०-२२॥

मान्धातोवाच—दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः।
लिङ्गान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥२३॥

मान्धाता बोले—हे इन्द्र! इन पूर्वोक्त दस्युओं को जाने दो, मुझे तो इस मनुष्य लोक में सारे वर्णों में दस्यु दिखाई देते हैं। उनकी कोई विशेष पहिचान नहीं है। वे चारों आश्रमों में भी घुसे पड़े हैं। उनका क्या किया जावे ॥२३॥

इन्द्रउवाच—विनष्टायां दण्डनीत्यां राजधर्मे निराकृते।
संप्रमुह्यन्ति भूतानि राजदौरात्म्यतोऽनघ ॥२४॥
असंख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गिनस्तथा।
आश्रमाणां विकल्पाश्च निवृत्तेऽस्मिन्कृते युगे ॥२५॥

इन्द्र ने कहा—हे अनघ! जब दण्डनीति विनष्ट हो जाती है, राजधर्म लुप्त होता है, तब राजा की दुर्बलता या दुष्टता से सारे मनुष्य अपने २ कर्तव्य को भूल जाते हैं। इस समय असंख्य वेषधारी साधु संन्यासी निकल पड़ते हैं। सारे आश्रम विपरीत हो जावेंगे। यह सब कुछ इस कृतयुग के व्यतीत होने से होगा ॥२४॥

हे मुने ! महातेजस्वी शिविपुत्र गोपति है। वह वन में गौओं के साथ अभिरक्षित हुआ है। वह भी मेरी रक्षा कर सकता है।

प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम महाबलः।
वत्सैः संवर्धितो गोष्ठे स मां रक्षतु पार्थिवः ॥८०॥

राजा प्रतर्दन, का पुत्र महाबली वत्स है, वह भी वत्सों के साथ गोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त हुआ है। वह राजा भी मेरी रक्षा कर सकता है ॥८०॥

दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिविरथस्य च।
गुप्तः स गौतमेनासीद्गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः ॥८१॥

गंगा के तट पर किसी गौतम ब्राह्मण ने दधिवाहन का पौत्र दिविरथ का पुत्र बचा रखा है। वह मेरी रक्षा कर सकता है॥८१॥

बृहद्रथो महातेजा भूरिभूतिपरिष्कृतः।
गोलांगूलैर्महाभागो गृध्रकूटेऽभिरक्षितः ॥८२॥

बड़े भारी ऐश्वर्यसे सम्पन्न, महाभाग, महातेजस्वी राजा बृहद्रथ लंगूरों के साथ गृद्धकूट पर्वत पर सुरक्षित है ॥८२॥

मरुत्तस्यान्ववाये च रक्षिताः क्षत्रियात्मजाः।
मरुत्पतिसमा वीर्ये समुद्रेणाभिरक्षिताः ॥८३॥

इन्द्र के समान पराक्रमी, बहुत से क्षत्रियवीर, राजपुत्र मरुत्त के कुल के सुरक्षित हैं। उनकी समुद्र ने रक्षा की है ॥८३॥

एते क्षत्रियदायादास्तत्र तत्र परिश्रुताः।
व्योकारहेमकारादिजातिं नित्यं समाश्रिताः ॥८४॥

भगवान् प्रजापति ने सारे जगत् को रचा है। वही प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप धर्म की रक्षा के निमित्त क्षत्रिय वीरों की इच्छा करता है ॥३०॥

प्रवृत्तस्य हि धर्मस्य बुद्ध्या यः स्मरते गतिम् ।
स मे मान्यश्च पूज्यश्च तत्र क्षत्रं प्रतिष्ठितम् ॥३१॥

जो राजा प्रवृत्तिमार्ग से युक्त धर्म की अपनी बुद्धि द्वारा रक्षा करता है-वही मेरा मान्य और पूज्य है तथा उसी में सारे क्षत्रिय धर्म की प्रतिष्ठा है ॥३१॥

भीष्म उवाच—एवमुक्त्वा स भगवान्मरुद्गणवृतः प्रभुः ।
जगाम भवनं विष्णोरक्षरं शाश्वतं पदम् ॥३२॥

भीष्म बोले—हे राजन ! इतना कहकर शक्तिशाली भगवान् इन्द्र, देवों के साथ विष्णु के सनातन अक्षय स्थान को चले गए ।

एवं प्रवर्तिते धर्मे पुरा सुचरितेऽनघ ।
कः क्षत्रमवमन्येत चेतनावान्बहुश्रुतः ॥३३॥

हे अनघ ! इस प्रकार पूर्वकाल में इस धर्म की प्रवृत्ति का उपदेश किया गया और मान्धाता ने सत्युग में उसका प्रचार किया। इस दशा में कौन विद्वान् समझ रखता हुआ, इस क्षत्रिय धर्म को न्यून बता कर इसका तिरस्कार कर सकता है ॥३३॥

अन्यायेन प्रवृत्तानि निवृत्तानि तथैव च ।
अन्तरा विलयं यान्ति यथा पथि विचक्षुषः ॥३४॥

यदि कोई धर्म विरुद्ध प्रवृत्तिधर्म का आचरण करेगा-तो जैसे मार्ग में अन्धे की गति विलीन हो जाती है, उसी तरह वे प्रवृत्ति धर्म या निवृत्ति धर्म दोनों में ही विलीन हो जावेंगे ॥३४॥

आदौ प्रवर्तिते चक्रे तथैवादिपरायणे ।
वर्तस्व पुरुषव्याघ्र संविजानामि तेऽनघ ॥३५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रमान्धातृसंवादे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥६५॥

हे अनघ ! पुरुषव्याघ्र ! यह आदिकाल से संसारचक्र चल रहा है-तुम भी इस आदि क्षात्रधर्म में परायण हो जाओ । मैं यह समझता हूं, कि तुम इसके आचरण करने के बहुत योग्य हो ।

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में इन्द्र मान्धाता के सम्वाद का पैंसठवां अध्याय समाप्त हुआ ।

छियासठवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—श्रुता मे कथिताः पूर्वं चत्वारो मानवाश्रमाः
व्याख्यानयित्वा व्याख्यानमेषामाचक्ष्व पृच्छतः ॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! आपने जो चारों आश्रमों के धर्मों का संक्षेप में वर्णन किया है; अब आप इनका अच्छी तरह व्याख्यान करके समझाइए-मेरी यही जिज्ञासा है ॥१॥

भीष्म उवाच—विदिताः सर्व एवेह धर्मास्तव युधिष्ठिर ।

यथा मम महाबाहो विदिताः साधुसम्मताः ॥२॥

भीष्म ने कहा—हे महाबाहो ! युधिष्ठिर ! इस लोक में जितने धर्म हैं, उनको तुम भी उतना ही जानते हो-जितना मैं जानता हूँ और जितना श्रेष्ठ पुरुषों ने समझा है ॥२॥

यत्तु लिङ्गान्तरगतं पृच्छसे मां युधिष्ठिर ।

धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठ तन्निबोध नराधिप ॥३॥

हे धर्मराज ! आपने जो अन्य २ लिङ्ग (आश्रमधर्म) के विषय में पूछा है, वह मैं तुमको बताता हूँ । हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, नराधिप ! आप उसे समझ लो ॥४॥

सर्वाण्येतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ ।

साध्वाचारप्रवृत्तानां चातुराश्रम्यकारिणाम् ॥४॥

हे मनुजर्षभ ! कौन्तेय ! उत्तम आचार में प्रवृत्त चारों आश्रमों के धर्मों के आचरण करने वाले, लोगों के ये सारे लिङ्ग (चिन्ह) इस राजधर्म के भीतर ही आ जाते हैं ॥४॥

अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर ।

समदर्शिनश्च भूतेषु भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥५॥

हे युधिष्ठिर ! जो राजा राग-द्वेष छोड़कर दण्डनीति का व्यवहार करता है और सारे भूतों में समदर्शी होता है, उसको संन्यास पद की प्राप्ति हो जाती है ॥५॥

वेत्ति ज्ञानविसर्गं च निग्रहानुग्रहं तथा ।

यथोक्तवृत्तेर्धीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत् ॥६॥

जो दान-पूर्वक दान तथा निग्रह अनुग्रह को जानता है, उस धर्म के ठीक २ आचरण करने वाले धीर-राजा को गृहस्थाश्रम के पुण्य का फल मिल जाता है ॥६॥

अर्हान्पूजयतो नित्यं संविभागेन पाण्डव।
सर्वतस्तस्य कौन्तेय भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥७॥

हे पाण्डव ! पूज्य पुरुषों की सेवा करने और सबको ठीक २ यथभाग दिला देने वाले राजा को अच्छी तरह ब्रह्मचर्य के पुण्य की प्राप्ति होती है ॥७॥

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि व्यापन्नानि युधिष्ठिर।
समभ्युद्धरमाणस्य दीक्षाश्रमपदं भवेत् ॥८॥

हे युधिष्ठिर ! जो अपने जाति, बान्धव, सम्बन्धी और मित्रों को विपत्ति से बचाते हैं, उनको वानप्रस्थ आश्रम का पुण्य प्राप्त होता रहता है ॥८॥

लोकमुख्येषु सत्कारं लिङ्गिमुख्येषु चासकृत्।
कुर्वतस्तस्य कौन्तेय वन्याश्रमपदं भवेत् ॥९॥

हे कौन्तेय ! जो पूज्य व्यक्तियों का सत्कार तथा आश्रम परायण पुरुषों का आदर करते हैं, उन राजाओं को वानप्रस्थ आश्रम का पुण्य प्राप्त होता है ॥९॥

आह्निकं पितृयज्ञांश्च भूतयज्ञान्समानुषान्।
कुर्वतः पार्थ विपुलान्वन्याश्रमपदं भवेत् ॥१०॥

हे पार्थ ! जो राजा अच्छी तरह दैनिक पितृयज्ञ, अतिथि सत्कार या भूत बलि करता रहता है, उस राजा को वानप्रस्थ के पुण्य की प्राप्ति होती है ॥१०॥

संविभागेन भूतानामतिथीनां तथाऽर्चनात् ।
देवयज्ञैश्च राजेन्द्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥११॥

हे राजेन्द्र ! प्राणियों को उन २ का भाग दिलाने, अतिथियों के पूजन और देवयज्ञों के करने से भी राजा को वानप्रस्थ के पुण्य की प्राप्ति होती है ॥११॥

मर्दनं परराष्ट्राणां शिष्टार्थं सत्यविक्रम ।
कुर्वतः पुरुषव्याघ्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥१२॥

हे सत्यपराक्रमी ! पुरुषव्याघ्र ! जो संसार के शासन के निमित्त दुष्ट परराष्ट्रों का मर्दन करता है-उस राजा को भी वानप्रस्थ की सिद्धि मिल जाती है ॥१२॥

पालनात्सर्वभूतानां स्वराष्ट्रपरिपालनात् ।
दीक्षा बहुविधा राजन्सत्याश्रमपदं भवेत् ॥१३॥

हे राजन् ! सारे प्राणियों के पालन तथा अपने राष्ट्र के पालन से संन्यास आश्रम के पुण्य का फल मिलता है ॥१३॥

वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाऽथाचार्यपूजनम् ।
अथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥१४॥

नित्य वेद का अध्ययन, क्षमा, आचार्य पूजन तथा आचार्य की सेवा शुश्रूषा भी संन्यास आश्रम क पुण्य का अधिकारी बनाती है ॥१४॥

आह्निकं जपमानस्य देवान्पूजयतः सदा ।
धर्मेण पुरुषव्याघ्र धर्माश्रमपदं भवेत् ॥१५॥

हे पुरुषव्याघ्र ! नित्य धर्म-पूर्वक जप करने वाले और देवों को पूजने वाले राजा को गृहस्थाश्रम के पुण्य का फल मिलता है।

मृत्युर्वा रक्षणं वेति यस्य राज्ञो विनिश्चयः।
प्राणद्यूते ततस्तस्य ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥१६॥

जब प्राण की बाजी लगा कर राजा युद्ध करता है, तो उस समय या तो मृत्यु प्राप्त होगी या प्रजा की रक्षा हो जावेगी-ऐसा जो राजा निश्चय कर लेता है, उसको भी संन्यास आश्रम के पुण्य की प्राप्ति होती है ॥१६॥

अजिह्ममशठं मार्गं वर्तमानस्य भारत।
सर्वदा सर्वभूतेषु ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥१७॥

हे भारत ! सीधे और दुष्टता से रहित मार्ग में वर्तमान रह कर सारे प्राणियों के साथ समान व्यवहार करने पर राजा को संन्यास आश्रम की प्राप्ति होती है ॥१७॥

वानप्रस्थेषु विप्रेषु त्रैविद्येषु च भारत।
प्रयच्छतोऽर्थान्विपुलान्वन्याश्रमपदं भवेत् ॥१८॥

हे भारत ! जो वेदाध्ययन परायण, वानप्रस्थी ब्राह्मण हैं, उनको बहुत सा धन देने वाले राजा को वानप्रस्थ आश्रम के पुण्य का फल मिलता है ॥१८॥

सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥१९॥

हे भरतर्षभ ! सब प्राणियों पर दया करने वाले और दयालुता परायण होने से सारे आश्रमों के फलों की प्राप्ति होती है।

बालवृद्धेषु कौन्तेय सर्वावस्थं युधिष्ठिर।
अनुक्रोशक्रिया पार्थ सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥२०॥

हे कुन्तीपुत्र ! युधिष्ठिर ! सारी अवस्थाओं में बालक वृद्ध आदि सब के ऊपर जो दया करता है, वह सब आश्रमों के फल का देने वाला है ॥२०॥

बलात्कृतेषु भूतेषु परित्राणं कुरूद्वह।
शरणागतेषु कौरव्य कुर्वन्गार्हस्थ्यमावसेत् ॥२१॥

हे कुरुवंशश्रेष्ठ ! जिन लोगों पर बल-पूर्वक अत्याचार किया गया है और उससे रक्षा के निमित्त जो शरणागत हुए हैं, उनकी रक्षा करने वाले राजा को गृहस्थ के पुण्य का फल प्राप्त होता है।

चराचराणां भूतानां रक्षणं चापि सर्वशः।
यथार्हपूजां च तथा कुर्वन्गार्हस्थ्यमावसेत् ॥२२॥

सारे चर अचर प्राणिसमूह की रक्षा करना और उनकी यथायोग्य पूजा कर देना भी गृहस्थधर्म के फल को प्राप्त कराता है ॥२२॥

ज्येष्ठानुज्येष्ठपत्नीनां भ्रातॄणांपुत्रनप्तॄणाम्।
निग्रहानुग्रहौ पार्थ गार्हस्थ्यमिति तत्तपः ॥२३॥

हे पार्थ ! अपने छोटे बड़े भाइयों की पत्नी तथा पुत्र नप्ताओं की रक्षा पालन करना एवं निग्रह अनुग्रह रूप राजधर्म में प्रवृत्त रहना-गृहस्थाश्रम का तप है ॥२३॥

साधूनामर्चनीयानां पूजा सुविदितात्मनाम् ।
पालनं पुरुषव्याघ्र गृहाश्रमपदं भवेत् ॥२४॥

हे पुरुषव्याघ्र ! आत्मज्ञानी, पूजा के योग्य, महात्माओं की पूजा करना और उनकी पालना करते रहना गृहाश्रम के पुण्य का देने वाला है ॥२४॥

आश्रमस्थानि भूतानि यस्तु वेश्मनि भारत ।
आदद्यीतिह भोज्येन तद्गार्हस्थ्यं युधिष्ठिर ॥२५॥

हे भरतवंशश्रेष्ठ ! युधिष्ठिर ! जो राजा आश्रम स्थित मनुष्यों को भोजन के निमित्त अपने घर पर बुलाता है, वह सारे गृहस्थ के तप का पुण्य प्राप्त करता है ॥२५॥

यः स्थितः पुरुषो धर्मे धात्रा सृष्टे यथाऽर्थवत् ।
आश्रमाणां हि सर्वेषां फलं प्राप्नोत्यनामयम् ॥२६॥

विधाता के रचित इस संसार में जो यथार्थ रूप से धर्म में स्थित होता है, वह सर्व सुखदायी सारे आश्रमों के फलों को प्राप्त कर लेगा ॥२६॥

यस्मिन्न नश्यन्ति गुणाः कौन्तेय पुरुषे सदा ।
आश्रमस्थं तमप्याहुर्नरश्रेष्ठं युधिष्ठिर ॥२७॥

हे कौन्तेय ! युधिष्ठिर ! जिस पुरुष के गुणों का कभी नाश नहीं होता, उस नरश्रेष्ठ (राजा) को सारे आश्रमों के फल प्राप्त होते हैं ॥२७॥

स्थानमानं कुले मानं वयोमानं तथैव च ।
कुर्वन्वसति सर्वेषु ह्याश्रमेषु युधिष्ठिर ॥२८॥

हे युधिष्ठिर ! गुरु आदि के स्थान का मान, कुल का मान या वयोवृद्धता का मान, जो राजा करता है-उसका यही सारे आश्रमों का निवास है ॥२८॥

देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च ।
पालयन्पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥२९॥

हे पुरुषव्याघ्र ! कौन्तेय ! जो राजा, देशधर्म, कुल धर्म का ठीक २ पालन करता है, वह आश्रमों का पालन कर्ता हो जाता है।

काले विभूतिं भूतानामुपहारांस्तथैव च ।
अर्हयन्पुरुषव्याघ्र साधूनामाश्रमे वसेत् ॥३०॥

हे पुरुषव्याघ्र ! जो राजा समय पर प्राणियों को धन, दान और उपहार (इनाम) देता है, वह साधुओं से सेवित सारे आश्रमों के फल का अधिकारी बन जाता है ॥३०॥

दशधर्मगतश्चापि यो धर्मं प्रत्यवेक्षते ।
सर्वलोकस्य कौन्तेय राजा भवति सोऽऽश्रमी ॥३१॥

हे कौन्तेय ! जो राजा आपत्ति से ग्रस्त होकर भी सब लोगों के धर्म की ओर देखता रहता है, वह राजा सारे आश्रमों के पुण्य का भागी होता है ॥३१॥

ये धर्मकुशला लोके धर्मं कुर्वन्ति भारत ।
पालिता यस्य विषये धर्मांशस्तस्य भूपतेः ॥३२॥

हे भारत ! जो धर्म कुशल मनुष्य संसार में जिस राजा के राज में पालित होकर धर्म का आचरण करते रहते हैं, उस राजा को उन लोगों के पुण्य के फल का अंश मिलता है ॥३२॥

धर्मारामान्धर्मपरान्ये न रक्षन्ति मानवान् ।
पार्थिवाः पुरुषव्याघ्र तेषां पापं हरन्ति ते ॥२३॥

हे पुरुषव्याघ्र ! धार्मिक राजा धर्मी ने तथा धर्म परायण मनुष्यों की जो रक्षा नहीं करता है, वह राजा उन लोगों के पाप का भागी होता है ॥२३॥

ये चाप्यत्र सहायाः स्युः पार्थिवानां युधिष्ठिर ।
ते चैवांशहराः सर्वे धर्मे परकृतेऽनघ ॥२४॥

हे अनघ ! युधिष्ठिर ! राजा के इस प्रजा पालन रूप कर्म में जो सहायक होते हैं, वे भी उन प्रजा के किए हुए, धर्म के अंश के भागी होते हैं ॥२४॥

सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् ।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपास्महे ॥२५॥

हे पुरुषव्याघ्र ! सारे आश्रमों के मध्य में यही प्रकाशमान गार्हस्थ्य आश्रम बड़ा पवित्र है । हम लोग इसी गृहस्थ धर्म का पालन करते रहते हैं ॥२५॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः प्रेत्येह लभते सुखम् ॥२६॥

जो राजा सारे प्राणियों में आत्मा का सा व्यवहार करते हैं और क्रोध जीत कर दण्ड का व्यवहार करते हैं, वे इस लोक और परलोक में सुख के भागी होते हैं ॥२६॥

धर्मे स्थिता सत्ववीर्या धर्मसेतुवटारका ।
त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्तं संतारयिष्यति ॥२७॥

यह राजधर्म एक नौका है। इसका सत्व (बल) ही कर्णधार है। धर्मशास्त्र ही इस नौका की बन्धनरज्जु है। त्यागरूपी वायु से यह वेग से उड़ी चली जाती है जिससे तुम इस संसार रूपी समुद्र का उल्लंघन कर सकोगे ॥३७॥

यदा निवृत्तः सर्वस्मात्कामो योऽस्य हृदि स्थितः।
तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्मसमश्नुते ॥३८॥

जब सब कामनाओं से मनुष्य निवृत्त हो जाता है और ब्रह्म-प्राप्ति की एक कामना ही हृदय में जागृत होती है-तब मनुष्य, केवल ज्ञान में स्थित होता है और फिर वह ब्रह्म को पा लेता है।

सुप्रसन्नस्तु भावेन योगेन च नराधिप।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यते पालने रतः ॥३९॥

हे नराधिप! पुरुषशार्दूल! जो मनुष्य अपने स्वच्छ भाव और योग के द्वारा प्रसन्नता प्राप्त करता है, वह प्रजा पालन परायण राजा, धर्म को प्राप्त कर लेगा ॥३९॥

वेदाध्ययनशीलानां विप्राणां साधुकर्मणाम्।
पालने यत्नमातिष्ठ सर्वलोकस्य चैव ह ॥४०॥

हे राजन्! अब तो तुम वेदाध्ययन परायण, उत्तम कर्म करने वाले, ब्राह्मणों तथा सारे मनुष्यों के पालन में प्रवृत्त हो जाओ ॥४०॥

वने चरन्ति ये धर्ममाश्रमेषु च भारत।
रक्षणात्तच्छतगुणं धर्मं प्राप्नोति पार्थिवः ॥४१॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः ।
एवमेतत्पुरा वृत्तं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ॥८६॥

हे पाण्डव ! जो वंश राजपद पर प्रतिष्ठित हुए, फिर उनके वंशज पुत्र पौत्र आदि पृथिवी पर फैल गए । आपने जो मुझसे पूछा था, वह मैंने तुमको बता दिया ॥८६॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं ब्रुवंस्तं च यदुप्रवीरो युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम्
रथेन तेनाशु ययौ महात्मा दिशः प्रकाशन्भगवानिवार्कः

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्याने
अष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४८॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! यदुवंशश्रेष्ठ महात्मा श्रीकृष्ण, धर्मात्माओं में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर से इस तरह कहते हुए अपने शीघ्रगामी रथ से भगवान् सूर्य की भाँति दिशाओं को प्रकाशित करते हुए आगे चल दिये ॥६०॥

इति श्री महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत रामोपाख्यान का
उनंचासवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ ।



सड़सठवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—चातुराश्रम्यमुक्तं ते चातुर्वर्ण्यं तथैव च ।

राष्ट्रस्य यत्कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! आपने चारों आश्रम और चारों वर्णों के कर्म कह दिए। अब आप राष्ट्र के जो कर्तव्य हों-उनका वर्णन कीजिए ॥१॥

भीष्म उवाच—राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम् ।

अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥२॥

भीष्म बोले—राष्ट्र का सब से प्रथम यही कर्तव्य है, कि वे राजा का अभिषेक करें। विना राजा के राष्ट्र दुर्बल होता है और उस पर दस्यु (चोर लुटेरे) आक्रमण करते रहते हैं ॥२॥

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते ।

परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥३॥

जब राष्ट्र का कोई राजा नहीं होता, तब धर्म की व्यवस्था नही हो पाती है। लोग एक दूसरे को खाने लगते हैं, इससे अराजकता बहुत निन्दनीय वस्तु है ॥३॥

इन्द्रमेव प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः ।

यथैवेन्द्रस्तथा राजा संपूज्यो भूतिमिच्छता ॥४॥

जो राजा का वरण किया जाता है, वह तो मानों इन्द्र का वरण है। जिस तरह इन्द्र पूजित होता है, उसी तरह राजा भी कल्याणेच्छुक जनों को अभिपूज्य है ॥४॥

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये ।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु हव्यमग्निर्वहत्युत ॥५॥

अराजक राष्ट्र में बसना नहीं चाहिए-यह मेरी सम्मति है। अराजक राष्ट्र में अग्नि हवि को नहीं धारण करता है ॥५॥

अथ चेदभिवर्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः ।
अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः ॥६॥
प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमन्त्रितम् ।
नहि पापात्परतरमस्ति किंचिदराजकात् ॥७॥

जब कोई बलवान पुरुष राज्यस्थापन के निमित्त झण्डा उठावे-तो अराजक पराक्रम हीन राष्ट्र उठकर उसके सन्मुख झुक जावे। बस ? यही सुन्दर मन्त्रणा है-क्योंकि अराजकता से अधिक कोई पापपूर्ण वस्तु नहीं है ॥६-७॥

स चेत्समनुपश्येत समग्रं कुशलं भवेत् ।
बलवान्हि प्रकुपितः कुर्यान्निःशेषतामपि ॥८॥

यदि वह बलवान राजा कृपापूर्ण दृष्टि से राष्ट्र को देखे-तो ही सारे राष्ट्र की कुशल हो सकती है। जब बलवान् मनुष्य कुपित हो जाता है, तो वह अपने विरोधियों को निःशेष कर डालता है।

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि ॥९॥

हे राजन् ! जो गाय कठिनता से दूध देती है, उसे बहुत ही

क्लेश उठाना पड़ता है, परन्तु जो सीधी तरह दूध दे देती है, उसे कोई भी तंग नहीं करता है ॥९॥

यदतप्तं प्रणमते नैतत्सन्तापमर्हति ।
यत्स्वयं नमते दारु न तत्संनामयन्त्यपि ॥१०॥

जो लकड़ी बिना तपाए सीधी हो जावे, तो उसे आग की जलन का अनुभव नहीं करना पड़ता है। जो लकड़ी स्वयं झुक जाती है, उसे फिर बल-पूर्वक कोई नहीं झुकाता ॥१०॥

एतयोपमया वीर सङ्क्रमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥११॥

हे वीर! इसी उपमा को समझ कर राष्ट्र को बलवान् राजा के सन्मुख झुक जाना चाहिए। जो बलवान् को झुकता है, वह तो मानों इन्द्र को झुक रहा है ॥११॥

तस्माद्राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता ।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥१२॥

कल्याण चाहने वाले राष्ट्र को अवश्य राजा बनाना चाहिए। जिस राष्ट्र में अराजकता होती है, उसमें धन और स्त्रियों की रक्षा नहीं हो सकती है ॥१२॥

प्रीयते हि हरन्पापः परवित्तमराजके ।
यदाऽस्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥१३॥

पापी मनुष्य अराजक राष्ट्र में अन्य के धन का अपहरण करके प्रसन्न होता है, परन्तु जब अन्य बलवान् उनका भी धन

छीन ले जाने लगते हैं, तब वे राजा का महत्व जान कर उसे मनाना चाहते हैं ॥१३॥

पापा अपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन ।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥१४॥

अराजकता में तो पापी (लुटेरे) भी सुख नहीं पा सकते। एक का धन दो मनुष्य छीन लेते हैं और दो का बहुत से मनुष्य धन छीन ले जाते हैं ॥१४॥

अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात्स्त्रियः ।
एतस्मात्कारणाद्देवाः प्रजापालान्प्रचक्रिरे ॥१५॥

दुष्ट लोग अदासों को दास बना लेते हैं और बलात् स्त्रियों का अपहरण कर ले जाते हैं। इसी कारण से देवों ने प्रजापालक राजा की रचना की है ॥१५॥

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलं बलवत्तराः ॥१६॥

यदि पृथिवी पर दण्ड देने वाला राजा न होवे, तो जल में मछलियों की तरह बलवान् दुर्बल को खा जावे ॥१६॥

अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥१७॥

हमने यह सुना भी है कि पूर्वकाल में राष्ट्र का कोई राजा नहीं था, उस समय प्रजा नष्ट होती रहती थी और लोग परस्पर कृश मछलियों को बड़े मत्स्यों की तरह खा जाते थे ॥१७॥

समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम् ।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारजायिकः ॥१८॥
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति ।
विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः ।
तास्तथा समयं कृत्वा समये नावतस्थिरे ॥१९॥
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् ।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥२०॥
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ।
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥

हमने सुना है, कि उन लोगों ने इकट्ठे होकर यह नियम बनाया है, कि जो हमारे मध्य में कठोरभाषी, दण्डपरायण, परस्त्री अपहरण कर्ता होगा तथा जो अन्य के धन का अपहरण करेगा-उसे हम अपने समूह (पञ्चायत) में से निकाल देंगे । यह सब कुछ इसीलिये किया गया है, कि सारे वर्णों को सामान्य रीति से एक दूसरे का विश्वास हो जावे, परन्तु उन्होंने नियम तो बना लिया, किन्तु उस पर चल नहीं सके । इस तरह दुःखी होकर अन्त में वे पितामह ब्रह्मा जी के पास पहुँचे और कहने लगे—हे भगवन् ! हम लोग बिना राजा के नष्ट हो रहे हैं; आप कोई राजा बतावें । हम लोग इकट्ठे होकर उसकी पूजा करते रहें और वह हमारा पालन करे । ब्रह्मा जी ने मनु को प्रस्तुत किया, परन्तु मनुजी प्रसन्न नहीं हुए ॥१८-२१॥

तथा वृत्तौ कथां तात तावच्युतयुधिष्ठिरौ ।
जग्मतुर्यत्र गाङ्गेयः शरतल्पगतः प्रभुः ॥५॥

हे तात ! इस प्रकार बातचीत करते हुए श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिर उधर चले-जहां पर गंगापुत्र भीष्म शर—शय्या पर लेट रहे थे ॥५॥

ततस्ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम् ।
स्वरश्मिजालसंवीतं सायं सूर्यसमप्रभम् ॥६॥

वहां पहुँच कर उन दोनों वीरों ने बाणशय्या पर सोते हुए अपने किरणजाल से व्याप्त सूर्य की भाँति भीष्म पितामह को देखा ॥६॥

उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम् ।
देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु ॥७॥

इन्द्र की उपासना करते हुए देवों की भाँति भीष्म पितामह की उपासना में मुनि लोग, परम—धार्मिक ओघवती नदी के तट पर स्थित थे ॥७॥

दूरादेव तमालोक्य कृष्णो राजा च धर्मजः ।
चत्वारः पाण्डवाश्चैव ते च शारद्वतादयः ॥८॥
अवस्कन्द्याथ वाहेभ्यः संयम्य प्रचलं मनः ।
एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन् ॥ ९ ॥

भगवान् कृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर, भीम आदि चारों पांडव, शरद्वान् पुत्र कृपाचार्य आदि ने ज्यों ही भीष्म को दूर से देखा

सुन्दरी कन्या से विवाह कर सकेंगे। जो मनुष्य मुख्य हैं या शस्त्र और वाहन से सुसज्जित हैं, वे इन्द्र के पीछे देवों की तरह तुम्हारे पीछे चलेंगे ॥२३-२५॥

स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान्कुवेर इव नैरृतान् ॥२६॥

इस तरह तुम बलवान् होकर महाप्रतापी और दुराधर्ष हो जाओगे। जिस तरह कुवेर देवों की रक्षा करता है, इसी तरह तुम भी हमको सुखपूर्वक धारण करते रहोगे ॥२६॥

यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥२७॥

राजासे सुरक्षित होकर प्रजा जिस धर्म का आचरण करेगी— उस धर्म का चतुर्थांश तुमको मिला करेगा ॥२७॥

तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः।
पाह्यस्मान्सर्वतो राजन्देवानिव शतक्रतुः ॥२८॥

हे राजन्! तुम उस महान् धर्म से सुख प्राप्त करके बलशाली हो जाओ और देवों की इन्द्र की तरह आप भी हमारी रक्षा में तत्पर होओ ॥२८॥

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा ॥२९॥

सूर्य की तरह चमकते हुए आप विजय के लिए चल पड़ो और इस तरह शत्रुओं के अभिमान को तोड़ दो। तुम्हारी सर्वदा जय होगी ॥२९॥

स निर्ययौ महातेजा बलेन महतावृतः ।

महाभिजनसम्पन्नस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥३०॥

इतना कहने पर वह महातेजस्वी, महान सेना से सुसज्जित होकर उत्तम २ पुरुषों के सहित तेज से जाज्वल्यमान होकर वहां से चल पड़ा ॥३०॥

तस्य दृष्ट्वा महत्त्वं ते महेन्द्रस्येव देवताः ।

अपतत्रासिरे सर्वे स्वधर्मे च दधुर्मनः ॥३१॥

इन्द्र के महत्व को देवों की तरह राजा मनु के महत्व को राष्ट्र के सब लोग जान कर डर गए और अपने मन को धर्म में प्रवृत्त करने लगे ॥३१॥

ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।

शमयन्सर्वतः पापान्स्वकर्मसु च योजयन् ॥३२॥

अब राजा मनु पृथिवी पर इस तरह घूमने लगे, जैसे वर्षा करने वाला मेघ घूमता है । इसने सब ओर पाप का नाश कर दिया और प्रजा को अपने २ काम में लगा दिया ॥३२॥

एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित् ।

कुर्यू राजानमेवाग्रे प्रजाऽनुग्रहकारणात् ॥३३॥

इस तरह पृथिवी पर जो मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं, वे सर्व प्रथम राजा की स्थापना करें, क्योंकि प्रजा का इसी में कल्याण है, कि राजा अनुग्रह—पूर्वक प्रजा की रक्षा करता रहे ।

नमस्येरंश्च तं भक्त्या शिष्या इव गुरुं सदा ।
देवा इव च देवेन्द्रं तत्र राजानमन्तिके ॥२४॥

जिस तरह शिष्य गुरु को प्रणाम करते हैं, इसी तरह राजा को प्रजा भक्ति-पूर्वक झुकती रहती है। देव जैसे इन्द्र को प्रणाम करते हैं, प्रजा भी समीप में आए हुए राजा को इसी तरह प्रणाम करने लगती है ॥२४॥

सत्कृतं स्वजनेनेह परोऽपि बहु मन्यते ।
स्वजनेन त्ववज्ञातं परे परिभवन्त्युत ॥२५॥

यदि अपने स्वजन अपने मनुष्य का आदर करें, तो अन्य भी उसका आदर करते हैं और यदि स्वजन ही अपने मनुष्य का तिरस्कार करें-तो अन्य तो उसका सबसे प्रथम अपमान करेंगे।

राज्ञः परैः परिभवः सर्वेषामसुखावहः ।
तस्माच्छत्रं च पत्रं च वासांस्याभरणानि च ॥२६॥
भोजनान्यथ पानानि राज्ञे दद्युर्गृहाणि च ।
आसनानि च शय्याश्च सर्वोपकरणानि च ॥२७॥

यदि शत्रु द्वारा राजा का परिभव (हार) हो—तो यह सारी प्रजा के दुःख की बात है। इस कारण राजा को छत्र, वाहन, वस्त्र, अलंकार, भोजन, यान, गृह, आसन, शय्या और सारी सामग्रियां प्रजा अर्पण करे ॥२६-२७॥

गोप्ता तस्माद् दुराधर्षः स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
आभाषितश्च मधुरं प्रत्याभाषेत मानवान् ॥२८॥

इस तरह राजा दुराधर्ष होकर प्रजा का रक्षक बनता है। इसको मुसकुराहट के साथ बातचीत करनी चाहिए। मधुर भाषण करने पर राजा मनुष्यों को मधुर वाणी में उत्तर देवे ॥३८॥

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात्संविभागी जितेन्द्रियः ।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदुवल्गु च सुष्ठु च ॥३९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रे राजकरणावश्यकत्वकथने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥६७॥

राजा, प्रजा की सेवा का कृतज्ञ रहे तथा प्रजा पालन में दृढ़ भक्ति रखे। वह प्रजा के भाग को न्यायपूर्वक बांट देवे तथा जितेन्द्रिय रहे। जब कोई राजा की ओर देखे, तो वह भी कोमलता के साथ देखे, जिसमें स्वच्छता और श्रेष्ठता का सम्मिश्रण हो ॥३९॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में राजा के बनाने का सड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ।

अड़सठवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच–किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्टिर ने कहा—हे भरतर्षभ! पितामह ! ब्राह्मण लोग, मनुष्यों के अधिपति राजा को क्यों देवता मानते हैं, आप इसका कारण मुझे बताइए ॥१॥

भीष्म उवाच—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥२॥

भीष्म बोले—हे भारत ! इस विषय में राजा वसुमना ने बृहस्पति से प्रश्न किया। उन्होंने जो उत्तर दिया,वह मैं इतिहास के रूप में तुमको सुनाता हूँ ॥२॥

राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः ।
महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम् ॥३॥

राजा वसुमना बड़ा बुद्धिमान् और कोसल देश का अधिपति था। उन्होंने बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, महर्षि बृहस्पति से यह प्रश्न किया था ॥३॥

सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतिम् ।
दक्षिणाऽनन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥४॥
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वलोकहिते रतः ।
प्रजानां सुखमन्विच्छन्धर्मशीलं बृहस्पतिम् ॥५॥

राजा वसुमना सारे लोक का कल्याण चाहते थे। उन्होंने प्रजा के सुख की आकांक्षा से धर्मशील महर्षि बृहस्पति से राज्य सम्बन्धी कार्यों के विषय में पूछा। राजा वसुमना ने महर्षि की सब कुछ करने योग्य विनय की, क्योंकि यह विनयाचार का जाननेवाला था। इसने बृहस्पति के दांयी ओर जाकर विधिपूर्वक प्रणाम किया॥४-५॥

वसुमना उवाच—केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा ।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः ॥६॥

वसुमना कहने लगा—हे महाप्राज्ञ ! प्राणी किन कारणों से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और किन कारणों से क्षय को प्राप्त हो जाते हैं तथा किनकी पूजा से उनको अव्यय सुख की प्राप्ति होती है ॥६॥

एवं पृष्टो महाप्राज्ञः कौसल्येनामितौजसा ।
राजसत्कारमव्यग्रं शशंसास्मै बृहस्पतिः ॥७॥

हे राजन्! जब इस प्रकार अत्यन्त तेजस्वी कोसलाधिपति वसुमना ने महाबुद्धिमान् महर्षि बृहस्पति से यह प्रश्न किया-तो उन्होंने भी उनको सारा राजनीति का तत्व ठीक २ बता दिया ॥७॥

बृहस्पतिरुवाच—राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥८॥

बृहस्पति ने कहा—हे महाप्राज्ञ ! संसार में धर्म की स्थिति राजा के अधीन है। प्रजा राजा के भय से ही परस्पर एक दूसरे को मारती नहीं है ॥८॥

राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥९॥

राजा ही मर्यादा हीन, परस्त्री आदि में आसक्त पुरुषों को अपने दण्ड से शुद्ध करता है और इस तरह प्रजा को शुद्ध करके वह अपने तेज से देदीप्यमान रहता है ॥९॥

यथा ह्यनुदये राजन्भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥१०॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः ।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ॥११॥

त्रिमथ्यातिक्रमेरंश्च विपह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः ॥१२॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥१३॥

हे राजन्! जैसे सूर्य या चन्द्रमा के उदय न होने पर सारे प्राणी गाढ़ान्धकार में लीन हो जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को देख भी नहीं सकते—जिस तरह थोड़े जल से युक्त तड़ाग में मछली और हिंसक के भय से रहित स्थान में पक्षी एक दूसरे को मारते हुए निर्विघ्न घूमते हैं। ये परस्पर बलपूर्वक एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं और थोड़े ही काल में अभाव को प्राप्त हो जाते हैं, इसमें कोई संशय की बात नहीं है। इसी तरह राजा के बिना यह सारी प्रजा नष्ट हो सकती है और गहरे अन्धकार में ग्वाले से हीन पशुओं की भांति डूब सकती है ॥९-१३॥

हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥१४॥

राजा के अभाव में बलवान् निर्बलों के सब कुछ धन स्त्री आदि का अपहरण कर लेते और यदि उनको कोई रोकता है, तो वे उनको मार डालते हैं ॥१४॥

ममेदमिति लोकेऽस्मिन्न भवेत्संपरिग्रहः ।
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः ॥
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥१५॥

कोई भी धन आदि का संग्रह नहीं कर पाता और न कोई निर्बल मनुष्य यह कह सकता था, कि यह धन मेरा है। न तो किसी के पास स्त्री रहती, न पुत्र, न धन और न अन्य परिग्रह (सामान) रह सकता था। यदि राजा जगत् की रक्षा में प्रवृत्त न होवे, तो सब ओर घोर अन्धकार मच जावे ॥१५॥

यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥१६॥

पापी लोग यान, स्त्री, अलङ्कार तथा अनेक प्रकार के रत्नों को एकदम बलपूर्वक छीन लेते; जो राजा प्रजापालन में प्रवृत्त नहीं होता ॥१६॥

पतेद्बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥१७॥

अनेक प्रकार के शस्त्र धर्मात्मा लोगों पर गिरा करते और सब कोई अधर्म का आश्रय लेता, परन्तु राजा के प्रजापालन से कोई ऐसा नहीं कर सकता है ॥१७॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥१८॥

हे राजन्! यदि राजा प्रजा के पालन का भार अपने ऊपर न उठाता, तो लोग माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु तक को पीड़ा देने में प्रवृत्त दिखाई देते ॥१८॥

वधबन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत्।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥१९॥

जो धनवान् होते, उनको नित्य वध और बन्धन का दुःख देखना पड़ता। कोई किसी का प्रेमी बान्धव नहीं होता—जो अपना ममत्व दिखाता—यह सब कुछ राजा के अभाव से हो जाता–इसमें सन्देह नहीं है ॥१६॥

अन्ताश्चाकाल एव स्युर्लोकोऽयं दस्युसाद्भवेत् ।
पतेयुर्नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत् ॥२०॥

राजा के अभाव में अकाल में ही लोगों पर मृत्यु का वज्र गिरता। सारा संसार चोरमय दिखाई देता। कहां तक कहें—यह सारा संसार घोर नरक हो जाता और सारे प्राणी इस घोर नरक में दिखाई देते ॥२०॥

न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः ।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥२१॥

कोई भी किसी के साथ व्यभिचार करने से भयभीत नहीं होता। न कृषि फलवती होती और न व्यापार चल पाता। सारा धर्म डूब जाता और वेदत्रयी का राजा के अभाव में कहीं पता भी नहीं लगता ॥२१॥

न यज्ञाः सम्प्रवर्तेयुर्विधिवत्स्वाप्तदक्षिणाः ।
न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत् ॥२२॥

हे नराधिप ! यदि राजा प्रजा पालन नहीं करता, तो ये बड़ी २ दक्षिणा के यज्ञ विधिपूर्वक कहाँ से होते और न विवाह हो पाते तथा न कोई उत्सव ही होता ॥२२॥

न वृषा संप्रवर्तेरन्न मथ्येरंश्च गर्गराः ।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥२३॥

कोई वृष (सांड) किसी गाय को कैसे गर्भवती करता और फिर कौन दूध निकालता और कैसे गर्गर ध्वनि के साथ दही मथा जाता। छोटे-छोटे गाँव नष्ट हो जाते, यदि राजा प्रजा का पालन न करता ॥२३॥

त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम् ।
क्षणेन विनशेत्सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥२४॥

राजा के प्रजापालन में प्रवृत्त नहीं होने पर सारा जगत घबड़ाकर व्याकुल हो उठता, हाहाकार मच जाता और चेतनता जाती रहती। क्षणभर में जगत् के विनाश का चित्र खिंच जाता।

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः ।
विधिवद्दक्षिणावन्ति यदि राजा न पालयेत् ॥२५॥

राजा के अभाव में विधिपूर्वक दक्षिणा दान से युक्त वर्ष-पर्यन्त चलने वाले यज्ञ भी निर्विघ्न नहीं हो पाते ॥२५॥

ब्राह्मणाश्चतुरो वेदान्नाधीयीरंस्तपस्विनः ।
विद्यास्नाता व्रतस्नाता यदि राजा न पालयेत् ॥२६॥

यदि राजा, प्रजा का पालन नहीं करता—तो तपस्वी ब्राह्मण चारों वेदों को कैसे पढ़ सकते थे और वे विद्या तथा अपने व्रत को कैसे समाप्त कर पाते ॥२६॥

न लभेद्धर्मसंश्लेषं हतविग्रहतो जनः ।
हर्ता स्वस्थेन्द्रियो गच्छेद्यदि राजा न पालयेत् ॥२७

यदि राजशासन व्यवस्था न होती, तो ब्राह्मणघाती के घातक कों कौन धर्मात्मा कहता। जो लुटेरा होता; वही आनन्द में रहता, परन्तु राजा के भय से कोई भी कुछ नहीं कर पाता है ॥२७॥

हस्ताद्धस्तं परिमुषेद्भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
भयार्तं विद्रवेत्सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥२८॥

राजा के न होने पर एक मनुष्य दूसरे के हाथ में से वस्तु को छीन ले जाता। सारी मर्यादाएं छिन्न-भिन्न हो जातीं तथा सारा जगत् भयातुर होकर भाग निकलता ॥२८॥

अनयाः संप्रवर्तेरन्भवेद्वै वर्णसङ्करः ।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ॥२९॥

राजा के प्रजा पालन से विमुख होते ही सारे अन्याय टूट पड़ते, वर्ण संकरता फैल जाती और सारे राष्ट्र में दुर्भिक्ष घुस पड़ता ॥२९॥

विवृत्य हि यथा कामं गृहद्वाराणि शेरते ।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥३०॥

राजा के द्वारा सुरक्षित हुए मनुष्य निर्भय होकर अपने २ घर के द्वार बन्दकर इच्छानुसार सोते हैं। यदि राजा न होता, तो कोई सा भी नहीं पाता ॥३०॥

नाक्रुष्टं सहते कश्चित्कुतो वा हस्तलाघवम् ।
यदि राजा न सम्यग्गां रक्षयत्यपि धार्मिकः ॥३१॥

जब राजा प्रजा की रक्षा में तत्पर होता है, तो कोई भी किसी की फटकार या गाली नहीं सहता—हाथ के चांटे की तो चर्चा ही क्या है। यह सब कुछ सहना पड़ता—यदि धार्मिक राजा अच्छी तरह पृथिवी का पालन न करता ॥३१॥

स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालङ्कारभूषिताः ।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः ॥३२॥

यदि राजा अच्छी तरह पृथिवी की रक्षा करता रहे, तो अलंकारों से विभूषित स्त्रियाँ भी विना पुरुषों के साथ मार्ग में अकेली निर्भय आ जा सकती हैं ॥३२॥

धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥३३॥

राजा के प्रजा की रक्षा में तत्पर होने पर सब लोग धर्म की ओर चल पड़ते हैं, कोई किसी की परस्पर हिंसा नहीं कर पाता है तथा एक दूसरे पर अनुग्रह करते रहते हैं ॥३३॥

यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः ।
युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ॥३४॥

राजा के प्रजा के पालन करने पर ही तीनों वर्ण अपने २ अधिकार के अनुसार वड़े २ यज्ञ कर पाते हैं तथा उद्योग परायण होकर वेदत्रयी के पठन पाटन में द्विजाति प्रवृत्त होते हैं ॥३४

वार्ता मूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।
तत्सर्वं वर्तते सम्यग्यदा रक्षति भूमिपः ॥३५॥

यह संसार जीविका के अधीन चलता है। इसी वार्ता आदि जीविका के साधनों से इस जगत् का धारण हो रहा है। यह सब कुछ कृषि वाणिज्य तभी चलता है, जब राजा प्रजा का अच्छी तरह पालन करता रहता है ॥३५॥

यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ॥३६॥

जब राजा श्रेष्ठ राज्यधुर को धारण करके बड़े बल के साथ ले चलता है, तभी यह सारा जगत् प्रसन्न हो उठता है ॥३६॥

यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात्समन्ततः।
भावे च भावो नित्यं स्यात्कस्तं न प्रतिपूजयेत् ॥३७

जिस राजा के अभाव से सारे जगत का अभाव हो जावे और जिसकी स्थिति से सारे जगत की स्थिति है, उस राजा की आवश्यकता को कौन नहीं मानेगा ॥३७॥

तस्य यो वहते भारं सर्वलोकभयावहम्।
तिष्ठन्प्रियहिते राज्ञ उभौ लोकाविमौ जयेत् ॥३८॥

सारे लोकों को भय कर देने वाले राजा के भार को जो व्यक्ति (मन्त्री) उठाता है और राजा का हित करता रहता है—वह दोनों लोकों को जीत लेता है ॥३८॥

यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिन्तयेत् ।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत् ॥३९॥

जो मनुष्य, इस राजा के अनिष्ट को मन से भी विचार करेगा, वह निश्चय ही इस लोक में क्लेश पावेगा और फिर मर कर भी नरक को ही जावेगा ॥३९॥

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥४०॥

राजा भी तो मनुष्य ही है—ऐसा समझ कर किसी को राजा का अपमान नहीं करना चाहिए। वह तो मनुष्याकार में महान् देवता होता है—इसमें सन्देह नहीं समझना चाहिए ॥४०॥

कुरुते पंच रूपाणि कालयुक्तानि यः सदा ।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥४१॥

जो राजा समय के अनुसार पाँच प्रकार के कार्यों को करता रहता है, वह अग्नि, आदित्य, मृत्यु, कुबेर और यम के समान हो जाता है ॥४१॥

यदा ह्यासीदतः पापान्दहत्युग्रेण तेजसा ।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥४२॥

जिस समय राजा अपने समीप में आये हुए पापियों को उग्र तेज से जला डालता है, उस समय वह अग्नि कहाता है, क्योंकि अपराधी ने उसके साथ मिथ्या व्यवहार करके उसे वंचित किया है ॥४२॥

यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः ।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥४३॥

जिस समय राजा अपने गुप्तचरों द्वारा सारे भूतों के कृत्यों को देखता रहता है और सारी प्रजा का कल्याण करके चलता है, तब वह भास्कर कहाता है ॥४३॥

अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान् ।
सपुत्रपौत्रान्सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः ॥४४॥

जब राजा अपवित्र आचरण करने वाले सैंकड़ों मनुष्यों को क्रोधपूर्वक दण्ड देता है और जो पापी पुत्र, पौत्र और अमात्यों को भी दण्ड देता है, उस समय उस राजा की अन्तक संज्ञा होती है ॥४४॥

यदा त्वधार्मिकान्सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति ।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥४५॥

जब राजा सारे अपराधियों को तीक्ष्ण दण्ड से युक्त करता है- और धर्मात्माओं पर अनुग्रह करता है—तब वह यम कहाता है।

यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः ।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥४६

श्रियं ददाति कस्मैचित्कस्माच्चिदपकर्षति ।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥४७॥

जब राजा धन दारा से उपकारकों को तृप्त करता है और अपकारियों के अनेक दान छीन लेता है, किसी को ऐश्वर्य देता

है, किसी दुष्ट का छीन लेता है—उस समय राजा की कुबेर संज्ञा होती है ॥४६-४७॥

नास्यापवादे स्थातव्यं दक्षेणाक्लिष्टकर्मणा ।
धर्म्यमाकांक्षता लोकमीश्वरस्यानसूयता ॥४८॥

जो मनुष्य अपने को उत्तम कर्म करने वाला और बुद्धिमान् मानता है, वह राजा के अपवाद में कभी प्रवृत्त न होवे। जो राजा की निन्दा नहीं करता है—उसी को धर्म और लोक के ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है ॥४८॥

न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन्सुखमवाप्नुयात् ।
पुत्रो भ्राता वयस्यो वा यद्यप्यात्मसमो भवेत् ॥४६

कोई भी मनुष्य राजा का विरोध करने पर सुख नहीं उठा सकता है, चाहे वह पुत्र, भ्राता तथा आत्मा के समान प्रिय मित्र ही क्यों न होवे ॥४६॥

कुर्यात्कृष्णगतिः शेषं ज्वलितोऽनिलसारथिः ।
न तु राज्ञाऽभिपन्नस्य शेषं क्वचन विद्यते ॥५०॥

यदि वायु को साथ लेकर चलने वाला अग्नि वृक्ष को जलाता है, तो उसका मूल बच जाता है, परन्तु जो राजा से भिड़ गया, उसका कुछ भी शेष नहीं रह सकता है ॥५०॥

तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत् ।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ॥५१॥

राजा जिन वस्तुओं को सुरक्षित रखना चाहता है, मनुष्य उनको दूर से छोड़ देवे। मनुष्य, राजा के धन के अपहरण से अपने को मृत्यु से बचाने की तरह बचाता रहे ॥५१॥

नश्येदभिमृशन्सद्यो मृगः कूटमिव स्पृशन्।

आत्मस्वमिव रक्षेत राजस्वमिह बुद्धिमान् ॥५२॥

जो राजा के धन को दुर्भावनासे भी छू लेता है, वह इस तरह नष्ट हो जाता है जैसे जाल को छू कर मृग फंस जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य तो राजा के धन की अपने धन की तरह रक्षा करता रहे ॥५२॥

महान्तं नरकं घोरमप्रतिष्ठमचेतनम्।

पतन्ति चिररात्राय राजवित्तापहारिणः ॥५३॥

जो मनुष्य राजा के धन का अपहरण करते हैं, वे प्रतिष्ठा हीन, चेतनता रहित, महान् घोर नरक में चिरकाल के लिए पड़ते हैं—इसमें सन्देह नहीं है ॥५३॥

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।

य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥५४॥

जिस व्यक्ति की राजा भोज, विराट्, सम्राट् क्षत्रिय, भूपति, नृपति आदि शब्दों से स्तुति की जाती है, उस राजा की कौन नहीं पूजा करेगा ॥५४॥

तस्माद्बुभूषुर्नियतो जितात्मा नियतेन्द्रियः।

मेधावी स्मृतिमान्दक्षः संश्रयेत महीपतिम् ॥५५॥

हे तात ! सत्यधर्मपरायण, महाबली, शूरवीर, शान्तनु पुत्र भीष्म को छोड़कर तीनों लोकों में कोई जन्मधारी वीर नहीं सुना, जो बाणशय्या पर सोता हुआ भी अपने तप से मृत्यु को रोक रखे ॥२१-२२॥

सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा ।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यां चैवानुरक्षणे ॥२३॥
अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम् ।
महारथं त्वत्सदृशं न कश्चिदनुशुश्रुम ॥२४॥

हे भीष्म ! धनुर्वेद, वेद, नीति और प्रजा पालन में तुम्हारे सदृश किसी को आज तक नहीं सुना। तुम उदार गुण धारी, पवित्र दानी, सब भूतों के हित में परायण, महारथी हो ॥२३-२४॥

त्वं हि देवान्सगन्धर्वानसुरान् यक्षराक्षसान् ।
शक्तस्त्वेकरथेनैव विजेतुं नात्र संशयः ॥२५॥

हे महाभाग ! तुम, देव, गन्धर्व, असुर, यक्ष, राक्षस, कोई भी क्यों न हो-सबको अकेले जीतने में समर्थ थे। इसमें सन्देह नहीं है ॥२५॥

स त्वं भीष्म महाबाहो वसूनां वासवोपमः ।
नित्यं विप्रैः समाख्यातो नवमोऽनवमो गुणैः ॥२६॥

हे महाबाहो ! भीष्म ! तुमने आठ वसुओं के अंश से जन्म लिया है। ब्राह्मण तुम्हें नवां वसु बताते हैं, किन्तु गुणों में कोई नवीनता नहीं है, उन्हीं वसुओं के तुल्य गुण हैं। तुम तो इन्द्र के सदृश पराक्रमी हो ॥२६॥

हे नरेन्द्र ! राजा ही प्रजा का गौरवशाली हृदय है। राजा ही गति, प्रतिष्ठा और उत्तम सुख माना जाता है । इस लोक और परलोक में जो सुख चाहते हैं, वे राजा का आश्रय लेते हैं और वे ही पुरुष संसार में उन्नत होते हैं, जो राजा के आश्रय हैं ॥५६॥

नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं दमेन सत्येन च सौहृदेन ।
महद्भिरिष्ट्वाक्रतुभिर्महायशास्त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम् ॥

राजा भी अपने दम, सत्य और मित्र भाव से सारी पृथिवी को जीत कर और बड़े २ यज्ञ करके महान् यश का भागी होता है और अन्त में स्वर्ग में जाकर स्थिर पद को प्राप्त करता है ॥६०॥

स एवमुक्तोऽङ्गिरसा कौसल्यो राजसत्तमः ।
प्रयत्नात्कृतवान्वीरः प्रजानां परिपालनम् ॥६१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि आंगिरसवाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥६८॥

हे राजन् ! जब अङ्गिरा गोत्री बृहस्पति ने कोसलराज राजा वसुमना से इतना कहा-तो वह वीर भी प्रजा के पालन करने में अधिक प्रयत्नशील हो गया ॥६१॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में बृहस्पति के नीति उपदेश करने के वर्णन का अड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ।

उनहत्तरवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—पार्थिवेन विशेषेण किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः ॥१॥
कथं चारं प्रयुञ्जीत वर्णान्विश्वासयेत्कथम् ।
कथं भृत्यान्कथं दारान्कथं पुत्रांश्च भारत ॥२॥

युधिष्ठिर बोले—हे भारत ! अब राजा के जो धर्म अवशिष्ट रह गए हैं आप उनका मुझे उपदेश करो, कि किस प्रकार राष्ट्र की रक्षा की जाती है, शत्रुओं का विजय कैसे होता है, गुप्तचरों का प्रयोग कैसे होता है, चारों वर्णों को कैसे अपने विश्वास में रक्खा जा सकता है और इसी तरह अमात्यादि भृत्य, राज, दारा और पुत्रों को अपने वश में रक्खा जा सकता है ॥१-२॥

भीष्म उवाच— राजवृत्तं महाराज शृणुष्वावहितोऽखिलम् ।
यत्कार्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ॥३॥

भीष्म ने कहा—हे महाराज ! तुम सावधान होकर राजधर्म का श्रवण करो, जिनका आचरण सबसे प्रथम राजा या राजा के सदृश बड़े मनुष्यों का करना चाहिए ॥३॥

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः ।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥४॥

राजा को सबसे प्रथम अपने मन को वश में करना चाहिए। शत्रुओं का विजय तो मन के विजय के अनन्तर की वस्तु है। जो राजा जितेन्द्रिय नहीं होगा, वह शत्रुओं को कैसे जीत सकता है।

एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः ।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥५॥

आत्म विजय तो इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विजय को ही कहते हैं। जो राजा जितेन्द्रिय होता है, वही शत्रुओं के जीतने में समर्थ हो सकता है ॥५॥

न्यसेत गुल्मान्दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन ।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह ॥६॥
संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च ।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥७॥

हे कुरुनन्दन ! राजा दुर्गों के ऊपर पैदल सैनिक नियुक्त रखे और राज्य की सीमा पर भी सेना डाल देवे। नगर, उपवन, पुराने उद्यान आदि में सेना नियुक्त करे। इसी तरह अनेक अन्य कोष्ठपाल आदि के समीप भी सेना की नियुक्ति होनी चाहिए। हे नरशार्दूल ! राजमहल और रनिवास में भी सेना होनी चाहिए।

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन् ।
पुंसः परीक्षितान्प्राज्ञान्क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥८॥

हे राजन् ! राजा को अन्धे, बधिर, मूर्ख बने हुए अनेक प्रकार के गुप्तचर रखने चाहिए। ये गुप्तचर वीर, परीक्षित विद्वान, बुद्धिमान् और भूख प्यास के सहने में समर्थ होने चाहिए ॥८॥

अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च ।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात्समाहितः ॥९॥

हे महाराज ! राजा सारे अमात्य, अनेक प्रकार के मित्र तथा पुत्रों पर बड़ी गाढ़ी निगरानी रखे ॥६॥

पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु ।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥१०॥

नगर, राष्ट्र तथा अन्य सामन्त राजा कोई भी इन गुप्तचरों को न जान सकें, इस तरह इनकी नियुक्ति होनी चाहिए ॥१०॥

चारांश्च विद्यात्प्रहितान्परेण भरतर्षभ ।
आपणेषु विहारेषु समाजेषु च भिक्षुषु ॥११॥
आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे ।
देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥१२॥
एवं विचिनुयाद्राजा परचारं विचक्षणः ।
चारे हि विदिते पूर्वं हितं भवति पाण्डव ॥१३॥

हे भरतर्षभ ! राजा को शत्रु के गुप्तचरों का पता रखना चाहिए। आपण (बाजार) विहार (मठ) समाज, भिक्षु, बगीचे उपवन, पण्डितों की सभा, देश, अधिकारियों के स्थान, सभा या बड़े २ मनुष्यों के घर पर प्रायः शत्रु के गुप्तचर लगे होते है, राजा उनका वहां निरीक्षण रखे। जो बुद्धिमान् राजा होता है, वह इन स्थानों या ऐसे ही अन्य स्थानों में शत्रु के गुप्तचरों का पता रखता है। हे पाण्डव ! शत्रु के गुप्तचरों के जान लेने से राजा को बड़ा उत्तम लाभ होता है ॥११-१३॥

यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना ।
अमात्यैः सह संमन्त्र्य कुर्यात्सन्धि बलीयसा ॥१४॥

जिस समय राजा अपने मन से यह विचार ले, कि मैं शत्रु के सन्मुख निर्बल हूँ, उस समय अपने मन्त्रियों के साथ सम्मति करके बलवान् राजा के साथ सन्धि कर ले ॥१४॥

अज्ञायमाने हीनत्वे सन्धि कुर्यात्परेण वै ।
लिप्सुर्वा कश्चिदेवार्थं त्वरमाणो विचक्षणः ॥१५॥
गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्च ये ।
संदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण पालयन् ॥१६॥

जब राजा अपने भीतर कोई निर्बलता ।भी न देखे, परन्तु सन्धि से कुछ अपने को लाभ की आशा होवे, तो बुद्धिमान राजा को शीघ्र सन्धि कर लेनी चाहिए, जो राजा, गुणवान्, उत्साही, धर्मात्मा और उत्तम प्रकृति हैं, उनके साथ ही राजा को सन्धि करनी चाहिए, क्योंकि इस तरह करने से ही राष्ट्र धर्म की पालना होती है॥ १६॥

उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः ।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥१७॥

बुद्धिमान राजा, जब अपने विरोधियों द्वारा अपने को उखाड़ता देखे-तो उन पूर्व के अपकारी तथा प्रजा के द्वेषी लोगों का प्रथम विनाश करे ॥१७॥

योनोपकर्तुं शक्नोति नापकर्तुं महीपतिः ।
न शक्यरूपश्चोद्धर्तुमुपेक्ष्यस्तादृशो भवेत् ॥१८॥

जो राजा, जिसके उपकार या अपकार करने में समर्थ नहीं हो सके, उसकी ओर से दृष्टि बचा लेवे ॥१८॥

यात्रायां यदि विज्ञातमनाक्रन्दमनन्तरम् ।
व्यासक्तं च प्रमत्तं च दुर्बलं च विचक्षणः ॥१९॥

जब राजा की शत्रु पर चढ़ाई करने की इच्छा हो-तो प्रथम शत्रु का पता लगावे, कि उसमें दुर्बलता है या नहीं । जो शत्रु राजा, मित्र हीन, बन्धु बान्धवों से रहित अन्य से युद्ध में आसक्त असावधान या दुर्बल हो, उसी पर चढ़ाई करनी चाहिए ॥१९॥

यात्रामाज्ञापयेद्वीरः कल्यः पुष्टबलः सुखी ।
पूर्वं कृत्वा विधानं च यात्रायां नगरे तथा ॥२०॥
न च वश्यो भवेदस्य नृपो यश्चातिवीर्यवान् ।
हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत् ॥२१॥

वीर राजा अपनी पुष्ट सेना के साथ बड़ी प्रसन्नता से आक्रमण करे । अन्नादि सामग्री का प्रबन्ध होना चाहिए । यात्रा से पूर्व राजा अपनी राजधानी की रक्षा का प्रबन्ध कर दे । जो शत्रु राजा वीर्यवान् हो और वह वश में न होवे, तो उसको दुर्बल बनाने के लिए राजा उस पर घेरा डाले पड़ा रहे । इस तरह वह कुछ बल (सेना) और विक्रम से हीन हो जावेगा ॥२०-२१॥

राष्ट्रं च पीडयेत्तस्य शस्त्राग्निविषमूर्छनैः ।
अमात्यवल्लभानां च विवादांस्तस्य कारयेत् ॥२२॥

राजा शत्रु के राज्य में मार काट, विष प्रयोग और आग लगा कर प्रजा को पीड़ित करे। राजा के अमात्य और प्रेमी जनों में विवाह करवावें ॥२२॥

वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता ।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥२३॥

बुद्धिमान् राजा को राज्य बढ़ाने की इच्छा से कभी युद्ध नहीं छोड़ बैठना चाहिए। बृहस्पति ने राज्य की वृद्धि साम, दान और भेद इन तीन उपायों के द्वारा ही उत्तम मानी है ॥२३॥

सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप ।
यदर्थं शक्नुयात्प्राप्तुं तेन तुष्येत पण्डितः ॥२४॥

हे नराधिप ! जो राजा, साम, दान और भेद से जिस काम को बना लेता है, उसी में उसे सन्तोष करना चाहिए-यही राजा की निपुणता मानी गई है ॥२४॥

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥२५॥

हे कुरुनन्दन ! राजा अपनी प्रजा से अपना कर भी ग्रहण करे। यह कर पैदावार का छठा भाग होना चाहिए। इस आमदनी को भी प्रजा की रक्षा में ही लगावे ॥२५॥

दश धर्मगतेभ्यो यद्वसु बह्वल्पमेव च ।
तदाऽऽददीत सहसा पौराणां रक्षणाय वै ॥२६॥

मत्त उन्मत्त आदि जो दश प्रकार के दण्डनीय पुरुष बताए गए हैं, उनसे जो थोड़ा या अधिक धन मिले, उसको राजा ग्रहण कर लेवे, जिससे पुरवासियों की रक्षा हो सके ॥२६॥

यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः ।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥२७॥

राजा, पुत्र या पौत्रों पर समान दृष्टि रखे । जब इनका भी कोई अभियोग आ पड़े, तो राजा, पुत्र का भी पक्षपात न करे ॥२७॥

श्रोतुं चैव न्यसेद्राजा प्राज्ञान्सर्वार्थदर्शिनः ।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥२८॥

राजा अभियोगों के सुनने के लिए बड़े अनुभवी और विद्वान् लोगों को नियुक्त करे, क्योंकि अभियोगों के उचित निर्णय पर ही राज्य की स्थिति है ॥२८॥

आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान् ॥२९॥

सुवर्ण आदि की खानें, लवण, शुल्क (महसूल) नदी संतरण हस्तिसमूह आदि के आय व्यय के विचार में राजा, प्रजा के हितकारी अपने विश्वासी पुरुषों को अमात्य बनावे ॥२९॥

सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात् ।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग्धर्मः प्रशस्यते ॥३०॥

जो राजा धर्मानुसार दण्ड देता है, वह धर्म की प्राप्ति करता है। राजा का ठीक २ दण्ड का प्रयोग करना ही उत्तम धर्म माना गया है ॥३०॥

वेदवेदाङ्गवित्प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत् ।
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥३१॥

हे भारत ! राजा वेद-वेदाङ्ग का ज्ञाता, विद्वान्, तपस्वी, दान-परायण और यज्ञशील होना चाहिए ॥३१॥

एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः ।
व्यवहारलोपे नृपतेः कुतः स्वर्गः कुतो यशः ॥३२॥

ये सारे गुण राजा में होने चाहिए—इसीसे राजा की ठीक २ स्थिति रह सकती है। यदि राजा किसी व्यवहार (मुकदमें) का ठीक न्याय नहीं करेगा-तो फिर उसे स्वर्ग और यश की प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥३२॥

यदा तु पीडितो राजा भवेद्राज्ञा बलीयसा ।
तदाऽभिसंश्रयेद्दुर्गं बुद्धिमान्पृथिवीपतिः ॥३३॥

विधावाक्रम्य मित्राणि विधानमुपकल्पयेत् ।
सामभेदान्विरोधार्थं विधानमुपकल्पयेत् ॥३४॥

जब किसी राजा को बलवान् शत्रु पीड़ित करे, तब बुद्धिमान राजा को दुर्ग का आश्रय लेना चाहिए। इस समय मित्रों के पास पहुचकर उनसे सन्धि कर लेवे। इसमें साम दान, भेद या दण्ड किसी भी उपाय से अपने बचने का मार्ग निकाल लेना चाहिए।

घोषान्न्यसेत मार्गेषु ग्रामानुत्थापयेदपि ।
प्रवेशयेच्च तान्सर्वान् शाखानगरकेष्वपि ॥२५॥

इस समय छोटे २ ग्रामों को मार्ग के नज़दीक बसा देवे और गांवों को उठाकर उन सबको शाखा नगरों में जा बसावे ॥२५॥

ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत् ।
धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥२६॥

जो सुगुप्त स्थानों में दुर्ग बने हुए हैं, उनमें अपने देश के मनुष्यों को बसा देवे। धनवानों और बलवानों को बार २ समझा कर ऐसे स्थानों में जाने का अनुरोध करे ॥२६॥

सस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः ।
असंभवे प्रवेशस्य दहेद्वाचाग्निना भृशम् ॥२७॥

राजा स्वयं खड़ा होकर उन लोगों के काटने के लिए झाड़ झंखड़ कटवा देवे। यदि काटना असम्भव हो, तो उसमें अच्छी तरह आग लगवा देवे ॥२७॥

क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान् ।
विनाशयेद्वा तत्सर्वं बलेनाथ स्वकेन वा ॥२८॥

शत्रु के प्रदेश में जो अनाज खेतों में खड़ा हो, शत्रु के पुरुषों को अपनी ओर मिला कर उनको जलवा डाले। यदि उनसे ऐसा न करवा सकें तो अपनी सेना से ही सारे अनाज का नाश करवा देवे ॥२८॥

नदीमार्गेषु च तथा संक्रमानवसादयेत् ।
जलं विस्रावयेत्सर्वमविस्राव्यं च दूषयेत् ॥३९॥

शत्रु के प्रदेश में जो नदियों के मार्ग में पुल बने हैं, उनको तुड़वा देवे। जिन जलाशयों का जल खाली हो सकता है उनको खाली कर देवे, और जिनका खाली न हो सके उसको विष आदि के द्वारा दूषित कर देवे ॥३९॥

तदात्वेनायतीभिश्च निवसेद्भूम्यनन्तरम् ।
प्रतीघातं परस्याजौ मित्रकार्येऽप्युपस्थिते ॥४०॥

शत्रु के आक्रमण के समय या पीछे, तक राजा प्रधानभूमि में निवास करे। वह भूमि ऐसी होनी चाहिए, जहां से रण में शत्रु का नाश हो सके। यह सब कुछ अपनी बचत को शीघ्रता से करनी चाहिए; चाहे मित्र का कितना ही आवश्यक काम उपस्थित क्यों न हो ॥४०॥

दुर्गाणां चाभितो राजा मूलच्छेदं प्रकारयेत् ।
सर्वेषां क्षुद्रवृक्षाणां चैत्यवृक्षान्विवर्जयेत् ॥४१॥

अपने दुर्ग के इधर उधर के वृक्षों का राजा मूलोच्छेद करवा देवे। यह सब कुछ उच्छेद उन क्षुद्र वृक्षों का करवाना है। चैत्य (मन्दिर) के बगीचे के वृक्षों को छोड़ देवे ॥४१॥

प्रवृद्धानां च वृक्षाणां शाखां प्रच्छेदयेत्तथा ।
चैत्यानां सर्वथा त्याज्यमपि पत्रस्य पातनम् ॥४२॥

यदि चैत्य वृक्षों की शाखा दुर्ग तक पहुंचती हो-तो उन बढ़े हुए वृक्षों की शाखा कटवा देनी उचित है। इसके सिवा चैत्य वृक्षों का एक पत्ता भी न काटे ॥४२॥

प्रगण्डीः कारयेत्सम्यगाकाशजननीस्तदा ।
आपूरयेच्च परिखां स्थाणुनक्रझषाकुलाम् ॥४३॥

नगर के बाहर के प्राकार में जो खड़े होकर दूर तक के लोगों का आना जाना देखा जावे, उन प्रगण्डियों को अच्छी तरह बनवावे। उस पर शूरवीरों का स्थान आकाश जननी कहाता है। ये भी अच्छी तरह बने हों। खाई को शूल, मकर, बड़े २ मत्स्यों से व्याप्त कर देवे ॥४३॥

सङ्कटद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थं पुरस्य च ।
तेषां च द्वारवद्गुप्तिः कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥४४॥

नगर के छोटे २ द्वार, नगर के बचाने को होते हैं। उनकी भी बड़े द्वार के समान रक्षा करनी चाहिए; इससे सामर्थ्य की वृद्धि होती है ।'४४॥

द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत्सदा ।
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥४५॥

द्वारों के ऊपर गोले फैंकने के भारी २ यन्त्र होने चाहिए शतघ्नी (तोपें) भी रखी जानी उचित है। इन सब पर अपना अच्छी तरह अधिकार रखे ॥४५॥

काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत् ।
संशोधयेत्तथा कूपान्कृतपूर्वान्पयोर्थिभिः ॥४६॥

काष्ठ तृण आदि का संग्रह करे और कूपों को खुदवाए रखे। जो कुए पहले से बने हुए हैं, उनको छटवा कर साफ करवा देवे, जिससे पानी के अभिलाषी शुद्ध जल प्राप्त कर सकें ॥४६॥

तृणच्छन्नानि वेश्मानि पङ्केनाथ प्रलेपयेत् ।
निर्हरेच्च तृणं मासि चैत्रे वह्निभयात्तथा ॥४७॥

घास फूस से भरे हुए मकानों को कीचड़ से लीपकर गुप्त कर देवे। चैत के महीने में तृणों को अरक्षित स्थान से उठवा देवे, क्योंकि चैत के बाद आग लगने का बड़ा भय खड़ा हो जाता है ॥

नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः ।
न दिवा ज्वालयेदग्निं वर्जयित्वाऽग्निहोत्रिकम् ॥४८॥
कर्मारारिष्टशालासु ज्वलेदग्निः सुरक्षितः ।
गृहाणि च प्रवेश्यान्तर्विधेयः स्याद्धुताशनः ॥४९॥

इस परिस्थिति में राजा रात में भोजन बनाने की आज्ञा देवे। अग्निहोत्र के सिवा किसी भी अग्नि के जलाने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। लोहार या सूतिकागृह (जच्चा खाने) में आग बड़ी सुरक्षा के साथ जलाई जावे। आग को घर के भीतर घुसकर बड़ी सावधानी से जलानी उचित है। ४८-४९॥

महादण्डश्च तस्य स्याद्यस्याग्निर्वै दिवा भवेत् ।
प्रघोषयेदथवं च रक्षणार्थं पुरस्य च ॥५०॥

जो दिन में आग जलावे—उसको महान् दण्ड देना चाहिए। राजा अपने पुर की रक्षा के निमित्त इस तरह की अच्छी तरह घोषणा करवा दे ॥५०॥

भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्लीबोन्मत्तान्कुशीलवान् ।
बाह्यान्कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा ॥५१॥

हे नरश्रेष्ठ ! भिक्षुक, गाड़ी वाले, डरपोक, उन्मत्त, किसान, इन सब को गांव से बाहर कर देवे, क्योंकि इनको शत्रु तोड़ फोड़ लेता है। यदि इन पर दृष्टि नहीं रखी गई तो बुराई खड़ी होने का भय है ॥५१॥

चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च ।
यथार्थवर्णं प्रणिधिं कुर्यात्सर्वस्य पार्थिवः ॥५२॥

चत्वर (चौगहे, गली आदि अठारह तीर्थ, सभा स्थान तथा अन्य प्रसिद्ध चौपाल आदि स्थानों में वर्ण के अनुसार सर्वत्र राजा रक्षक नियुक्त कर देवे ॥५२॥

विशालान् राजमार्गांश्च कारयीत नराधिपः ।
प्रपाश्च विपणांश्चैव यथोद्देशं समाविशेत् ॥५३॥

राजा को चाहिए, कि वह राजमार्गों (सड़कों) को चौड़ा करवा देवे। पानी के स्थान और वस्तु बिकने के बाजारों को इस समय उचित स्थानों पर करवा देवे ॥५३॥

भाण्डागारायुधागारान्योधागारांश्च सर्वशः ।
अश्वागारान्गजागारान्बलाधिकरणानि च ॥५४॥

परिखाश्चैव कौरव्य प्रतोलीर्निष्कुटानि च ।
न जात्वन्यः प्रपश्येत गुह्यमेतद्युधिष्ठिर ॥५५॥

हे धर्मराज ! युधिष्ठिर ! भाण्डागार, शस्त्रागार, योधागार, घुड़शाल, गंजशाला, सेना का स्थान, परिखा (खाई) प्रतोली, (गली) घर के बगीचे, इनको बड़े ही गुप्त रखे। शत्रु इन को कभी न देख सके ॥५४-५५॥

अर्थसंनिचयं कुर्याद्राजा परबलार्दितः ।
तैलं वसा मधु घृतमौपधानि च सर्वशः ॥५६॥

यदि राजा को शत्रु सेना ने दबा सा लिया है, तो धन का संग्रह करे। तेल, वसा, (चर्वी) मधु, घृत और औषध इनका भी पर्याप्त संख्या में संग्रह करे ॥५६॥

अङ्गारकुशमुञ्जानां पलाशशरवर्णिनाम् ।
यवसेन्धनदिग्धानां कारयीत च सञ्चयान् ॥५७॥

अङ्गार, कुशा, मूंज, पलाश, शर लेखक, घास, इन्धन, विष बुझे हुए बाण आदि का भी अधिकता से संग्रह रखे ॥५७॥

आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम् ।
संचयानेवमादीनां कारयीत नराधिपः ॥५८॥

शक्ति, ऋष्टि, प्रास और कवच अनेक प्रकार के आयुध (शस्त्रास्त्र) आदि का राजा अच्छी तरह से संग्रह करे ॥५८॥

औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च ।
चतुर्विधांश्च वैद्यान्वै संगृह्णीयाद्विशेषतः ॥५९॥

सब प्रकार की औषधियां, मूल, फल, काय, शल्य आदि चार प्रकार की चिकित्सा करने में निपुण वैद्य को विशेष रीति से राजा अपने पास रखे ॥५९॥

नटांश्च नर्तकांश्चैव मल्लान्मायाविनस्तथा ।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥६०॥

नट, नर्तक, मल्ल और मायावी (जादूगर) पुरुषों से नगर को सुशोभित रखे और इनके द्वारा नगर निवासी जनों को आनन्दित करता रहे ॥६०॥

यतः शङ्का भवेच्चापि भृत्यतोऽथापि मन्त्रितः ।
पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान्कारयीत तान् ॥६१॥

जिस किसी भी भृत्य, मन्त्री, पुरवासी या सामन्त राजा पर शत्रु से मिल जाने की शङ्का हो, उसे राजा फौरन ही अपने वश में कर लेवे ॥६१॥

कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद्धनसंचयैः ।
दानेन च यथार्हेण सांत्वेन विविधेन च ॥६२॥

हे राजेन्द्र ! जो मनुष्य जैसे काम को पूरा कर देवे—उसको बहुत धन देकर यथायोग्य आदर के साथ सन्तुष्ट करे और उस को बहुत से सान्त्वना के वचनों से सन्तुष्ट करे ॥६२॥

निर्वेदयित्वा तु परं हत्वा वा कुरुनन्दन ।
ततोऽनृणो भवेद्राजा यथा शास्त्रे निदर्शितम् ॥६३॥

हे कुरुनन्दन ! इस तरह राजा शत्रु को तंग करके थका देवे या उसे मार लेवे । शास्त्रों का सिद्धान्त है, कि ऐसा करने वाला राजा ही अपने कर्तव्य से उऋण हो जाता है ॥६३॥

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे ।
आत्माऽमात्याश्च कोशाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥६५॥

राजा को इन सात बातों की रक्षा करनी चाहिए-जिनको तुम मुझसे सुनो । अपनी आत्मा, अमात्य, कोश, सेना, मित्र, देश और सातवां पुर-इन सात वस्तुओं को ही राज्य कहते हैं । इनकी ही प्रयत्न से रक्षा होनी चाहिए ॥६४-६५॥

षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथा ।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुंक्ते पृथिवीमिमाम् ॥६६॥

हे पुरुषव्याघ्र ! सन्धि आदि छः गुण, क्षय आदि तीन वर्ग, धर्म आदि परम त्रिवर्ग—इनको जो राजा अच्छी तरह जान लेता है, वही इस सारी पृथिवी को भोगता है ॥६६॥

षाड्गुण्यमिति यत्प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ।
सन्धानासनमित्येव यात्रासन्धानमेव च ॥६७॥
विगृह्यासनमित्येव यात्रां संपरिगृह्य च ।
द्वैधीभावस्तथाऽन्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥६८॥

हे युधिष्ठिर ! जिनको षाड्गुण्य कहते हैं-उसको तुम मुझ से सुनो । शत्रु से सन्धि करके चुप बैठ जाना, चढ़ाई करना, वैर करके चुप बैठना, चढ़ाई करके बीच में रुक जाना, शत्रु और मित्र दोनों से सन्धि करना, किसी अन्य दुर्ग या महाराज का आश्रय लेना-ये षाड्गुण्य कहाते हैं ॥६७-६८॥

त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु ।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा ॥६९॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः ।
धर्मेण च महीपालश्चिरम्पालयते महीम् ॥७०॥

त्रिवर्ग किसे कहते हैं, इस विषय में ध्यान से सुनो । क्षय, स्थान और वृद्धि—यह त्रिवर्ग कहाता है । धर्म, अर्थ और काम-ये परम त्रिवर्ग हैं । राजा को इनका भी समयानुसार सेवन करना उचित है । जो धर्म-पूर्वक इनका सेवन करता है, वह चिरकाल तक पृथिवी का भोग करता है ॥७०॥

अस्मिन्नर्थे च श्लोकौ द्वौ गीतावङ्गिरसा स्वयम् ।
याद्वीपुत्र भद्रं ते तावपि श्रोतुमर्हसि ॥७१॥

इस विषय में अङ्गिरा मुनि ने दो श्लोक कहे हैं । हे कुन्ती-पुत्र ! तुम उनको भी ध्यान से सुनलो । तुम्हारा कल्याण हो ॥७१॥

कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक्सम्पाल्य मेदिनीम् ।
पालयित्वा तथा पौरान्परत्र सुखमेधते ॥७२॥

जो राजा सारे कामों को करके और धर्म-पूर्वक पृथिवी और प्रजा का पालन करके शरीर छोड़ता है, वह परलोक में बड़े सुख का भागी बनता है ॥७२॥

किं तस्य तपसा राज्ञः किञ्च तस्याध्वरैरपि ।
सुपालितप्रजो यः स्यात्सर्वधर्मविदेव सः ॥७३॥

जो राजा प्रजा का पालन नहीं करता, उसके तप करने से कोई लाभ नहीं है और न उसको यज्ञ-याग का कोई फल मिलता है। जिसने अपनी प्रजा की अच्छी तरह रक्षा कर दी है, वह सब धर्म का ज्ञाता माना जाता है ॥७३॥

युधिष्ठिर उवाच—दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि ।
कस्य किं कुर्वतः सिध्येत्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥७४॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! दण्डनीति और राजा-ये दोनों एक साथ किसको किस काम के करने पर सिद्धि के हेतु बनते हैं-यह हमको बताइए ॥७४॥

भीष्म उवाच—महाभाग्यं दण्डनीत्याः सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः
शृणु मे शंसतो राजन् यथावदिह भारत ॥७५॥

भीष्म कहने लगे—हे भरतवंशश्रेष्ठ ! राजन् ! दण्डनीति से जो महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, उसको मैं हेतु सहित सिद्ध शब्दों से बताता हूँ-तुम ध्यान से सुनो ॥७५॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥७६॥

दण्डनीति चारों वर्णों को अपने २ धर्म में प्रवृत्त रखती है। जब राजा दण्डनीति का उचित प्रयोग करता रहता है, तो सारे अधर्मों की निवृत्ति रहती है ॥७६॥

चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसङ्करे ।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥७७॥

जब चारों वर्ण अपने २ कर्म में स्थित रहते हैं, तो सबकी मर्यादा ठीक २ चलती रहती है। इस प्रकार दण्डनीति के कल्याण करने पर प्रजाओं को महान् अभयता प्राप्त होती है ॥७७॥

स्वाम्ये प्रयत्नं कुर्वन्ति त्रयो वर्णा यथाविधि।
तस्मादेव मनुष्याणां सुखं विद्धि समाहितम् ॥७८॥

इस प्रकार वर्णव्यवस्था के प्रचलित रहने पर तीनों वर्ण अपने अधिकार पर नियत रहते हैं और इस तरह करने पर ही तीनों वर्णों को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है ॥७८॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ॥७९॥

हे युधिष्ठिर! काल का कारण राजा है या राजा का काल कारण है, इस प्रकार का तुमको संशय नहीं होना चाहिए, क्योंकि राजा ही काल का कारण है, यह निश्चित मत है ॥७९॥

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक्कार्त्स्न्येन वर्तते।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥८०॥
ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥८१॥

जब राजा भली प्रकार सब तरह उचित रीति पर दण्डनीति का प्रयोग करता है, तब कालानुसार कृतयुग प्रवृत्त होता है। उस कृतयुग में धर्म की प्रवृत्ति दिखाई देती है और अधर्म कहीं दिखाई नहीं देता। उस समय सारे ही वर्णों की अधर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती ॥८०-८१॥

योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः ।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ॥८२॥

इस दण्डनीति के उचित रीति से प्रचलित होने पर प्रजा का कल्याण होने लगता है—इसमें संदेह नहीं है। इस तरह सारे वर्णों में सारे वैदिक गुण उत्पन्न हो जाते हैं ॥८२॥

ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः ।
प्रसीदन्ति नराणां च स्वरवर्णमनांसि च ॥८३॥

सारी ऋतुएँ सुखमय हो जाती हैं और वे किसी को कुछ भी क्लेश जनक नहीं रहती। इस समय मनुष्यों के स्वर, वर्ण और मन स्वच्छ हो जाते हैं ॥८३॥

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः ।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥८४॥

किसी भी पुरुष के शरीर में कोई व्याधि नहीं रहती और न कोई पुरुष अल्पायु दिखाई देता है। कोई स्त्री विधवा नहीं होती और न कोई दरिद्री रह पाता है ॥८४॥

अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥८५॥

नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम् ।
इति कार्तयुगानेतान्धर्मान्विद्धि युधिष्ठिर ॥८६॥

कृषि बिना वर्षा के भी उत्पन्न होती है और ओषधियां भी उत्पन्न होती रहती है। इस समय त्वचा, पत्र, फल और मूल सारे

वीर्यशाली होते हैं। उस समय कहीं भी अधर्म शेष नहीं रह पाता; किन्तु सर्वत्र धर्म ही धर्म दिखाई देता है। हे युधिष्ठिर! उचित दण्डनीति से उत्पन्न कृत युग में इन उत्तम धर्मों की उत्पत्ति हो जाती है ॥८५-८६॥

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते ।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥८७॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥८८॥

जिस समय राजा दण्डनीति को तीन अंश में प्रवृत्त करवाता है और चतुर्थ भाग उसका पूर्ण नहीं होता—तो उस समय त्रेतायुग की प्रवृत्ति होती है। इस समय जो अशुभ भाग का चतुर्थांश है, वह तीन शुभ भागों पर आक्रमण करता है, इस कारण से पृथिवी पर अन्न और ओषधि कठिनता से पक पाती हैं ॥८७-८८॥

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते ॥८९॥

जब राजा नीति के अर्ध भाग को छोड़कर आधे भाग का पूर्ण निर्वाह कर पाता है, उस समय द्वापर युग की प्रवृत्ति होती है; ऐसा समझना चाहिए ॥८९॥

अशुभस्य यदा त्वर्धं द्वावंशावनुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्धफला तथा ॥९०॥

जब अशुभ का आधा भाग आधे शुभ भाग पर अधिकार कर लेता है, उस समय पृथिवी पर कृषि और औषधियां कठिनाई से आधे फल देने लगती हैं ॥६०॥

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः ॥६१॥

जब राजा उचित दण्डनीति का परित्याग करके उद्धतता से चल पड़ता है, उस अनुचित वर्ताव से प्रजा पीड़ित हो जाती है। इस तरह कलियुग की प्रवृत्ति समझो ॥६१॥

कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥६२॥

कलियुग में तो अधर्म विशेष और धर्म थोड़ा रह जाता है। उस समय सारे वर्णों का धर्म से मन पीछे हट जाता है ॥६२॥

शूद्रा भैक्षेण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्तते वर्णसङ्करः ॥६३॥
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥६४॥

इस कलियुग में शूद्र लोग संन्यास धारण करके भिक्षा पर निर्वाह करेंगे और ब्राह्मण सेवा वृत्ति करने लगेंगे। इस दशा में सारी प्रजा का कल्याण नष्ट होकर सब लोग वर्ण संकरता की ओर झुक जावेंगे। वैदिक, कर्म, कलाप का इस समय लोप हो जावेगा। किसी भी ऋतु में कोई सुख नहीं रहेगा और लोग रोगी होने लगेंगे ॥६३-६४॥

हरन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥९५॥
विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद्वर्षति पर्जन्यः क्वचित्सस्यं प्ररोहति ॥९६॥

मनुष्यों के स्वर, वर्ण और मन की कान्ति जाती रहेगी। सब के शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जावेगी और लोगों की आयु क्षीण होकर वे शीघ्र ही मरने लगेंगे। स्त्रियाँ विधवा होंगी और प्रजा निर्दयी हो जावेगी। कहीं२ पर मेघ बरसेगा और कहीं २ अन्न की उत्पत्ति होगी ॥९५-९६॥

रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग्दण्डनीति समाहितः ॥९७॥

इस प्रकार जब राजा दण्डनीति में असावधान होकर अच्छी तरह प्रजा की रक्षा नहीं करेगा, उस समय सारे रस क्षय को प्राप्त हो जावेंगे ॥९७॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥९८॥
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ॥९९॥
प्रवर्तनाद्द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥१००॥

राजा ही सत्युग, त्रेता,, द्वापर और कलियुग के रच देने में समर्थ होता है। जब राजा कृतयुग की प्रवृत्ति करता है, तब वह बहुत काल तक स्वर्ग का भोग करता है, परन्तु जो राजा एक भाग धर्मनीति का छोड़ कर प्रवृत्त होता है, वह अच्छी तरह स्वर्ग सुख को नहीं भोग पाता है। द्वापर युग की प्रवृत्ति करने से राजा को आधा स्वर्ग का सुख मिलता है, परन्तु कलियुग के प्रवृत्त करने से उसे अत्यन्त पाप की प्राप्ति होती है ॥९९-१००॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्तिं पापं च विन्दति॥१०१॥
दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन्क्षत्रियः सदा ।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत् ॥१०२॥

जब दुराचारी राजा कलियुग की प्रवृत्ति कर देता है,तो मृत्यु के अनन्तर उसे बहुत काल तक नरक भोगना पड़ता है। राजा प्रजा के अकल्याण में यदि प्रवृत्त होगया-तो उसे अकीर्ति और पाप की प्राप्ति होती है, इसलिए प्रजा की रक्षा करने वाला, राजा ज्ञानपूर्वक दण्डनीति का प्रयोग करे। जो राजा को प्राप्त नहीं हो सके उसे प्राप्त करने की चेष्टा करे और जो भूमि भाग प्राप्त हो गया, उस की वह धर्मपूर्वक रक्षा करता रहे ॥१०१-१०२॥

लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभाविनी ।
सम्यङ्नीता दण्डनीतिर्यथा माता यथा पिता ॥१०३॥

लोक की सीमा बाँधने वाली मर्यादा लोक में सुख उत्पन्न करती है। दण्डनीति का उचित प्रयोग माता पिता की तरह रक्षक होता है। ॥१०३

यस्यां भवन्ति भूतानि तद्विद्धि मनुजर्षभ।
एष एव परो धर्मो यद्राजा दण्डनीतिमान् ॥१०४॥

हे मनुजश्रेष्ठ! इस दण्डनीति के उचित प्रयोग से प्राणी सुख से रह कर बढ़ते हैं। ऐसी ही दण्डनीति उत्तम कहाती है। जो राजा उचित दण्डनीति का प्रयोग करना जानता है, वही धर्मात्मा राजा माना जाता है ॥१०४॥

तस्मात्कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान्।
एवं वृत्तः प्रजा रक्षन्स्वर्गं जेताऽसि दुर्जयम् ॥१०५॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६९॥

हे कौरव्य! युधिष्ठिर! तुम भी इसलिए नीति युक्त हो कर प्रजा की धर्म से पालना करो। इस तरह के सदाचार से युक्त हुआ प्रजा की रक्षा में तत्पर होकर तुम दुर्जय स्वर्ग की प्राप्ति कर सकोगे। ॥१०५॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में भीष्मोपदेश
का उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सत्तरवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्तमानो महीपतिः ।
सुखेनार्थान्सुखोदर्कानिह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥१॥

युधिष्ठिर बोले ! हे व्यवहार के जानने वाले, पितामह! भीष्म ! राजा किन आचरणों को करता हुआ सुखदायी कामों की सिद्धि इस लोक और परलोक में प्राप्त कर सकता है ॥१॥

भीष्म उवाच—अयं गुणानां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः ।
यान्गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन्गुणमवाप्नुयात् ॥२॥

भीष्म ने कहा—हे राजन् ! छत्तीस की संख्या से संयुक्त और छत्तीस गुणों से युक्त राजधर्म तुम को सुनाता हूँ। इन गुणों से युक्त राजधर्म का सेवन करते हुए तुम अत्यन्त सिद्धि को प्राप्त होगे ॥२॥

चरेद्धर्मानकटुको मुञ्चेत्स्नेहं न चास्तिकः ।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत्काममनुद्धत: ॥३॥

राजा को उचित है, कि वह रागद्वेष से हीन होकर धर्म का आचरण करे। आस्तिक रह कर प्रजा के स्नेह को कभी न छोड़े। किसी प्रकार की निष्ठुरता न करके अर्थों का सञ्चय करे और अनुद्धत भाव से काम का सेवन करे ॥३॥

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः ।
दाता नापात्रवर्षी स्यात्प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥४॥

राजा बड़ा उदार होवे, परन्तु वह कुपात्र को कभी दान न देवे। बोलने में बड़ा कुशल रहे, परन्तु कभी कठोर न बोले। प्रिय वचन कहे और कभी कृपणता के साथ न रहे। राजा जहाँ शूरवीर हों, वहाँ वह अपनी प्रशंसा कभी न करे ॥४॥

संदधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः।
नाभक्तं चारयेच्चारं कुर्यात्कार्यमपीडया ॥५॥

राजा कभी अनार्यों के साथ सन्धि न करे और न अपने बान्धवों के साथ विग्रह मचावे। जो गुप्तचर अपना भक्त न होवे, उसे किसी काम पर राजा नियुक्त न करे। राजा अपने कामों को बिना कष्ट माने पूरा करता चला जावे या किसी को बिना कष्ट पहुँचाये पूरा करे ॥५॥

अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु गुणान् ब्रूयान्न चात्मनः।
आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥६॥

राजा दुष्ट पुरुषों के सन्मुख सन्नीतिका वर्णन न करे और न अपने गुणों का वर्णन करे। साधु पुरुषों का धन कभी न छीने और दुष्ट पुरुष का कभी कोई राजा आश्रय ग्रहण न करे ॥६॥

नापरीक्ष्य नयेद्दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत्।
विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥७॥

किसी भी पुरुष को उत्तम रीति से अन्वेषण किए बिना दण्ड देना उचित नहीं है। कभी भी अपने गुप्तमंत्र को प्रकाशित न

होने देवे। लालची लोगों को ढ़ीला न छोड़े और अपकारक पुरुषों का कभी विश्वास न करे ॥७॥

अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः।
स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥८॥

राजा किसी से ईर्ष्या न करे और अपनी स्त्रियों को सुरक्षित रखकर उनमें सन्तान उत्पन्न करे। किसीसे भी उसे घृणा नहीं करनी चाहिए। अधिक स्त्रियों के भोगविलास में राजा को फँसना भी नहीं चाहिए। बड़ा शुद्ध और हितकारी भोजन करना उचित है ॥८॥

अस्तब्धः पूजयन्मान्यान्गुरुन्सेवेदमायया।
अर्चेद्देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥६॥

राजा अहङ्कार छोड़कर पूज्यों की पूजा करता रहे। उन पूज्य पुरुषों से कभी छल कपट का व्यवहार करना उचित नहीं है। राजा पाखण्ड को छोड़कर देवों की पूजा करे और अनिन्दित राज्य लक्ष्मी के प्राप्त करने की अभिलाषा रखे ॥६॥

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित्।
सान्त्वयेन्न च मोक्षाय अनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥१०॥

प्रजा के प्रेम को धारण करके उनकी सेवा करता रहे। सर्वदा कुशलता से चले और अकाल में कभी कोई कार्य न करे। किसी को निकालने को शान्ति की बात न करे और अनुग्रह करने को न फटकारे ॥१०॥

प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून्न शोचयेत् ।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥११॥

किसी भी शत्रु पर अचानक प्रहार न करे । शत्रुओं को मार कर शोक न करे । अचानक क्रोध करना राजा को उचित नहीं है और न अपकारी मनुष्यों पर कभी दयालु बनना चाहिए ॥११॥

एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि ।
अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥१२॥

हे राजन् ! यदि तुम कल्याण चाहते हो, तो राज्य पर ऐसा व्यवहार करके स्थित रहो । यदि इसके विरुद्ध कोई कार्य राजा करता है, तो बहुत भय को प्राप्त होता है ॥१२॥

इति सर्वान्गुणानेतान् यथोक्तान्योऽनुवर्तते ।
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥१३॥

जो राजा, इन पूर्वोक्त गुणों का यथोचित रीति से सेवन करता है-वह इस लोक में कल्याण प्राप्त करके मरने के अनन्तर स्वर्ग में जाता है ॥१३॥

वैशम्पायन उवाच—

इदं वचः शांतनवस्य शुश्रुवान्युधिष्ठिरः पाण्डवमुख्यसंवृतः
तदा ववन्दे च पितामहं नृपो यथोक्तमेतच्च चकार बुद्धिमान्

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! शान्तनु-पुत्र भीष्म के इन वचनों को सारे पाण्डवों से घिरे हुए राजा युधिष्ठिर ने अच्छी तरह श्रवण किया। उन बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह को प्रणाम किया और जिस तरह उन्होंने कहा था, वैसा ही करना आरम्भ किया ॥१४॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में भीष्म उपदेश का सत्तरहवां अध्याय समाप्त हुआ।

इकहत्तरवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते ।
धर्मे च नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे पितामह ! राजा प्रजा की रक्षा करता हुआ उसके पालन से उत्पन्न होने वाली मन की चिन्ताओं से कैसे मुक्त रह सकता है और किस प्रकार व्यवहार (मुकद्मे) निर्णय आदि में राजा से भूल नहीं हो सकती है-यह सब कुछ मुझे बताओ ॥१॥

भीष्म उवाच— समासेनैव ते राजन्धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्
विस्तरेणैव धर्माणां न जात्वन्तमवाप्नुयात् ॥२॥

भीष्म कहने लगे—हे राजन ! मैं तुम को सनातन राज धर्मों

का संक्षेप में वर्णन करता हूँ। यदि धर्मों का विस्तार के साथ वर्णन करना आरम्भ कर दूँगा-तो उनका कभी अन्त ही नहीं हो सकेगा ॥२॥

धर्मनिष्ठान् श्रुतवतो देवव्रतसमाहितान् ।
अर्चयित्वा यजेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान् ॥३॥

हे युधिष्ठिर ! धर्मात्मा, वेद शास्त्र के ज्ञाता, परमात्मा की भक्ति में तत्पर गृहागत गुणवान् ब्राह्मणों का पूजन करके तुम नित्य भजन (स्वकर्म) किया करो ॥३॥

प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च ।
अथ सर्वाणि कुर्वीथाः कार्याणि सपुरोहितः ॥४॥

जब ब्राह्मण अपने घर पर आवें-तो तुम झटपट खड़े हो जाओ और उनके चरणों का स्पर्श करो। इसके अनन्तर पुरोहित को साथ लेकर सारे राज्य कार्यों का सम्पादन करो ॥४॥

धर्मकार्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि प्रयुज्य च ।
ब्राह्मणान्वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥५॥

इस तरह धर्म कार्यों को पूरा करके मङ्गल कार्यों का आरम्भ करो। इसके अनन्तर ब्राह्मणोंसे मङ्गल सिद्धि के निमित्त विजयार्थ आशीष ग्रहण करो और तदर्थ स्वस्तिवाचनादि करवाओ।

आर्जवेन च संपन्नो धृत्या बुद्ध्या च भारत ।
यथार्थं प्रतिगृह्णीयात्कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥६॥

हे भारत ! इस प्रकार तुम बड़ी नम्रता से सम्पन्न होकर धैर्य और बुद्धि के साथ प्रजा के व्यवहारों का यथार्थ रूप में चिन्तन करो और उसमें काम तथा क्रोध की मात्रा बिल्कुल न आने दो ॥६॥

कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजाऽनुतिष्ठति ।
न स धर्मं न चाप्यर्थं प्रतिगृह्णाति बालिशः ॥७॥

जो मूर्ख राजा, राजकार्य में काम या क्रोध का अवलम्बन लेता है और उनके आश्रय से व्यवहारों का निर्णय करता है, उसको धर्म या राजनीति कुछ भी प्राप्त नहीं होता ॥७॥

मास्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामार्थे च प्रयूयुजः ।
अलुब्धान्बुद्धिसम्पन्नान्सर्वकर्मसु योजयेत् ॥८॥

हे राजन्! तुम कभी किसी कार्यमें मूर्ख और लोभी मनुष्यको नियत मत करो। जहां तक बने, सारे कामों में लालच-हीन बुद्धि-मानों को लगाओ ॥८॥

मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणामविशारदः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामक्रोधसमन्वितः ॥९॥

यदि किसी कार्य के अधिकार पर किसी मूर्ख को नियुक्त कर दिया जावेगा-वह कार्य करने में कुशल तो है नहीं; वह तो काम और क्रोध के वश में होकर कार्य का निर्णय करेगा, जिसके इस दुर्व्यवहार से प्रजा बहुत दुःखी हो जावेगी ॥९॥

बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥१०॥

राजा अन्न की उत्पत्ति के शुद्ध छठे भाग,अपराधियों के दण्ड तथा शास्त्रानुसार लगाए हुए कर से धन प्राप्ति करे । अन्य किसी अनुचित मार्ग का धन सञ्चय के निमित्त अवलम्बन न करे ॥१०॥

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि ।
तथैतं कल्पयेद्राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥११॥

इस प्रकार राजा कर को प्रजा से धर्मानुसार कोष में दिला कर फिर उसकी यथाविधि नीति के अनुसार रक्षा करता रहे। राजा निरालस होकर ऐसा व्यवहार करे, जिससे सारे राष्ट्र का कल्याण निराबाध चलता रहे ॥११॥

गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम् ।
अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥१२॥

जो राजा, प्रजा का रक्षक, दातार, धर्मात्मा, निरालस और रागद्वेष से रहित होता है, उसमें प्रजा स्वयं अनुरक्त हो जाती है।

मा स्म लोभेनाधर्मेण लिप्सेथास्त्वं धनागमम् ।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥१३॥

हे धर्मराज ! तुम लोभ और अधर्म से कभी धन के इकट्ठे करने की चिन्ता न करना। जो शास्त्र मर्यादा का परित्याग करके धन सञ्चय करना चाहता है, उसके धर्म और धन-दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥१३॥

अर्थशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति ।
अस्थाने चास्य तद्वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥१४॥

जो राजा धन बटोरने की चिन्ता में निमग्न होकर धर्म और नीति का ध्यान नहीं रखता,उस राजाका सारा धन अचानक समय से पूर्व ही नष्ट हो जाता है ॥१४॥

अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन्प्रजाः ॥१५॥

जो राजा प्रजा के धन छीनने की चिन्ता में निमग्न हो जाता है, वह स्वयं अपना ही घात करता है। यह धन के लालच के

मोह में उलझा हुआ शास्त्र रहित कर लगा कर प्रजा को पीड़ित करता रहता है ॥१५॥

ऊधश्छिद्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत्पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥१६॥

जिस तरह दुग्ध का अभिलाषी दुग्ध ग्रहण करने के निमित्त गाय के स्तनों को काट डाले-उसे जैसे दुग्ध नहीं मिल सकता है, उसी तरह जो राजा अयोग्य ढंग से प्रजा के धन का अपहरण करता है, उसे धन की प्राप्ति नहीं हो सकती है । राजा से पीड़ित राष्ट्र की कभी उन्नति नहीं हो सकती है ॥१६॥

यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥१७॥

जो दुग्ध देने वाली गाय की सेवा करके प्रक्रिया से उसका दूध दुहता है, उसको जैसे दुग्ध की प्राप्ति होती है, इसी तरह जो उपायों द्वारा राष्ट्र से धन ग्रहण करता है, उसे ही भोग और धन की प्राप्ति हो सकती है ॥१७॥

अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम् ।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥१८॥

हे युधिष्ठिर ! जो राजा उपाय द्वारा राज्य को भोगता है और उसकी रक्षा करता रहता है, वही अपने कोश की अतुल वृद्धि कर पाता है ॥१८॥

दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥१९॥

जब राजा पृथिवी की अच्छी तरह रक्षा करता है,तो वह धन, धान्य और सुवर्ण की इस तरह अपने और प्रजाओं के लिए उत्पत्ति करती रहती है, जैसे सन्तुष्ट हुई गर्भवती माता बच्चे और अपने लिए पुष्टि प्राप्त करती है ॥१६॥

मालाकारोपमो राजन्भव माऽङ्गारिकोपमः ।
तथायुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्यसि पालयन् ॥२०॥

हे राजन् ! तुम मालाकार(माली)की भांति बनो, आग लगाने वाले की तरह नहीं । जिस तरह माली वृक्षों की रक्षा करके चिर-काल तक उनका उपयोग करता है, उसी तरह तुम भी बहुत काल तक राज्य भोगने में समर्थ हो सकोगे ॥२०॥

परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः ।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥२१॥

हे राजन् ! यदि शत्रु के देश पर चढ़ाई करने से तुम्हारा बहुत सा धन व्यय में आ चुका हो, तो तुम प्रजा को समझाकर ब्राह्मणों को छोड़कर व्यापारी आदि पर कर लगा कर धन का संग्रह कर सकते हो ॥२१॥

मा स्म ते ब्राह्मणं दृष्ट्वा धनस्थं प्रचलेन्मनः ।
अन्त्यायामप्यवस्थायां किमु स्फीतस्य भारत ॥२२॥

हे भारत ! यदि तुम्हारे प्राण कण्ठगत भी आ गए हों और तुम संकट में फंस गए हो, तो भी धनसंयुक्त ब्राह्मणों को देखकर उन पर लालच की दृष्टि न डालो और जब तुम सुख-समृद्धि में हो, तब तो उनकी ओर आँख उठाकर भी न देखो ॥२२॥

धनानि तेभ्यो दद्यास्त्वं यथाशक्ति यथार्हतः ।
सान्त्वयन्परिरक्षंश्च स्वर्गमाप्स्यसि दुर्जयम् ॥२३॥

हे राजन् ! जो ब्राह्मण जितना पूज्य हो, उसको जहाँ तक हो सके—धन प्रदान करो। यदि तुम ब्राह्मणों को सन्तुष्ट और उनका पालन पोषण करते रहोगे, तो इस तरह बड़े दुर्लभ स्वर्ग को प्राप्त करने में समर्थ हो सकोगे ॥२३॥

एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालय ।
स्वं तं पुण्यं यशो नित्यं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥२४॥

हे कुरुनन्दन ! इस प्रकार के धर्म व्यवहार से यदि तुम प्रजा पालन करते रहोगे, तो धन, पुण्य और यश को नित्य प्राप्त करोगे- इसमें सन्देह नहीं है ॥२४॥

धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय पाण्डव ।
युधिष्ठिर यथायुक्तो नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥२५॥

हे पाण्डुपुत्र! युधिष्ठिर ! अब तो तुम धर्म व्यवहारके अनुसार प्रजा का पालन करते रहो। इस प्रकार करने से तुम्हारे चित्त में कोई चिन्ता उत्पन्न न होगी ॥२५॥

एष एव परो धर्मो यद्राजा रक्षति प्रजाः।
भूतानां हि यदा धर्मो रक्षणं परमा दया ॥२६॥

जो राजा प्रजा की रक्षा करता है, यही उसका परम धर्म है। जिस तरह प्राणियों की रक्षा करना ही मनुष्य का धर्म है और उत्तम दया कहाती है।॥२६॥

तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः ।
योराजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥२७॥

इस कारण से धर्म के जानने वाले विद्वान् इस बात को परम धर्म जानते हैं, जो राजा प्राणियों पर दया करके उनकी रक्षा में नित्य उद्यत रहता है ॥२७॥

यदह्ना कुरुते पापमरक्षन्भयतः प्रजाः ।
राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥२८॥

जो राजा, किसी भय से प्रजा की रक्षा न करता हुआ एक दिन में पाप इकट्ठा करता है, उस का भोग सहस्रों वर्षों तक भोगने पर भी बड़ी कठिनाई से पूरा होता है ॥२८॥

यदह्ना कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
दशवर्षसहस्राणि तस्य भुंक्ते फलं दिवि ॥२९॥

जो राजा धर्म-पूर्वक प्रजा के पालन करने से एक दिन में धर्म का सञ्चय करता है अर्थात् प्रजा पालन से जो एक दिन में धर्म की प्राप्ति होती है, उसका फल राजा स्वर्ग में दश हजार वर्ष तक भोगता रहता है ॥२९॥

स्विष्टिः स्वधीतिः सुतपा लोकान् जयति यावतः ।
क्षणेन तानवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥३०॥

उत्तम प्रकार से यज्ञ करने वाला, अच्छी तरह वेद पढ़ने वाला और उत्तम तपस्वी मनुष्य, जिन उत्तम लोकों की प्राप्ति करता है, उन लोको को धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करने वाला राजा क्षण भर में प्राप्त कर लेता है ॥३०॥

एवं धर्मं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालय ।
ततः पुण्यफलं लब्ध्वा नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥३१॥

हे कौन्तेय ! इस तरह समझ कर तुम धर्म के साथ प्रयत्न-पूर्वक प्रजा की रक्षा करो । इससे तुमको बड़े पुण्य की प्राप्ति होगी और तुम कभी मन की चिन्ता से संयुक्त न होंगे ॥२१॥

स्वर्गलोके सुमहतीं श्रियं प्राप्स्यसि पाण्डव ।
असंभवश्च धर्माणामीदृशानामराजसु ॥२२॥
तस्माद्राजैव नान्योऽस्ति यो धर्मफलमाप्नुयात् ।

हे पाण्डव ! धर्म-पूर्वक प्रजा के पालन करने से तुम्हें स्वर्ग-लोक में बड़े ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी । विना राजा बने इस प्रकार सीधी तरह उन उत्तम धर्मों की प्राप्ति नहीं हो सकती है। राजा के सिवा अन्य कोई व्यक्ति नहीं है, जो ऐसे धर्म फलों को प्राप्त कर सके। ॥२२॥

स राज्यं धृतिमान्प्राप्य धर्मेण परिपालय ।
इन्द्रं तर्पय सोमेन कामैश्च सुहृदो जनान् ॥२३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः

हे धर्मराज ! अब तुम धैर्य का अवलम्बन करके धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करो तथा यज्ञों द्वारा इन्द्र और कामनाओं की पूर्ति द्वारा अपने सुहृज्जनों की सन्तुष्टि करते रहो ॥२३॥

इति श्रीमहाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्व में
इकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ



महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनव्यासप्रणीत

महाभारत

सोलहवां भाग



अनुवादक—
श्री पं० गङ्गाप्रसादजी शास्त्री



प्रकाशक—
महाभारत कार्यालय
मालीवाड़ा, गली लंगड़े वाली
दिल्ली।

प्रथमवार } सर्वाधिकार सुरक्षित १९९८ विक्रमी { मूल्य २॥)